शोध-प्रविधि

डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा



- प्रस्तुत पुस्तक में शोध-प्रविधि या शोध-शास्त्र को क्रमबद्ध, युक्तिसंगत, सुग्राह्य एवं सम्प्रेषणीय रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।
- इस पुस्तक में शोध-क्रिया को कतिपय जड़, आरोपित शोध-रूढ़ियों से मुक्ति दिलाने का तो प्रयास किया ही गया है, साथ ही कुछ नयी दृष्टियों और मौलिक मान्यताओं का भी यथास्थान समावेश किया गया है।
- शोध-मर्यादा के अनुरूप प्रतिपाद्य विषय को वस्तुनिष्ठ एवं तर्कसम्मत रूप में निरूपित करने का भरसक प्रयत्न किया गया है।
- शास्त्रीय विवेचन के अनुरूप प्रतिपादन की भाषा को संयत, परिनिष्ठित एवं प्रांजल बनाये रखने का पूरा ध्यान रखा गया है।
- प्रस्तुत पुस्तक की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें शोध के सैद्धान्तिक आयामों को शोध के व्यावहारिक सन्दर्भों के माध्यम से समझाने का प्रयास किया गया है, जिससे अमूर्त सिद्धान्त व्यवहार के माध्यम से साकार रूप में सुग्राह्य हो सकें।
- प्रस्तुत पुस्तक एम.फिल., एम.लिट. आदि कक्षाओं के छात्रों तथा विविध उपाधियों के लिए अनुसन्धानरत शोध-छात्रों के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगी।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विक्की शर्मा
15/03/2012

विश्वविद्यालय प्रकाशन
विशालाक्षी भवन, चौक, पो० बॉ० 1149
वाराणसी -221 001 (उत्तर प्रदेश)
फोन व फैक्स : (0542) 2413741, 2413082
E-Mail : sales@vvpbooks.com
Website : www.vvpbooks.com

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शोध-प्रविधि

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शोध-प्रविधि

(शोध-शास्त्र का सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक विवेचन)

लेखक

डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा

एम.ए., पीएच.डी. (संस्कृत)

एम.ए., पीएच.डी., डी.लिट्. (हिन्दी) विद्यावाचस्पति (मानद)

सेवा-निवृत्त प्रोफ़ेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी तथा ललित कला विभाग,

डीन, भाषा-संकाय, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक।

हरियाणा साहित्य अकादमी के शिखर-सम्मान 'सूर पुरस्कार' से पुरस्कृत।



हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

द्वितीय संस्करण

शोध-प्रविधि पुस्तक की लोकप्रियता को देखते हुए इसका द्वितीय संस्करण प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता है। आशा है, पाठक पूर्व की भांति इस संस्करण का भी स्वागत करेंगे।

मुक्ता

(डॉ. मुक्ता)
निदेशक
हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भूमिका

मानव-जाति सृष्टि के प्रारम्भ से ही शोधशील रही है। यह शोधशीलता की मूल प्रवृत्ति ही विविध ज्ञान-विज्ञानों और उनसे प्रसूत प्रगति का स्रोत है। जिस प्रकार व्यवहार से ही सिद्धान्त का विकास होता है, उसी प्रकार क्रिया से क्रिया-विधि या तकनीक का उदय होता है। शोध-प्रविधि तथा शोध-सिद्धान्त का विकास भी शोध-व्यवहार की अखण्ड परम्परा से ही सम्भव हुआ है। अतः शोध-प्रविधि कोई बाह्य विधान या आरोपित अनुशासन नहीं है। शोधक की चेतना और चिन्तन से सम्पृक्त होकर यह वाह्य विधान प्रतीत होने वाली शोध-प्रविधि शोध का अन्तर्वर्ती घटक बन जाती है। शोध-प्रविधि सुदीर्घ शोध-अनुभव के आधार पर स्वयं शोधकों द्वारा विकसित वह सर्वमान्य सैद्धान्तिक साँचा है, जो भावी शोधकों के शोध-कार्यों को नियमित एवं निर्धारित करके निहित शोध-सम्भावनाओं को उत्तम रूप में उजागर करने का मार्ग प्रशस्त करता है। शोध-कार्य को शासित या अनुशासित करने के कारण शोध-प्रविधि ही शोध-शास्त्र है, जो शोध का सैद्धान्तिक स्वरूप प्रस्तुत करके शोध के व्यावहारिक पक्ष को दिशा और दृष्टि प्रदान करता है। इस प्रकार शोधशास्त्र शोध के सिद्धान्त-पक्ष के माध्यम से शोध के व्यावहारिक पक्ष को अनुशासित करने वाला शास्त्र है। शोध-प्रतिभा से हीन, तथाकथित शोधक को यह शोध-शास्त्र भले ही आरोपित प्रतीत हो, किन्तु अपेक्षित प्रतिभा से उद्भासित शोधक तो इसे आत्मसात् करके अपने शोध-प्रबन्ध की प्रबन्धात्मकता या विवेचनगत वैचारिक अन्विति में अभीष्ट उत्कर्ष अधिगत कर सकता है।

शोध-प्रविधि में तकनीकों के मानकीकरण की प्रेरणा निहित रहती है। एक सीमा तक यह मानकीकरण आवश्यक भी है। इससे शोध-प्रविधि का एक सर्वस्वीकार्य आदर्श स्थापित होता है। फिर भी शोध-प्रविधि को एक जड़, यान्त्रिक साँचा मानना उपयुक्त न होगा। शोध की भाँति शोध-प्रविधि भी निरन्तर विकासोन्मुख है। विषय की प्रकृति की भिन्नता के कारण शोध-प्रविधि का जैसा मानकीकरण विज्ञान में सम्भव है, वैसा समाजविज्ञानों में सम्भव नहीं है तथा जैसा समाजविज्ञानों में सम्भव है, वैसा साहित्य, कला आदि में सम्भव नहीं है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विषयानुक्रम

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

क्र. विषय पृष्ठ संख्या

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

क्र.	विषय	पृष्ठ संख्या

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अध्याय - 1

शोध : अर्थ, परिभाषा और स्वरूप

जगत् गतिशील है। जगत् की गतियाँ दो प्रकार की हैं - भौतिक और भौतिकेतर अथवा मानवीय गतियाँ। भौतिक जगत् की गतिविधियों के बौद्धिक अध्ययन से विज्ञान का उदय होता है। मानवीय बुद्धि का प्रयोग किये जाने पर भी विज्ञान में प्रधानता पदार्थ या भौतिकता की ही रहती है। जीवन और जगत् से सम्बन्धित मानवीय गतियों के बौद्धिक या तर्कसम्मत अध्ययन से दर्शन और अध्ययन के रूप में पराभौतिक (मैटाफिज़िकल) ज्ञान का विकास होता है। पराभौतिक या दार्शनिक ज्ञान द्रष्टा के दृष्टि-बिन्दु पर आश्रित होता है। द्रष्टा की दृष्टि पर आश्रित होने के कारण यह दर्शन कहलाता है। वैज्ञानिक और दार्शनिक चिन्तन मन की एक ही क्षमता बौद्धिकता पर आधारित है। विज्ञान में बुद्धि भौतिक दृष्टि से भौतिक जगत् के स्वरूप का अध्ययन करती है, तो दर्शन में बुद्धि अनुभव से प्रसूत किसी निश्चित दृष्टि-बिन्दु से जीवन और जगत् की व्याख्या करती है। उदाहरण के लिए अर्थ को दृष्टि-बिन्दु मानकर मानव-व्यवहार का अध्ययन करने से मार्क्सवाद का विकास हुआ और काम को दृष्टि-पथ में रखकर चलने से फ्रायडवाद का विकास हुआ। प्रचीनकाल में आत्मा को दृष्टि-बिन्दु मानकर अग्रसर होने से वेदान्त का उदय हुआ। उपर्युक्त दो पद्धतियों के अतिरिक्त जीवन और जगत् के अनुशीलन की एक तीसरी पद्धति भी है, जिसमें मन की केवल बौद्धिक क्षमता का ही प्रयोग नहीं किया जाता, वरन् बुद्धि के साथ ही भावना और कल्पना का भी संयुक्त रूप से उपयोग किया जाता है। इसे हम अनुभूतिपरक दृष्टि कह सकते हैं, जिसमें बुद्धि, भावना और कल्पना का संश्लिष्ट या संयुक्त रूप से उपयोग होता है। साहित्य और कला के विविध रूप इसी संश्लिष्ट अनुभूतिपरक दृष्टि से जन्म लेते हैं। अनुभूतिपरक दृष्टि को हम साहित्यिक, कलात्मक,

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सौन्दर्यमूलक (aesthetic), भावात्मक (emotional) दृष्टि भी कह सकते हैं। इसमें न भौतिक तथ्य की प्रधानता होती है और न ही किसी नीरस, अमूर्त चिन्तन या सिद्धान्त की। अनुभूतिपरक साहित्यिक या कलात्मक दृष्टि साहित्यकार या कलाकार की निजी अनुभूति या मौलिक उद्‌भावना पर आश्रित रहती है। विज्ञान और ज्ञान का सारा क्षेत्र उपर्युक्त तीन दृष्टियों – वैज्ञानिक, दार्शनिक और साहित्यिक – के अन्तर्गत आ जाता है। समाजशास्त्र, इतिहास, मनोविज्ञान, राजनीतिशास्त्र आदि को कुछ लोग विज्ञान मानने पर बल देते हैं, किन्तु इनमें विज्ञानों के समाज निष्कर्षों की निश्चितता या तथ्यात्मकता नहीं है। वैचारिक दृष्टि या चिन्तन की प्रमुखता के कारण इन्हें शास्त्र या दर्शन के अन्तर्गत मानना ही अधिक युक्तिसंगत है।

ज्ञान-विज्ञान के ये सभी क्षेत्र शोध की परिधि में आते हैं। जानने की इच्छा या जिज्ञासा ही नित्य नये ज्ञान या विज्ञान से सम्बद्ध बोध के उदय का कारण बनती है। खोज, आविष्कार, नूतन विचार या चिन्तन, नयी उद्‌भावना, नया समीक्षण, अनुशीलन या मूल्यांकन इसी नैसर्गिक जिज्ञासा-वृत्ति की देन हैं। ज्ञान या विज्ञान की अज्ञात सामग्री को ज्ञात करना तथा ज्ञात सामग्री का शोधन, समालोचन, मूल्यांकन करना ही मोटे तौर पर शोध कहलाता है। शोधन, समालोचन और मूल्यांकन की एक सुनिश्चित पद्धति या प्रक्रिया पर आश्रित होने के कारण शोध सामान्य अध्ययन से भिन्न एक विशिष्ट अनुशीलन-पद्धति है।

ज्ञान या विज्ञान के क्षेत्र के अनुरूप उससे सम्बन्धित शोध की पद्धति में भी अन्तर आ जाता है। इसलिए वैज्ञानिक, दार्शनिक, समाजशास्त्रीय तथा साहित्यिक या कलात्मक विषयों में विषय की भिन्नता के अनुरूप भिन्न-भिन्न शोध-पद्धतियों का उपयोग किया जाता है। किन्तु इन सभी में शोध-कार्य की गम्भीरता, वैज्ञानिकता, वस्तुनिष्ठता, युक्तियुक्तता का निर्वाह करते हुए व्यवस्थित, क्रमबद्ध, विकसनशील, लक्ष्योन्मुख विवेचन-विश्लेषण पर बल रहता है। शोध से ज्ञान को गति मिलती है और ज्ञान से मानवीय सभ्यता और संस्कृति को। गीता में कहा गया है कि 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते', अर्थात् इस संसार में ज्ञान के समान अन्य कुछ भी पवित्र नहीं है। शोध में ज्ञान की साधना की व्यवस्थित पद्धति का भी प्रावधान है और ज्ञान की प्रामाणिकता, गम्भीरता और उच्चता का आदर्श भी निहित है।

1.1. शोध तथा उसके पर्याय : व्युत्पत्ति और अर्थ

यों तो भारत में प्राचीन काल से ही व्याकरण, काव्यशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि से सम्बन्धित शास्त्रीय ग्रन्थों के प्रणयन में प्रमाणों और तर्कों का आश्रय लेकर विषय के वस्तुनिष्ठ, प्रामाणिक विवेचन की पद्धति प्रचलित रही है, परन्तु तत्त्व-निरूपण की

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उस पद्धति को शोध नहीं कहा गया। वास्तव में 'शोध' शब्द का प्रयोग पाश्चात्त्य देशों में प्रयुक्त 'रिसर्च' शब्द के पर्याय के रूप में होता है। विषय के विश्लेषण-विवेचन की जिस वैज्ञानिक पद्धति को अपनाकर पाश्चात्त्य देशों के विश्वविद्यालयों में रिसर्च का कार्य होता था, उसी का अनुसरण करते हुए भारतीय विश्वविद्यालयों में भी शोध-कार्य का प्रारम्भ किया गया।

'रिसर्च' के अर्थ के द्योतक खोज, अन्वेषण, गवेषणा, अनुसन्धान आदि अनेक शब्द प्रचलित रहे हैं। मराठी भाषा में 'रिसर्च' के पर्याय के रूप में 'संशोधन' शब्द का व्यवहार होता है। 'खोज' शब्द में कुछ नया खोजने की प्रेरणा उतनी नहीं है, जितनी अज्ञान की परतों में लुप्त-गुप्त तथ्यों या तत्त्वों को ढूँढ़ निकालने की प्रवृत्ति निहित है। फिर 'खोज' शब्द सामान्य भाषा का है। इसमें पारिभाषिक स्तर तक उठने का दम नहीं है। इससे निर्मित 'खोजी', खोज-ग्रन्थ या खोज-प्रबन्ध शब्द हस्यास्पद प्रतीत होते हैं। 'अन्वेषण' शब्द 'इष्' धातु में 'अनु' उपसर्ग तथा ल्युट् प्रत्यय के योग से व्युत्पन्न होता है। 'अन्वेष' का अर्थ है 'खोजना' या 'आविष्कार करना'। अतः 'अन्वेषण' शब्द में नूतन वैज्ञानिक खोज या आविष्कार का आशय निहित होने के कारण इसकी अर्थवत्ता सीमित है। यह तत्त्व या सत्य के अनुसंधान के स्तर और अर्थोत्कर्ष को अधिगत नहीं कर सकता। इससे निर्मित अन्वेषक और अन्वेषण-प्रबन्ध शब्द भी अभीष्ट आशय की अभिव्यक्ति में असमर्थ हैं। 'गवेषणा' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है। प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार गवेषणा शब्द खोजने या चाहने के अर्थ में प्रयुक्त 'इष्' धातु से निर्मित है। गवेषणा की व्युत्पत्ति इस प्रकार है - गो+इष्+णिच्+युच्+टाप्। गवेषणा का वैदिककालीन अर्थ था गाय की इच्छा या खोज। कालान्तर में यह शब्द अपना विशिष्ट अर्थ (गाय की खोज) खोकर सामान्य अर्थ (खोज) में प्रयुक्त होने लगा। दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार गवेषणा शब्द 'गवेष्' धातु से निर्मित है, जिसका अर्थ है खोजना या कठोर परिश्रम करना। संस्कृत शब्दार्थ-कौस्तुभ कोश के अनुसार 'गवेषणा' की व्युत्पत्ति है गवेष्-णिच्-युच-टाप्। इस प्रकार 'गवेषणा' शब्द भी खोज की भाँति स्थूल और सतही अर्थ का बोधक है। इसमें गम्भीर मनन-चिन्तन और विश्लेषण की कोई प्रेरणा अनुस्यूत नहीं है। इससे निर्मित गवेषक और गवेषणा-प्रबन्ध भी अटपटे प्रतीत होते हैं।

'रिसर्च' के पर्याय के रूप में हिन्दी में 'अनुसन्धान' शब्द विशेष प्रचलित रहा है। सन् 1960 तक 'अनुसन्धान' शब्द 'शोध' की अपेक्षा अधिक व्यवहार में आता रहा। डॉ. नगेन्द्र ने 'अनुसन्धान' शब्द को 'रिसर्च' के लिए मानक रूप में ग्रहण करने की संस्तुति की थी - 'ऐसी स्थिति में इस प्रसंग में एक शब्द का व्यवहार स्थिर हो जाना चाहिए और मैं समझता हूं कि 'अनुसन्धान' शब्द को ही व्यापक रूप में

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पारिभाषिक रूप दे देना चाहिए।' यद्यपि आकार कुछ बड़ा होना इसके विपक्ष में है, तथापि भारी-भरकम, आकार और ध्वनियों की मनोरमता के कार यह शब्द 'रिसर्च' के दायित्व के गाम्भीर्य को पूरी प्रभाववत्ता के साथ सम्प्रेषित करने में सक्षम है। 'अनुसन्धान' शब्द 'धा' धातु में अनु और सम् उपसर्गों तथा ल्युट् प्रत्यय लगने से बनता है। 'धा' धातु का अर्थ है रखना, स्थिर करना, स्थापित करना आदि। ध्यान को निर्धारित विषय पर केन्द्रित या स्थिर करना या चिन्तनपूर्वक नयी स्थापना करना इसका निहितार्थ है। अनुसन्धान का कोशगत अर्थ है खोज, सूक्ष्म निरीक्षण, परीक्षण, जाँच। 'अनुसन्धान' शब्द के प्रचलन में बाधा उपस्थित करने वाले वे शब्द हैं, जो इससे निर्मित हैं। उदाहरण के लिए अनुसन्धान करने वाले छात्र के लिए बहुत दिनों तक 'अनुसन्धित्सु' शब्द को प्रचलित करने का प्रयास होता रहा, किन्तु उच्चारण की कठिनाई के कारण यह लोकप्रिय नहीं हो सका। इसी प्रकार 'थीसिस' के लिए अनुसन्धान से अनुसन्धान-ग्रन्थ या अनुसन्धान-प्रबन्ध बनाना भी अटपटा है। 'रिसर्च' के मूल आशय को व्यक्त करने की क्षमता से युक्त होने पर भी 'अनुसन्धान' शब्द कालान्तर में प्रचलन से हटता गया और अपना स्थान 'शोध' के लिए छोड़ता गया।

सम्प्रति 'रिसर्च' के पर्याय के रूप में सर्वाधिक प्रचलित एवं सर्वस्वीकृत शब्द है 'शोध'। शोध शब्द 'शुध्' धातु में घञ् प्रत्यय लगने से बनता है। शुध् धातु का अर्थ है सुधारना, शंकाओं का निराकरण करना, शुद्ध करना। इससे निर्मित संज्ञा 'शोधन' का अर्थ है शुद्ध या पवित्र करना, दुरुस्त करना, छानबीन, जाँच, अनुसन्धान। शोधन में सम् उपसर्ग के संयोग से संशोधन शब्द निर्मित होता है, जिसका कोशगत अर्थ है शुद्ध करना, सुधारना, संस्कार करना। स्पष्ट है कि शोध में शोधन और संशोधन के साथ अनुसन्धान के निहितार्थ भी भली प्रकार समाहित हैं। शोध शब्द संस्कार-परिष्कार के आशय के साथ खोजने, मनन-चिन्तन करने, जाँचने-परखने के अभिप्राय को भी अपने लघु कलेवर में समेटे हुए है। हिन्दी में 'शोध' शब्द स्थूल खोजने की क्रिया से लेकर सूक्ष्म चिन्तन-मनन और परीक्षण की क्रियाओं तक के आशयों को समाहित किये हुए है। गोस्वामी तलसीदास ने खोजने की स्थूल क्रिया के लिए शोध के तद्भव रूप 'सोध' का प्रयोग करते हुए लिखा है - 'सीय सोध कपि भालु सब, बिदा किये रघुनाथ।' गोस्वामी जी ने इसे खोज के संज्ञा-रूप में प्रयुक्त करते हुए लिखा है - 'अब लगि नहिं' सिय सोधु लह्यो है।' उन्होंने सूक्ष्म चिन्तन-मनन, मन्थन आदि के अर्थ में भी इस शब्द का व्यवहार किया है। 'तात धरम मत तुम सब सोधा' में शोधन का यही सूक्ष्म रूप विद्यमान है।

स्पष्ट है कि शोध शब्द प्राप्त सामग्री के परिष्कार या संशोधन तक ही सीमित नहीं है, वरन् यह तथ्यों की खोज और तत्त्वों के चिन्तन-मन्थन के अर्थ का भी द्योतक

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

है।

संक्षेप में, शोध शब्द के तीन अभिप्राय अनायास उभर कर आते हैं - (1) नये तथ्यों की खोज (2) खोजे हुए तथ्यों या तत्त्वों का संशोधन (3) खोजे हुए तथ्यों या तत्त्वों का मन्थन और मूल्यांकन। इस प्रकार 'शोध' 'अनुसन्धान' के समान या उससे भी अधिक अर्थ-व्यंजक है। अर्थ-गाम्भीर्य के साथ ही इसकी सबसे अनूठी विशेषता है इसका आकार-लाघव। लघु आकार और गहन अर्थवाहकता की विरल विशेषताओं के संयोजन ने 'शोध' शब्द के वर्चस्व में वृद्धि की है और उसे 'रिसर्च' के पर्याय के रूप में सर्वाधिक स्वीकार्य और ग्राह्य बना दिया है। अब प्रायः सभी विश्वविद्यालयों और शोध-संस्थानों में यही 'रिसर्च' के लिए मानक रूप में स्वीकार कर लिया गया है। आकारिक लघुता के कारण इससे निर्मित अन्य शब्द - शोधक, शोधार्थी, शोध-कार्य, शोध-प्रबन्ध, शोध-गोष्ठी, शोध-लेख, शोध-सामग्री, शोध-विषय, शोध-निष्कर्ष आदि भी नितान्त सुगम और सुग्राह्य बन पड़े हैं। इसीलिए शोध शब्द अब 'रिसर्च' के अर्थ में रूढ़ हो गया है।

1.2. शोध की परिभाषा

अपने वर्तमान रूप में शोध की अवधारणा पाश्चात्त्य 'रिसर्च' पर आधारित है। अतः सर्वप्रथम 'रिसर्च' की मूल अवधारणा के स्वरूप को समझना शोध की परिभाषा और स्वरूप को समझने में सहायक होगा। 'वैब्सटर्स डिक्शनरी' (Webster's dictionary) में शोध के स्वरूप को बहुत ही गम्भीर एवं व्यापक रूप में परिभाषित करते हुए लिखा गया है कि 'रिसर्च समीक्षात्मक तथा सर्वांगीण पर्यालोचन अथवा परीक्षण को कहते हैं, जिसका लक्ष्य नये तथ्यों की खोज, उनका सही आख्यान तथा स्थापित निष्कर्षों, सिद्धान्तों और नियमों का पुनर्मूल्यांकन है।' इस परिभाषा का मूल अंग्रेज़ी रूप भी यहाँ प्रस्तुत है - "Research is a critical and exhaustive investigation or examination having for its aim the discovery of new facts and their correct interpretation, the revision of accepted conclusions, theories and lows". उपर्युक्त परिभाषा से निम्नलिखित बिन्दुओं पर प्रकाश पड़ता है -

(1) शोध-विषय का एक समग्र समीक्षात्मक परीक्षण है।
(2) शोध का लक्ष्य है नये तथ्यों की खोज तथा खोजे गये तथ्यों की तर्कसंगत विवेचना।
(3) स्थापित मान्यताओं, सिद्धान्तों और नियमों की बारीकी से जाँच करके उनमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन-संशोधन करना भी शोध का लक्ष्य है।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

श्री सी.सी. क्रॉफोर्ड (C. C. Crowford) ने रिसर्च की परिभाषा करते हुए लिखा है – 'शोध को उन समस्याओं की अध्ययन-विधि के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिनके समाधान अंशतः या समग्रतः तथ्यों में से प्राप्त किये जाते हैं।' परिभाषा मूल रूप में इस प्रकार है – "Research may be defined as a mathod of studying problems, whose solutions are to be derived partly or wholly from facts."

इस परिभाषा के विश्लेषण से निम्नलिखित विचार-बिन्दु उभर कर आते हैं :

(1) शोध विवेचन की एक लक्ष्यनिष्ठ पद्धति है।

(2) इसका लक्ष्य है शंकाओं, भ्रान्तिओं, अनिश्चयों आदि के रूप में विद्यमान विषय-सम्बन्धी समस्याओं का निवारण और सत्य-निर्धारण के रूप में तर्कसम्मत समाधान प्रस्तुत करना।

(3) भ्रम-निवारण और सत्य-निर्धारण तथ्यों के विश्लेषण के आधार पर किया जाता है।

(4) यह आवश्यक नहीं है कि तथ्यों के विश्लेषण के आधार पर सभी समस्याओं के समाधान पूर्ण रूप से हो पायें। समाधान पूरे भी हो सकते हैं और अधूरे भी।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी परिभाषा में रिसर्च के स्वरूप की गम्भीरता और उसके द्विविध स्तरों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है – 'रिसर्च में 'रि' उपसर्ग उतना पुनरर्थक नहीं, जितना पौनःपुनिक अभिनिवेश और गम्भीर प्रयत्न का द्योतक है। स्थूल अर्थों में वह नवीन और विस्मृत तथ्यों का अनुसन्धान है, जिसको अंग्रेजी में 'डिसकवरी ऑफ फ़ैक्ट्स' कहते हैं और सूक्ष्य अर्थ में वह ज्ञात साहित्य के पुनर्मूल्यांकन और नयी व्याख्याओं का सूचक है।'

आचार्य द्विवेदी की परिभाषा में कई तत्त्व निहित हैं। प्रथम बिन्दु तो यह है कि रिसर्च का अर्थ खोजे हुए तथ्यों या तत्त्वों को नये सिरे से फिर दोबारा खोजना नहीं है। 'रि' उपसर्ग दोबारा खोजने का द्योतक नहीं है, वरन् वह विषय में पूरी प्रतिभा के साथ गहराई से गोता लगाने का सूचक है। द्वितीय बिन्दु के रूप में उन्होंने शोध के दो स्तरों या आयामों का उल्लेख किया है। पहला स्तर स्थूल है, दूसरा सूक्ष्म। स्थूल स्तर पर शोध तथ्यानुसन्धान है। तथ्य पुराने भी हो सकते हैं और नये भी। सूक्ष्म स्तर पर शोध तत्त्व-बोध या तत्त्वानुसन्धान है। इसमें ज्ञात सामग्री का नवीन अर्थ-निर्वचन या मौलिक व्याख्या के साथ ही पुनर्परीक्षण और पुनर्मूल्यांकन निहित है। इस प्रकार शोध की प्रक्रिया स्थूल तथ्यानुसन्धान से सूक्ष्म तत्त्वान्वेषण की दिशा में उन्मुख रहती है। तथ्य मन्थन के माध्यम से तत्त्व या सूक्ष्म निष्कर्ष या विचार में परिणत हो जाते हैं।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मनुष्य का सारा बोध स्थूल और सूक्ष्म, जड़ और चेतन के मध्य विद्यमान रहता है। सारा दार्शनिक और शास्त्रीय ज्ञान स्थूल से सूक्ष्म या मूर्त से अमूर्त की ओर उन्मुख रहता है। इसके विपरीत भक्ति, साहित्य, कला आदि साधनाएँ अमूर्त से मूर्त की ओर उन्मुख रहती हैं। दार्शनिक या वैचारिक स्पर्श से भक्ति, साहित्य, कला आदि में भी प्रतीक और व्यंजना के रूप में कहीं-कहीं अमूर्तन का सहारा लिया जाता है। किन्तु साहित्य, कला, भक्ति आदि भावात्मक साधनाओं की नैसर्गिक प्रवृत्ति अमूर्त के मूर्तन में ही तृप्ति प्राप्त करती है। जहाँ ज्ञानी निर्गुण की उपासना में ध्यान-मग्न रहता है, वहाँ भक्त सगुणोपासना में रमता है। साहित्य और कला में अमूर्त भाव या विचार के सम्मूर्तन को ही बिम्ब-विधान कहा जाता है।

बौद्धिकता पर आधारित होने के कारण शोध भी एक चिन्तन-प्रणाली या शास्त्र है। यह बौद्धिक तर्क के द्वारा शासित या अनुशासित है। शास्त्र में मूर्त या स्थूल तथ्य अमूर्त विचार, तत्त्व, निष्कर्ष या सत्य में ढल जाते हैं। अनेक तथ्यों में निहित एक तत्त्व का बोध ही सामान्यीकरण (generalisation) कहलाता है। उदाहरण के लिए मुरझाते पुष्पों, उजड़ते उद्यानों, मरते हुए वृद्धों, ढहते हुए भवनों को देखकर इनमें निहित सर्वसामान्य सत्य - नश्वरता - का बोध हो जाता है। इस प्रकार तथ्य तत्त्व-बोध के माध्यम बनते हैं। जिस प्रकार पशुओं में पशुता, मानवों में मानवता निवास करती है, उसी प्रकार तथ्यों में तत्त्व निवास करता है। कोरा तथ्यानुसन्धान भी ज्ञान की दिशा में एक ठोस कदम होने के कारण शोध की सीमा में आता है, किन्तु तथ्यों के मन्थन से तत्त्वों तक पहुँचे बिना ज्ञानोपलब्धि की प्रक्रिया अधूरी रह जाती है। तथ्यानुसन्धान से सत्यान्वेषण तक पहुँचने की प्रक्रिया ही शोध है। शोध के इसी मूल स्वरूप को रेखांकित करते हुए डॉ. सरनामसिंह शर्मा ने शोध की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए लिखा है, 'शोध की प्रकृति सत्य की प्रतिष्ठा करना है... सत्यान्वेषण के लिए तथ्यावगति अभीष्ट है। जिस प्रकार ईश्वर-शोधी जड़-चेतन के माध्यम से ईश्वर की खोज करता है, उसी प्रकार शोधक तथ्यों के माध्यम से सत्य की गवेषणा करता है।' स्पष्ट है कि शोध सत्योपासना होने के कारण ईशोपासना के समान ही एक सात्त्विक साधना है। डॉ. नगेन्द्र ने शोध के इसी सात्त्विक स्वरूप को उजागर करते हुए शोध की परिभाषा प्रस्तुत की है - 'अनेकता में एकता की सिद्धि का नाम ही सत्य है - इसी का अर्थ है आत्मा का साक्षात्कार। अतः शोध का यह रूप सत्य की उपलब्धि अथवा आत्मा के साक्षात्कार के अधिक से अधिक निकट है।' आचार्य विनयमोहन शर्मा ने तथ्यानुसन्धान और तत्त्वान्वेषण पर आधारित शोध की संक्षिप्त और सारपूर्ण परिभाषा करते हुए लिखा है - 'तात्पर्य यह है कि शोध नये तथ्यों की खोज ही नहीं, उनकी तर्कसम्मत व्याख्या भी है।'

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उपर्युक्त परिभाषाओं में शोध के मूल स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। परिभाषाओं से स्पष्ट है कि शोध की अपनी एक सुनिर्धारित प्रविधि है। शोध एक अनुशासित अध्ययन-प्रणाली है, जिसका एक विधान या शास्त्र है। सोपाधिक शोध को अनुशासित रखने के लिए विश्वविद्यालय शोध-नियम लागू करते हैं और शोधक को शोध-प्रविधि या शोधशास्त्र का बोध और पालन कराने के लिए प्रत्येक शोधक को एक शोध-निर्देशक के निर्देशन में शोध-कार्य में प्रवृत्त होना पड़ता है। ऊपर विवेचित सभी परिभाषाओं के आधार पर शोध की एक सर्वसमावेशी परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है – 'शोध एक सुविज्ञ निर्देशक के निर्देशन में शोध-प्रविधि का सम्यक् पालन करने वाले प्रतिभाशाली शोधक द्वारा किसी निश्चित विषय पर किया गया वह दृष्टिसम्पन्न विश्लेषण-विवेचन है, जिसमें तथ्य अनुसन्धान के स्तर पर अज्ञात तथा अल्प ज्ञात तथ्यों का अन्वेषण एवं भ्रान्तज्ञात तथ्यों का संशोधन अभीष्ट है तथा सत्यान्वेषण के स्तर पर तथ्यों के वर्गीकरण एवं विश्लेषण के आधार पर निर्भ्रान्त निष्कर्षों या सत्यों तक पहुँचने की वस्तुनिष्ठ एवं तर्कसम्मत साधना समाहित है।'

1.3. शोध का स्वरूप

सत्यानुसन्धान मानव की जन्मजात प्रवृत्ति है। अतः मनुष्य अत्यन्त प्राचीनकाल से सत्य की खोज की दिशा में प्रयत्नशील रहा है। 'नाट्यशास्त्र', 'कामसूत्र', 'अर्थशास्त्र', 'काव्यप्रकाश' आदि ग्रन्थ विविध दिशाओं में सत्यान्वेषण के लिए किये गये प्रयत्नों के उदाहरण हैं, किन्तु प्राचीन शोध और आधुनिक शोध में स्वरूपगत भेद हैं, जो मुख्यतः नव-विकसित शोध-प्रवृत्ति के कारण है। आधुनिक युग में नवीन शोध-प्रविधि के विकास ने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में क्रान्ति उपस्थित की है। अब शोध ने व्यवस्थित और वैज्ञानिक स्तर अर्जित कर लिया है। तथ्यानुसन्धान प्रमाणीकरण पर आधारित है और तथ्यों का विवेचन-विश्लेषण वस्तुनिष्ठ या तथ्याश्रित, बौद्धिक तर्क-पद्धति पर। अब प्रमाणीकरण के लिए उद्धरण देने और उनका सन्दर्भोल्लेख करने का निश्चित प्रावधान है। प्राचीनकाल में इसके लिए कोई विधिवत् व्यवस्था नहीं थी।

1.3.1. शोध का सोपाधिक या शास्त्रीय स्वरूप

शोध का एक निर्धारित विधान या शास्त्र है। शोधशास्त्रीय विधान के अनुरूप किये गये स्तरीय और प्रामाणिक शोध-कार्यों पर विश्वविद्यालयों द्वारा भाषा-संकाय

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

में एम.फिल., एम.लिट्., पीएच.डी., डी.लिट्. आदि उपाधियाँ दी जाती हैं। विशुद्ध पारिभाषिक या तकनीकी स्तर पर कहें तो शास्त्रीय या सोपाधिक शोध ही वास्तविक शोध है। ऐसा शोध-कार्य मूल्यांकन या परीक्षण के उपरान्त उपर्युक्त उपाधियों में से क़िसी एक उपाधि के लिए स्वीकृत होता है और बाद में विश्वविद्यालय की स्वीकृति मिलने पर प्रकाशित भी किया जाता है। यों सोपाधिक शोध के समानान्तर निरुपाधिक शोध भी निरन्तर चलता रहा है तथा उसमें से कुछ विशेष मूल्यवान् भी है, तथापि शोध-प्रविधि का विधिवत् पालन न करने के कारण ऐसे कार्य को शोध-कार्य नहीं कहा जाता। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन आदि विद्वानों ने अपने स्तर पर अपने ढंग से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया है, किन्तु उन ग्रन्थों को शोध-प्रबन्ध नहीं कहा जा सकता। इन ग्रन्थों के प्रणेताओं को 'डॉक्टर' भी नहीं कहा जाता, भले ही उन्हें अपने उच्चस्तरीय कार्य के लिए अनेक उपाधिधारियों से भी कहीं अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई हो।

शोधशास्त्र की अपनी एक मर्यादा है; यह भिन्न बात है कि अब दिन-प्रतिदिन उस मर्यादा का क्षरण होता जा रहा है। सोपाधिक शोध के विषय में विश्वविद्यालयों द्वारा निर्धारित शोध-नियमों के अवलोकन से शोध के स्वरूप के निम्नलिखित पक्षों पर प्रकाश पड़ता है :

(1) शोध में नवीन तथ्यों की खोज (Descovery of new facts) अपेक्षित है।

(2) तथ्याख्यान की नयी दृष्टि (Fresh approach towards interpretation of facts) अभीष्ट है।

(3) शोधक में समीक्षात्मक परीक्षण और निर्णय-क्षमता (capacity of critical examination and judgement) अपेक्षित है।

(4) शोध-प्रबन्ध की प्रस्तुति के लिए सन्तोषप्रद उपस्थापन-शैली (satisfatory presentation) वांछित है।

इन सब बिन्दुओं के संयोजन से शोध के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है कि शोध तथ्याश्रित तत्त्व-बोध की दृष्टि-सम्पन्न, तर्कसम्मत क्रिया है, जिसमें शोधक की तथ्यों के सही संकलन, परीक्षण और आख्यान की क्षमता के साथ ही निर्भ्रान्त निर्णयों या निष्कर्षों पर पहुँचने वाली क्रान्तदर्शी प्रतिभा का प्रमाण मिलता है तथा विषय के प्रतिपादन की भाषा और शैली भी स्वच्छ और सुग्राह्य होती है।

शोध-कार्य से सम्बद्ध कुछ विशिष्ट शब्दों - थीसिस, डॉक्टर, परिकल्पना (हाईपॉथीसिस) आदि के अर्थ पर विचार करने से भी शोध के स्वरूप को समझने में सहायता मिलती है। यहाँ हम सर्वप्रथम 'थीसिस' पर विचार करेंगे। ऑक्सफोर्ड

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

डिक्शनरी के अनुसार परिकल्पना अथवा प्राक्कल्पना (Hypothesis or proposition) को स्थापना के रूप में प्रतिष्ठित करना ही थीसिस है। शोधक पहले अनुभव और अनुमान के बल पर या निर्देशक के परामर्श से एक परिकल्पना लेकर विषय में प्रवेश करता है और उसे तथ्यों से प्रमाणित कर देता है। तथ्यों से प्रमाणित होते ही वह परिकल्पना स्थापना या थीसिस बन जाती है। उदाहरण के लिए हम निर्गुणोपासक कबीर के सम्बन्ध में विषय चुनते हैं 'कबीर के काव्य में सगुणोपासना का स्वरूप'। प्रथम दृष्टि से यह परिकल्पना अटपटी लगती है, किन्तु गम्भीर अध्ययन से कबीर-काव्य में भक्ति और रहस्यानुभूति के दोहों में माता, पिता, स्वामी, प्रियतम के रूप में ब्रह्म के सगुण रूप के अनेकानेक तथ्य प्रचुर रूप में मिलने लगते हैं। तथ्यों के आधार पर हम यह सिद्ध करने में सफल होते हैं कि निर्गुणोपासक कबीर के काव्य में सगुणोपासना के प्रसंग निर्गुणोपासना के प्रसंगों से अधिक भावपूर्ण और मार्मिक हैं। ऐसी स्थिति में हमारी परिकल्पना सही सिद्ध हो जाती है और तथ्यों से प्रमाणित होकर अब वह स्थापना या थीसिस में परिणत हो जाती है।

'थीसिस' के लिए व्यवहृत 'शोध-प्रबन्ध' शब्द भी कम अर्थ-व्यंजक नहीं है। शोध तो तथ्यानुसन्धान और तत्त्वान्वेषण का बोधक है ही, साथ ही 'प्रबन्ध' शब्द व्यवस्थित, क्रमबद्ध, अन्वितिमूलक विवेचन पर आधारित गठन का द्योतक है। शोध-प्रबन्ध में तथ्याश्रित तत्त्वान्वेषण एक तर्काश्रित अन्विति से अनुशासित होकर सुगठित विवेचन का आकार ग्रहण करता है। प्रबन्ध-गुण तर्कसंगति से उत्पन्न क्रमबद्धता या अन्विति पर आश्रित रहता है।

शोध-उपाधिप्राप्त शोधक को 'डाक्टर' कहा जाता है। प्रारम्भ में धार्मिक ज्ञान को ही सच्चा ज्ञान माना जाता था। अत: 'डॉक्टरेट' की उपाधि उसी व्यक्ति को दी जाती थी, जो धर्म-ग्रन्थों के गहन अध्ययन तथा आचार-विचार की व्यक्तिगत पुनीतता के कारण धर्माचार्य के रूप में प्रतिष्ठित होता था। ऐसे धर्माचार्य को 'डॉक्टर ऑफ डिविनिटी' की उपाधि दी जाती थी। बाद में उन सभी मनस्वी विद्वानों को भी 'डॉक्टर' कहा जाने लगा, जो ज्ञान-विज्ञान के किसी भी क्षेत्र में वर्षों तक साधनारत रहते हुए अपनी मौलिक मान्यताओं से युक्त ग्रन्थ पर किसी विश्वविद्यालय से पीएच.डी., डी.एससी. आदि में से कोई उपाधि प्राप्त करता था। डी.एससी. (डॉक्टर ऑफ साइंस) तो विज्ञान के क्षेत्र से सम्बन्धित है, किन्तु पीएच.डी. (डॉक्टर ऑफ़ फ़िलॉसफ़ी) विज्ञान और मानविकी दोनों ही क्षेत्रों में प्रदान की जाती है। इस सन्दर्भ में 'फ़िलासफ़ी' शब्द लाक्षणिक है। यह 'दर्शन' का बोधक न होकर दार्शनिक के समान उच्चस्तरीय तत्त्व-चिन्तन का द्योतक है। यह उत्कृष्ट मौलिक एवं गहन चिन्तन का व्यंजक है। मानविकी के क्षेत्र में पीएच.डी. से उच्चतर उपाधि डी.लिट्. कैम्ब्रिज

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यूनिवर्सिटी की परम्परा के अनुसार 'डॉक्टर ऑफ लिट्रेचर' का संक्षिप्त रूप है। 'लिट्रेचर' अथवा 'लैटर्स' शब्द लाक्षणिक रूप में उच्चस्तरीय ज्ञान-साधना अथवा साहित्य-साधना के गम्भीर अर्थों में प्रयुक्त है। इस प्रकार 'थीसिस', 'शोध-प्रबन्ध', 'डॉक्टर' फ़िलॉसफ़ी आदि शब्द तत्त्वान्वेषी दृष्टि, सूक्ष्म विश्लेषण-क्षमता और निर्भ्रान्त निर्णय-क्षमता के साथ ही 'शोध' के दायित्व की गुरुता को रेखांकित करते हैं।

1.3.2. शोध के तत्त्व

शोधक की प्रतिभा और शोध्य कृति या कृतियों में निहित तथ्यों के सम्पर्क से ज्ञान के नये क्षितिज खुलते हैं। एक सुनियोजित चेतन व्यापार होने के कारण शोध का विकास एक जीवित अवयवी (organism) की भाँति सर्वांगीण रूप में होता है। वस्तु (शोध-विषय का क्षेत्र) और व्यक्ति (शोधक की प्रतिभा तथा विषय-विवेचन की दृष्टि) के सम्पर्क से ही शोध के स्वरूप का विकास होता है। इस प्रकार विषय-क्षेत्र और उसके अध्ययन की दृष्टि ही वे दो आधारभूत तत्त्व हैं, जिनके संयोजन से शोध-अवयवी का सुगठित स्वरूप विकसित होता है। विषय-क्षेत्र में तथ्य बिखरे रहते हैं। शोधक अपेक्षित तथ्यों को खोजकर उन्हें अपनी दृष्टि के अनुसार वर्गीकृत, विश्लेषित और व्याख्यायित करके निश्चित निष्कर्षों या तत्त्वों तक पहुँचाता है। यह निष्कर्षण या तत्त्वान्वेषण ही शोध का साध्य या आत्मा है। अतः विषय-क्षेत्र और शोध-दृष्टि के पश्चात् तत्त्वान्वेषण शोध का तीसरा तत्त्व है। उदाहरण के लिए 'तुलसी-साहित्य का सांस्कृतिक दृष्टि से अध्ययन' विषय में 'तुलसी साहित्य' शोध-क्षेत्र है और 'सांस्कृतिक दृष्टि' शोध-दृष्टि है। तुलसी साहित्य का सांस्कृतिक दृष्टि से अध्ययन करने पर जो निष्कर्ष तत्त्व-बोध के रूप में प्राप्त होता है, वे ही इस समूचे अध्ययन की आत्मा या सार-तत्त्व हैं।

शोध-विषय पर शोध-दृष्टि को लागू करने में दो तत्त्व सहायक होते हैं। ये तत्त्व हैं : शोधक की तर्क-पद्धति और शोध-प्रविधि। तर्क-पद्धति में शोधक की प्रतिभा की प्रखरता और तर्क-क्षमता का प्रकर्ष तो अपेक्षित है ही, साथ ही तर्क-क्षमता के उपयोग में सूक्ष्मता, तटस्थता और सूझ-बूझ की मौलिकता भी अपेक्षित है। शोध-प्रविधि शोध का तकनीकी तत्त्व है, जो शोधक की प्रतिभा से अनुप्राणित होकर शोध का अन्तर्वर्ती तत्त्व बन जाता है और शोध के स्वरूप-गठन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। शोधक जितना प्रतिभाशाली होगा, वह उतनी ही सूक्ष्मता और समझदारी से शोध-प्रविधि का उपयोग करेगा और विश्लेषण की बारीकियों में उतरकर सुगठित और सीमित आकार वाले शोध-प्रबन्ध में अधिक से अधिक गहन तत्त्व-चिन्तन प्रस्तुत कर सकेगा। शोध-प्रविधि के कौशलपूर्ण उपयोग से पूरे शोध-प्रबन्ध में

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विवेचन की एकरूपता, दृष्ट की अन्विति और चिन्तन की एकसूत्रता बनी रहती है। शोधक पुनरावृत्ति, अन्तर्विरोध, अनावश्यक विस्तार आदि दोषों से बचा रहता है। विषय-क्षेत्र पर शोध-दृष्टि, तर्क-पद्धति और शोध-प्रविधि आदि तत्त्वों को लागू करने का माध्यम है शोध की भाषा और उपस्थापन-शैली। यह भी शोध के स्वरूप को प्रभावित करने वाला प्रमुख तत्त्व है। शोध की भाषा अपने आदर्श रूप में वस्तुनिष्ठ और वैचारिक या तथ्यनिरूपक और तत्त्व-प्रतिपादक होती है। प्रतिभाशाली शोधक के पास उत्कृष्ट तर्क-क्षमता और विश्लेषण-शक्ति के अनुरूप स्तरीय तथ्यपरक और चिन्तनपरक भाषा भी होती है। अतः उसका शोध-प्रबन्ध स्वरूपतः उच्चस्तरीय होता है। इस प्रकार कुल मिलाकर शोध के स्वरूप को निर्मित करने वाले छह तत्त्व हैं : (1) विषय-क्षेत्र, (2) शोध-दृष्टि (3) तर्क-पद्धति (4) शोध-प्रविधि (5) तत्त्वान्वेषण या निष्कर्ष और (6) भाषा-शैली। इन तत्त्वों पर आगे विस्तार से विचार किया जायेगा।

1.3.3. शोध के प्रकार

शोध के स्वरूप के सन्दर्भ में शोध के प्रकारों की चर्चा करना भी प्रासंगिक होगा। शोध-विषय की निर्मिति विषय-क्षेत्र और विवेचन की दृष्टि या शोध-दृष्टि - इन दो बुनियादी तत्त्वों के संयोजन से होती है। अतः ये दोनों तत्त्व ही शोध के प्रकारों को निर्धारित करते हैं। इनके आधार पर शोध के प्रकारों के भी दो भेद हैं - विषयगत और दृष्टिगत। विषयगत प्रकारों का आधार विषय-क्षेत्र है और दृष्टिगत प्रकार का आधार विषय-विवेचन की दृष्टि या शोध-दृष्टि है। विषय-क्षेत्र की भिन्नता के आधार पर शोध के भाषावैज्ञानिक, लोकतात्त्विक, काव्यशास्त्रीय, तुलनात्मक, पाठालोचनात्मक, साहित्येतिहासिक आदि शोध-प्रकारों का उदय होता है। विषय-विवेचन की दृष्टि की भिन्नता के आधार पर अन्तरविद्यावर्ती शोध के विविध प्रकारों - मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक, सौन्दर्यशास्त्रीय, नीतिशास्त्रीय, दार्शनिक, ऐतिहासिक आदि का उदय होता है। इन शोध प्रकारों का विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा।

1.3.4. शोध के प्रयोजन

शोध के स्वरूप पर शोध के प्रयोजन का भी प्रभाव पड़ता है। डॉ. उदयभानु सिंह ने शोध के चार प्रयोजन माने हैं - ज्ञान-प्रसार, वैज्ञानिक प्रशिक्षण, अर्थोपार्जन और यश-प्राप्ति। वस्तुतः शोध का वास्तविक प्रयोजन तो सत्य की खोज द्वारा ज्ञान का प्रसार करना ही है। निष्काम भाव से, शुद्ध सत्योपासना या तत्त्वान्वेषण के लिए

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

किया गया शोध ही स्वरूपतः सर्वोत्कृष्ट होता है। अन्य प्रयोजन आनुषंगिक रूप में ही प्रासंगिक हैं। उनकी प्रमुखता होते ही शोध के स्तर में गिरावट आ जाती है और शोध का मूल प्रयोजन पराजित हो जाता है। ज्ञान-क्षेत्र का विस्तार और ज्ञान का प्रसार विषय-प्रतिपादन की मौलिकता से होता है। मौलिकता उपयोगी तथ्यों को पहचानने और खोज निकालने तथा उन तथ्यों में निहित तत्त्वों को अन्वेषित करने में होती है। तथ्यान्वेषण और तथ्याख्यान के द्वारा प्राप्त तत्त्व-बोध ही मौलिकता के स्वरूप को निर्धारित करता है। निष्कर्षतः शोध का एकमात्र प्रयोजन तत्त्व-ज्ञान ही है।

1.3.5. शोध और समालोचना

शोध के स्वरूप को समझने के लिए यहाँ शोध और समालोचना के साम्य और वैषम्य को समझना भी उपयोगी होगा। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार, 'उत्तम आलोचना अनिवार्यतः उत्तम अनुसन्धान भी है और उत्तम साहित्यिक अनुसन्धान अपनी चरम परिणति में आलोचना से अभिन्न हो जाता है।' डॉ. नगेन्द्र का मत है कि शोध में तथ्यों का विश्लेषण-विवेचन ही तत्त्वान्वेषण में परिणत हो जाता है और तत्त्वान्वेषण आलोचना से भिन्न नहीं है। उत्तम आलोचना तत्त्वान्वेषी होने के कारण शोध का ही स्तर अर्जित कर लेती है। इसके विपरीत डॉ. उदयभानु सिंह का मत है, 'सत्य यह है कि उत्कर्ष के उच्चतम शिखर पर पहुँच कर भी अनुसन्धान अनुसन्धान ही रहता है; श्रेष्ठता की चरम सीमा पर पहुँच कर भी आलोचना आलोचना ही रहती है।' स्पष्ट है कि शोध और समालोचना में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी दोनों एक-दूसरे के पर्याय नहीं हैं। उत्तम कोटि के शोध में आलोचना की और उत्तम कोटि की आलोचना में शोध की अनेक विशेषताएँ समाहित रहती हैं, फिर भी दोनों में दृष्टि और प्रयोजन का भेद है। शोध की दृष्टि वस्तुनिष्ठ, तर्काश्रित और तत्त्वपरक होती है और प्रयोजन होता है सत्यानुसन्धान। इसमें व्यक्तिनिष्ठता के लिए कोई अवकाश नहीं रहता। आलोचना 'लुच्' धातु से निर्मित है। अतः आलोचक की व्यक्तिगत दृष्टि और चिन्तनधारा की विशिष्टता रहती है। आलोचना का प्रयोजन सत्यानुसन्धान की अपेक्षा आलोच्य का कृति का मर्मोद्घाटन और रसास्वादन होता है। प्रभाववादी आलोचना में तो आलोचक की दृष्टि और चिन्तनधारा ही प्रमुख रहती है। जिस प्रकार प्रभाववादी आलोचना में शोध के लिए कोई स्थान नहीं है, उसी प्रकार शोध में प्रभाववादी आलोचना के लिए कोई स्थान नहीं है। शोध में विशिष्ट वैज्ञानिक शोध-प्रविधि के अनुसार उद्धरण, सन्दर्भोल्लेख, सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची आदि अनिवार्य हैं, जबकि समालोचना में इसकी अनिवार्यता नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शोध तथ्याश्रित तथा तर्कसम्मत तत्त्व-बोध

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

की प्रातिभ प्रक्रिया है। इसका प्राथमिक लक्ष्य उपयुक्त तथ्यों का संकलन और शोधन है। अपनी चरम परिणति में शोध नये तत्त्वों, निष्कर्षों, सिद्धान्तों तक पहुँचने की साधना है। शोध के स्वरूप के निर्माण में शोध-विषय, शोध-दृष्टि, तर्क-पद्धति, शोध-प्रविधि, निष्कर्षण अथवा तत्त्व-बोध, भाषा-शैली नामक तत्त्वों का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। शोध का एकमात्र प्रयोजन सत्य की खोज है। शोध और समालोचना परस्पर पूरक अवश्य हैं, किन्तु दोनों में पद्धति, प्रयोजन आदि की दृष्टि से भेद है।



CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अध्याय – 2

शोध के तत्त्व

सारा ज्ञान व्यक्ति (subject) तथा वस्तु (object) के सम्पर्क से उत्पन्न होता है। व्यक्ति अपनी प्रतिभा से वस्तु का निरीक्षण, परीक्षण और मूल्यांकन करता है। शोध में व्यक्ति या शोधक वस्तु या शोध्य सामग्री का विश्लेषण करता है और विश्लेषण के आधार पर निष्कर्षों तक पहुँचता है। व्यक्ति या शोधक एक प्रबुद्ध या प्रतिभाशाली व्यक्ति होता है। वह किसी भी वस्तु या शोध्य सामग्री पर किसी भी निर्धारित दृष्टि से चिन्तन करके तर्कसम्मत निष्कर्षों तक पहुँच सकता है। इसीलिए सामान्यतः प्रत्येक शोध-विषय में शोध की दृष्टि निर्धारित की जाती है। दृष्टिहीन विषय अन्धा होता है। अतः उसमें शोध-क्षेत्र या शोध्य-सामग्री का विश्लेषण किसी निश्चित दृष्टि से नहीं किया जाता। शोधक मनमानी दृष्टियों से अध्ययन करता हुआ मनमाने निष्कर्षों पर पहुचता है। इसी मनमानेपन और अवैज्ञानिकता से बचने के लिए प्रत्येक विषय में विषय-क्षेत्र के साथ शोध-दृष्टि का भी निर्धारण कर दिया जाता है। 'सूरसागर का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन', 'सूरसागर का सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से मूल्यांकन', 'सूरसागर का दार्शनिक दृष्टि से अनुशीलन', 'सूरसागर का लोकतात्त्विक दृष्टि से विवेचन', 'सूरसागर का रसशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन' आदि विषयों में एक ही विषय-क्षेत्र के साथ अलग-अलग दृष्टियाँ जोड़कर शोध के पाँच विषय प्रस्तुत किये गये हैं। दृष्टि-सम्पन्न शोधक इनमें से किसी भी विषय पर तत्त्वपूर्ण शोध-कार्य कर सकता है। किन्तु एक बार एक विषय चुन लेने पर शोध-विषय में निर्धारित शोध-दृष्टि ही शोधक की दृष्टि बन जाती है। उत्तम शोध के लिए शोधक की भाँति शोध-विषय का भी दृष्टि-सम्पन्न होना आवश्यक है। 'सूरसागर का लोकतात्त्विक

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

दृष्टि से विवेचन' में सूरसागर शोध-क्षेत्र या शोध्य वस्तु है और लोकतत्त्व शोध-दृष्टि है। शोध-दृष्टि को शोध-पद्धति का सम्यक् अनुसरण करते हुए सुबोध, स्वच्छ, भावोच्छ्वासहीन, शास्त्रीय भाषा-शैली में तथ्यनिरूपक, तत्त्वान्वेषी तर्क-पद्धति के द्वारा शोध-क्षेत्र पर लागू करना और उस प्रातिभा प्रक्रिया से निर्भ्रान्त निष्कर्षों तक पहुँचना ही सच्चा तत्त्व-बोध है, जिसे शोध की आत्मा कहा जा सकता है। उपर्युक्त कथन में शोध के छह अन्तर्वर्ती तत्त्व रेखांकित किये गये हैं - (1) शोध का क्षेत्र (2) शोध की दृष्टि (3) तर्क-पद्धति (4) शोध-प्रविधि (5) तत्त्व-बोध या निष्कर्ष (6) शोध की भाषा-शैली। यहाँ इन तत्त्वों के स्वरूप और महत्त्व पर किंचित् विस्तार से विचार करना प्रासंगिक होगा।

2.1. शोध का विषय-क्षेत्र

शोध का प्राथमिक तत्त्व है शोध के विषय का क्षेत्र, जिसमें तथ्य (विश्लेषण सामग्री) समाहित रहते हैं। शोधक शोध-विषय में निर्धारित दृष्टि से शोध-क्षेत्र में विकीर्ण सामग्री या तथ्यों का चयन करता है और उनके विश्लेषण के आधार पर निष्कर्ष निकालता है। शोध के क्षेत्र और शोध की दृष्टि के संयोजन से ही शोध-विषय का निर्माण होता है। प्रत्येक विषय में शोध की दृष्टि के समान ही शोध के क्षेत्र का भी विशेष महत्त्व है। शोध-विषय का क्षेत्र शोध के स्वरूप को भी निर्धारित करता है। वस्तुतः शोध की सारी सम्भावनाएँ शोध-विषय के क्षेत्र में ही समाहित रहती हैं। यदि दो विषय-क्षेत्रों का अध्ययन एक ही दृष्टि से किया जाये, तो भी दोनों शोधों में शोध-क्षेत्र की भिन्नता के कारण स्वरूपगत भारी भिन्नता पायी जायेगी। व्यावहारिक विषय-निरूपण में दोनों की दृष्टि में भी विषय-क्षेत्र के स्वरूप की भिन्नता के कारण पर्याप्त अन्तर पाया जायेगा। उदाहरण के लिए समान दृष्टि वाले निम्नलिखित दो विषयों को लीजिए - 'रामचरितमानस का सांस्कृतिक दृष्टि से अध्ययन' और 'कामायनी का सांस्कृतिक दृष्टि से अध्ययन'। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि शोध की सारी सम्भावनाएँ शोध-विषय के क्षेत्र में ही निहित होती हैं। अतः रामचरितमानस पर सांस्कृतिक दृष्टि से शोध करने वाले शोधक को अमंगलकारी, कुमतिप्रसूत, राक्षसी विकृतियों पर विजय पाने वाले सोलह संस्कारों, पुरुषार्थों, नैतिक मूल्यों, सगुणोपासना, पौराणिकता, अवतारवाद, वेदान्त दर्शन, समन्वय भावना आदि के मध्य से विचरण करते हुए सांस्कृतिक दृष्टि का विकास करना होगा। निश्चय ही यह सांस्कृतिक दृष्टि तुलसी-पोषित सांस्कृतिक दृष्टि होगी। इसमें तुलसी के युग की विषमताओं और द्वन्द्वों के समाधान का पावन प्रयास भी पाया जायेगा। कामायनीकार

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

को अपने युग के अनुसार नयी सामाजिक विसंगतियों और सांस्कृतिक संकटों का सामना करना पड़ा था। जहाँ तुलसी ने भक्ति के माध्यम से शक्ति का सांस्कृतिक सन्देश दिया था, वहाँ प्रसाद ने श्रद्धा के माध्यम से दुर्बल मनु को शक्ति और पुरुषार्थ का सन्देश दिया। कामायनी में श्रद्धा और इड़ा के रूप में सांस्कृतिक शक्तियों को विज्ञानप्रसूत भोगवाद, अनियन्त्रित अधिकारवाद और अधिनायकवाद के विरुद्ध जूझना पड़ता है। स्पष्ट है कि विषय का क्षेत्र विषय की दृष्टि को भी नियन्त्रित और निर्धारित करता है। इस बात को यदि और भी स्पष्ट रूप में समझना हो तो उदाहरणस्वरूप 'हरियाणा के लोकगीतों का सांस्कृतिक अध्ययन' विषय को लिया जा सकता है। इसमें लोकगीतों में निरूपित हरियाणा के रीति-रिवाजों, पर्वों, लोक-विश्वासों, देवी-देवताओं, व्यवसायों, सनातनधर्मी और आर्यसमाजी विचारधाराओं, हरियाणा के सन्तों आदि क्षेत्रीय अथवा लोकतात्त्विक सन्दर्भों को सांस्कृतिक दृष्टि से विवेच्य बनाना होगा। इस प्रकार लोकगीतों के सम्पर्क से 'सांस्कृतिक दृष्टि' 'लोकसांस्कृतिक दृष्टि' में परिणत हो जायेगी।

प्रत्येक विषय-क्षेत्र की अपनी विशिष्ट सत्ता और महत्ता है। इसी विशिष्टता के कारण प्रत्येक शोधक किसी विशिष्ट विषय-क्षेत्र पर शोध-कार्य नहीं कर सकता। शोध-क्षेत्रों की भाँति शोधकों की रुचियाँ और योग्यताएँ भी विशिष्ट होती हैं। जो शोधक कविता पर शोध-कार्य कर सकते हैं, वे गद्य-विद्याओं पर शोध नहीं कर सकते। इसी प्रकार जो प्राचीन कविता पर शोध कर सकते हैं, वे प्रायः नयी कविता पर काम करने से झिझकते हैं। आधुनिक बोध से जुड़े विषय-क्षेत्रों में रुचि रखने वाले मध्यकालीन कविता पर शोध करने में अपनी असमर्थता व्यक्त कर देते हैं। उपर्युक्त क्षेत्रगत और रुचिगत विशिष्टता के कुछ इने-गिने अपवाद भी मिल सकते हैं, किन्तु सामान्यतः उपर्युक्त आकलन सही है। यदि आधुनिक युगबोध और नयी कविता में रुचि रखने वाले किसी शोधार्थी को किन्हीं विशेष परिस्थितियों में मध्यकालीन कविता पर काम करने को विवश किया जाता है, तो उसे अपनी मानसिकता को मध्यकालीन बोध के अनुरूप ढालने में बहुत अधिक श्रम और निष्ठा का परिचय देना होगा। फिर भी वह अपने लक्ष्य में अभीष्ट सफलता प्राप्त कर सकेगा, यह नहीं कहा जा सकता। संक्षेप में, प्रत्येक विषय-क्षेत्र विशिष्ट प्रतिभा, संस्कारों, रुचि, साधना और साधनों की अपेक्षा करता है। तभी उस विषय-क्षेत्र में निहित तथ्यों का सही चयन, वर्गीकरण, विश्लेषण सम्भव होता है और उससे सम्बद्ध सारी सम्भावनाओं का सम्यक् दोहन किया जा सकता है। अतः प्रत्येक शोधक को विषय का चयन करते समय विशेष सतर्क रहने की आवश्यकता है।

विषय-क्षेत्र की व्याप्ति भी शोध के स्वरूप को प्रभावित करती है। यदि शोध

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

के विषय का क्षेत्र बहुत बड़ा है, तो उसका बहुत गहराई और सूक्ष्मता से अध्ययन सम्भव नहीं है। 'हिन्दी कविता में प्रकृति-चित्रण' या 'हिन्दी कविता में शृंगार-भावना' या 'हिन्दी कविता का सांस्कृतिक अध्ययन' जैसे अति विस्तृत क्षेत्र वाले विषय चुनने से विषय के साथ न्याय नहीं हो सकता। इन विषयों की तुलना में 'तुलसी काव्य का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन' विषय-क्षेत्र की दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त है। बहुत सीमित क्षेत्र वाले विषय तभी चुने जा सकते हैं, जब शोधक को अपनी योग्यता और प्रतिभा पर पूरा विश्वास हो कि वह तथ्यों का वर्गीकरण और विवेचन बहुत ही बारीकी से कर पायेगा और अपने शोध-प्रबन्ध में गहराई तथा विस्तार का सही सामंजस्य स्थापित कर पायेगा। शोध-प्रबन्ध का आकार न तो बहुत बड़ा ही होना चाहिए और न बहुत छोटा ही।

यहाँ हमने शोध-क्षेत्र की शोध-प्रबन्ध के एक अन्तर्वर्ती घटक-तत्त्व के रूप में चर्चा की है और उसके स्वरूप तथा महत्त्व को रेखांकित किया है। उपर्युक्त विवेचन में शोध-क्षेत्र के उदाहरण काव्य-क्षेत्र से ही दिये गये हैं। यहाँ यह उल्लेख्य है कि शोध का विषय-क्षेत्र केवल कविता तक ही सीमित नहीं है। वास्तव में, इस विषय-क्षेत्र के भी अनेक क्षेत्र हैं - यथा भाषा-विज्ञान, पाठानुसन्धान, साहित्येतिहास, लोक साहित्य, कथा-साहित्य, काव्यशास्त्र, शैली-विज्ञान आदि। शोध-विषयों के इन क्षेत्रों का विवेचन यथास्थान आगे किया जायेगा।

2.2. शोध की दृष्टि

शोध का दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है शोध के विषय-क्षेत्र के विश्लेषण और मन्थन की दृष्टि। शोध के विषय-क्षेत्र में निहित तथ्यों और उनमें समाहित तत्त्वों का मन्थन किसी-न-किसी पूर्व निर्धारित या सुनिश्चित दृष्टि से ही किया जाता है। तभी शोध-कार्य लक्ष्यनिष्ठ और दृष्टिसम्पन्न हो पाता है। दृष्टियुक्त शोध-कार्य की महत्ता को दृष्टिहीन कार्य की अनिश्चितता और लक्ष्यहीनता के परिप्रेक्ष्य में भली प्रकार हृदयंगम किया जा सकता है। 'तुलसीदास', 'सूरदास : एक अध्ययन', 'अपभ्रंश साहित्य', 'हिन्दी का भक्ति-साहित्य' आदि किसी सामान्य पुस्तक के विषय तो हो सकते हैं, किन्तु ये शोध के लिए उपयुक्त नहीं हैं। यह ठीक है कि मेधावी लेखक इन विषयों का सर्वांगीण विवेचन करते हुए उन पर महत्त्वपूर्ण सामग्री से युक्त उपयोगी ग्रन्थ लिख सकता है, किन्तु इसके बावजूद वह शोध-ग्रन्थ की कसौटी पर खरा नहीं उतर सकता। शोध एक दृष्टिसम्पन्न, लक्ष्योन्मुख, विकसनशील, सुनियोजित बौद्धिक क्रिया है। दृष्टि से ही विषय-विवेचन को दिशा मिलती है और सारा शोध-

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कार्य क्रमबद्ध रूप में एक लक्ष्य की ओर अग्रसर होता प्रतीत होता है। दृष्टि द्वारा उत्पन्न चिन्तन की तार्किक अन्विति ही सारे शोध-प्रबन्ध को एक आन्तरिक गठन और सूत्रबद्धता प्रदान करती है। यह अन्विति या अन्तर्गठन ही शोध-प्रबन्ध की प्रबन्धात्मकता का मूल आधार है। इसके अभाव में किसी ग्रन्थ को शोध-प्रबन्ध की संज्ञा से अभिहित नहीं किया जा सकता।

शोध-विषय की दृष्टि का महत्त्व इसलिए भी है कि इसका सीधा सम्बन्ध शोध की 'प्रतिज्ञा' या 'परिकल्पना' (हाइपॉथेसिस) से है। यह परिकल्पना तथ्यों द्वारा पुष्ट या प्रमाणित हो जाने पर 'स्थापना' या 'थीसिस' का रूप ग्रहण कर लेती है। शोध-विषय में निहित कुछ ठोस सम्भावनाओं को ध्यान में रखकर ही शोध की परिकल्पना या हाइपॉथेसिस या दृष्टि का निर्धारण किया जाता है। उदाहरण के लिए विद्यापति की पदावली में दो ठोस सम्भावनाएँ दिखलाई पड़ती हैं – वे शृंगारी भी लगते हैं और भक्त भी। इन दोनों सम्भावनाओं को ध्यान में रखकर दो परिकल्पनाएँ की जा सकती हैं – (1) विद्यापति शृंगारी कवि हैं तथा (2) विद्यापति भक्त कवि हैं। इनके आधार पर विषय बनेंगे – 'विद्यापति पदावली का शृंगारिक दृष्टि से अध्ययन' तथा 'विद्यापति पदावली का भक्ति-भावना की दृष्टि से अध्ययन'। शोध के लिए कुछ नयी या अब तक अछूती सम्भावनाओं को परिकल्पना या शोध-दृष्टि के रूप में अपनाना निश्चय ही श्लाघ्य है। वास्तव में शोध का लक्ष्य ही है ज्ञान के नये क्षितिज खोजना। इस दृष्टि से शोध के नये विषय हो सकते हैं – (1) सूरसागर के वीररसात्मक प्रसंगों का अध्ययन (2) कबीर काव्य में सगुणोपासना का स्वरूप (3) सूफ़ी प्रेमाख्यानों में कृष्ण-भक्ति का स्वरूप (4) सूफ़ी प्रेमाख्यानों में बहुदेवोपासना का स्वरूप (5) सूफ़ी प्रेमाख्यानों में इस्लामी संस्कृति का स्वरूप (6) सूफ़ी प्रेमाख्यानों में भारतीय संस्कृति का स्वरूप (7) 'कीर्तिलता और कीर्तिपताका का ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन' इत्यादि।

शोध की अधिकतर दृष्टियाँ शास्त्रीय होती हैं, यथा सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि, काव्यशास्त्रीय दृष्टि, दर्शनशास्त्रीय दृष्टि। जिन दृष्टियों को वैज्ञानिक माना जाता है, वे भी विज्ञान की परिधि में नहीं आतीं, वरन् मूलतः शास्त्रीय ही हैं, यथा – मनोवैज्ञानिक दृष्टि, भाषावैज्ञानिक दृष्टि, शैलीवैज्ञानिक दृष्टि आदि। वास्तव में शोध-विषय में अध्ययन की दृष्टि का विशेष महत्त्व है। यह शास्त्रीय दृष्टि ही शोध-कार्य को शास्त्रीय स्तर और स्वरूप प्रदान करती है। शोध-प्रबन्ध के एक पूरे अध्याय में सैद्धान्तिक पक्ष के रूप में शोध-विषय में निर्धारित दृष्टि का शास्त्रीय स्वरूप विस्तारपूर्वक विवेचित किया जाता है। यह सिद्धान्त-पक्ष ही पूरे व्यावहारिक पक्ष या विषय-विवेचन का आधार बनता है। शोध-दृष्टि के विविध आयामों को केन्द्र में

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

रखकर ही व्यावहारिक पक्ष से सम्बन्धित सारे अध्याय लिखे जाते हैं। शोध-दृष्टि का निरूपण जितना स्पष्ट, वैज्ञानिक, सुचिन्तित ढंग से वर्गीकृत होगा, समूचा शोध-प्रबन्ध उतना ही चिन्तनपूर्ण, सुव्यवस्थित और युक्तिसंगत होगा।

शोध-क्षेत्र के साथ शोध-दृष्टि को संयुक्त करके शोध-विषय का निर्धारण करते समय शोधक की योग्यता, रुचि, प्रतिभा आदि को ध्यान में रखना नितान्त आवश्यक है। जिस प्रकार सभी शोधार्थी मध्यकालीन कविता पर शोध-कार्य नहीं कर सकते, उसी प्रकार सभी दार्शनिक या काव्यशास्त्रीय या भाषावैज्ञानिक दृष्टि से शोध नहीं कर सकते। प्रत्येक के शास्त्रीय ज्ञान की सीमाएँ हैं। अतः दृष्टि का निर्धारण शोधक की प्रतिभा और प्रवृत्ति के अनुरूप ही करना चाहिए।

शोध के शास्त्रीय स्वरूप की विशुद्धता को सुरक्षित रखने के लिए वैचारिक या दृष्टिगत दुराग्रह से सदैव मुक्त रहना अनिवार्य है। साम्प्रदायिकता का कोई भी रूप वैचारिक या दृष्टिगत कट्टरता से बढ़कर नहीं है। मतवाद से ग्रस्त दृष्टि स्वच्छ चिन्तन का मार्ग अवरुद्ध करती है। अध्यात्म-विमुख, पदार्थ-केन्द्रित साम्यवादी दृष्टि के निकष पर प्रगतिवादी कविता खरी उतरती है तथा अध्यात्म-केन्द्रित भक्ति काव्य और छायावादी कविता लिजलिजी अनुभूति से ग्रस्त तथा रूपवादी सिद्ध होती है। जो काव्य या साहित्य जिस दृष्टि से रचा ही नहीं गया, वरन् भिन्न दृष्टि से अनुप्राणित है, उसे उस दृष्टि पर कस कर असफल सिद्ध करना शोध-वृत्ति के प्रति घोर अन्याय ही कहा जायेगा। न्यायसंगत यही है कि किसी कृति का विश्लेषण उसी दृष्टि से किया जाना चाहिए, जिससे वह प्रेरित, स्पन्दित और अनुप्राणित होकर रची गयी है। वाद या सिद्धान्त के प्रति आग्रह या आसक्ति रखने वाला शोधक आरोपित दृष्टि से ग्रस्त परिकल्पना को स्थापना में परिणत करने के लिए या तो तथ्यों को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करता है या उनकी विकृत व्याख्या करता है या फिर उस कृति को ही असफल घोषित कर देता है। इससे सत्य का हनन होता है तथा असत्य और अज्ञान की प्रतिष्ठा होती है। यह स्थिति निश्चय ही चिन्त्य है।

एक शोध-विषय में एक ही दृष्टि का होना शोध की शुद्धता के लिए अनिवार्य है। इससे समूचा विवेचन स्पष्ट एवं सुग्राह्य रूप ग्रहण करता है। कई शोधक एक विषय में एकाधिक दृष्टियों का समावेश करके शोध-कार्य को दुर्बोध, अस्पष्ट और अवैज्ञानिक रूप प्रदान करते हैं। 'छायावादी काव्य में सौन्दर्य और प्रेम' ऐसा ही उलझा हुआ विषय है। कई शोधक बौद्धिकता के स्थान पर भावुकता से काम लेते हैं और तीन-तीन दृष्टियों से युक्त विषय चुन लेते हैं। 'तुलसी काव्य में सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' इसका उदाहरण माना जा सकता है। निष्कर्षतः शोध के शास्त्रीय स्वरूप के अनुरूप शोध-विषय में एक ही सुनिश्चित दृष्टि का होना नितान्त आवश्यक है।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शोध-कार्य की प्रगति के साथ शोध की तकनीक या प्रविधि में भी प्रगति हो रही है तथा तदनुरूप विषय-क्षेत्र भी उत्तरोत्तर सीमित होते जा रहे हैं और उनके अध्ययन की दृष्टियाँ भी सीमित और सूक्ष्म होती जा रही हैं। जहाँ पहले किसी काव्यकृति की काव्य-भाषा का सर्वांगीण दृष्टि से विवेचन अभीष्ट होता था, वहाँ अब सादृश्य-विधान, समानान्तरता, विचलन, प्रतीक-योजना, क्रिया पदबन्ध, छन्द-विधान आदि में से किसी एक दृष्टि को अपना कर अध्ययन किया जाने लगा है। इस प्रकार शोध-साधना स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर हो रही है।

अन्तरविद्यावर्ती शोध के विकास के कारण अब साहित्य का साहित्यिक या काव्यशास्त्रीय दृष्टियों के अतिरिक्त अनेक साहित्येत्तर दृष्टियों से भी अध्ययन होने लगा है। अब सांस्कृतिक, समाजशास्त्रीय, सौन्दर्यशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक, नीतिशास्त्रीय, मिथकीय आदि अनेक दृष्टियाँ साहित्य के विवेचन और मूल्यांकन का आधार बन रही हैं। स्वदेशी दृष्टियों के साथ विदेशी दृष्टियाँ भी साहित्य के अध्ययन में प्रयुक्त होने लगी हैं। अब आधुनिकता-बोध, अलगाववाद, अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषणवाद, विकासवाद, उत्तरआधुनिकतावाद आदि विदेशी चिन्तनों की दृष्टि से भी साहित्य के अध्ययन की परम्परा प्रारम्भ हो चुकी है। यह भिन्न बात है कि इन दृष्टियों को लागू करने में कई बार शोधक खींचतान की प्रवृत्ति से ग्रस्त दिखलाई पड़ते हैं।

2.3. तर्क-पद्धति

तर्क-पद्धति शोध का अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, जो शोध अवयवी के आन्तरिक गठन और गुणवत्ता को निर्धारित करता है। शब्दकोश के अनुसार तर्क का अर्थ है युक्ति, वाद-विवाद, कल्पना, सन्देह। तर्क प्रतिभा की वह बौद्धिक क्षमता है, जो तथ्यों में निहित सम्बन्ध-सूत्रों की खोज करती है। तथ्य स्थूल होते हैं, किन्तु उनमें निहित सम्बन्ध-सूत्र सूक्ष्म, वैचारिक होता है। तर्क स्थूल तथ्यों को अन्तःसंगति में गूँथने वाले उसी वैचारिक सम्बन्ध-सूत्र को पहचान लेता है और सामान्यीकरण के द्वारा उसे विचार-रूप में प्रस्तुत कर देता है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद में अग्नि, इन्द्र, वरुण, प्रजापति, विष्णु, पूषन् आदि अनेक देवताओं की स्तुतियों में यह विशिष्ट प्रवृत्ति पायी जाती है कि प्रत्येक देवता को सर्वोत्कृष्ट बताया गया है। ऐसी विचित्र स्थिति में ऋषियों के मन में यह प्रश्न उठना सर्वथा तर्कसंगत था कि वास्तव में सर्वोच्च देवता मान कर किस देवता को आहुति प्रदान की जाये - 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'। तर्क के सहारे ऋषिगण सब देवताओं में विद्यमान ब्रह्म रूपी एक चरम सत्य

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

या तत्त्व पर पहुँचे और निष्कर्ष निकाला कि वास्तव में सभी देवताओं में एक ही ब्रह्म सत्य या तत्त्व के रूप में निहित है, उसी परम तत्त्व को विद्वान् इन्द्र, वरुण आदि नामों से पुकारते हैं – 'एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति।' इस प्रकार ऋषिगण तर्कसम्मत आधार पर बहुदेववाद से एकेश्वरवाद या ब्रह्मवाद के सिद्धान्त पर पहुँच गए। बहुदेववाद के रूप में उपस्थित तथ्य का तर्कसम्मत मन्थन करने से तथ्य (बहुदेववाद) तत्त्व (एकेश्वर या ब्रह्मवाद) में परिणत हो गया। आगे चलकर यह ब्रह्मवाद ही आत्मा-परमात्मा की एकता के रूप में उपनिषदों के वेदान्त दर्शन या अद्वैतवाद का आधार बना।

जिज्ञासा, शंका, प्रश्नाकुलता, अनुमान तर्क के सहयोगी हैं। जिज्ञासा में तथ्यों में निहित तत्त्व को जानने की बलवती इच्छा या प्रेरणा सक्रिय रहती है। जिज्ञासा से तर्क-क्षमता प्रेरित होती है। शंका में तर्क को नकारात्मक दिशा में सक्रिय करने की प्रेरणा रहती है। शंका यह मानकर अग्रसर होती है कि हो सकता है, जिन तथ्यों के आधार पर अमुक तत्त्व पर पहुँचा गया है, वे तथ्य अतथ्य या निराधार हों अथवा ग़लत तर्क-पद्धति के अनुसरण द्वारा उस तत्त्व को अधिगत किया गया हो। यदि तथ्यों और तर्कों का परीक्षण करने पर शंका सही सिद्ध होती है तो पूर्व प्रतिष्ठित मान्यता का खण्डन हो जाता है। शंका के विपरीत, अनुमान सम्भावना पर आश्रित रहता है। यदि अनुमान तथ्यों और तर्कों से सिद्ध हो जाये तो वह तत्त्व या स्थापना का रूप ले लेता है। इस प्रकार तर्क दुधारी तलवार है, जो खण्डन भी कर सकती है और मण्डन भी। तर्क तथ्यों की पगडण्डी पर अग्रसर होता है। पगडण्डी तर्क को जिधर ले जाती है, वह उधर ही पहुँच जाता है। स्वभावतः तर्क तटस्थ है।

तर्क व्यक्ति की प्रतिभा से प्रसूत होने पर भी अपने शुद्ध रूप में सर्वथा तटस्थ और निरपेक्ष होता है। तर्क स्वभावतः वस्तुनिष्ठ और तत्त्वोन्मुखी है, किन्तु कोई व्यक्ति अपने व्यक्तिगत दुराग्रहों या निजी मान्यताओं की पुष्टि के लिए तर्क का प्रयोग करने लगता है, तो तर्क अपने स्वरूपगत तटस्थ, शुद्ध बौद्धिक स्तर से गिर जाता है। आचार्य वात्स्यायन ने 'प्रमाणानामनुग्राहकः तर्कः' कह कर तर्क को प्रमाणों, तथ्यों या साक्ष्यों का अनुसरण करने वाला बतलाया है। जब तर्क तथ्यों की पगडण्डी से हटकर हवा में कुलाचें मारने को विवश कर दिया जाता है, तब वह सत्य के लक्ष्य से भटक कर असत्य का पोषण करने में प्रवृत्त होता है। हत्यारे को निर्दोष सिद्ध करने के लिए वकील मनगढ़न्त तथ्यों या साक्ष्यों की ऐसी शृंखला तैयार करता है कि हत्यारा तर्कसंगत रूप में ही निर्दोष प्रतीत होने लगता है और अनेक बार न्यायाधीश भी उसकी बहस को सुनकर प्रभावित होता है और दोषी को मुक्त कर देता है। न्यायनिष्ठ न्यायाधीश भी वकीलों के तर्क-जाल में फँसकर ग़लत निर्णय सुना देते हैं।

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सामान्यत: शोधक को वकील की स्वपक्ष-पोषक भूमिका में न रहकर दोनों पक्षों पर सन्तुलित एवं न्यायसंगत दृष्टि से विचार करके सही निर्णय देने वाले न्यायाधीश की भूमिका में अवस्थित रहना चाहिए। न्यायदर्शन में तर्क के मनमाने रूपों या तर्काभासों के अनेक उदाहरण दिये गये हैं। सच्चे शोधक को तर्काभासों से मुक्त रहकर तर्क का सतर्कतापूर्वक सही उपयोग करना चाहिए।

निष्कर्षत: तर्क तथ्याख्यान से लेकर तत्त्वानुसन्धान तक की समूची शोध-प्रक्रिया में प्राण-तत्त्व की भाँति संचरणशील है। तर्क-पद्धति शोध की मूल जीवनी शक्ति है। तर्क शोध अवयवी में रक्तवाहिनी नाड़ियों के जाल की भाँति व्याप्त है। प्रबल तर्क-शक्ति से शून्य मन्दबुद्धि शोधक से शोध में अच्छे परिणामों की आशा नहीं कर सकते। तीक्ष्ण तर्कशक्ति से युक्त प्रखर प्रतभा वाला शोधक ही अपने अकाट्य प्रमाणों से सर्वमान्य निष्कर्षों और स्थापनाओं से युक्त उच्चस्तरीय शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करने में सफल होता है।

2.4. शोध-प्रविधि

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, शोध-प्रविधि शोध का तकनीकी पक्ष है, जो शोधक की प्रतिभा से जुड़कर शोध का अन्तर्वर्ती तत्त्व बन जाता है। वास्तव में शोध-प्रविधि कोई बाहरी या विजातीय तत्त्व नहीं है, वरन् वह शतियों के शोध-अनुभव और मानक शोध-प्रबन्धों के भीतर से ही विकसित हुआ है। जो शोध-प्रविधि वर्षों के शोध-अनुभव के भीतर से उपजी है, उसमें वर्तमान शोध-क्रिया के भीतर प्रवेश पाने और उसके स्वरूप को अनुशासित करने की नैसर्गिक क्षमता होती है। प्रविधि विगत अनुभवों से अर्जित तकनीकों के तार्किक संयोजन से विकसित वह तन्त्र है, जिसके सम्यक् अनुसरण और उपयोग से किसी कार्य को पूरी दक्षता और सफलता के साथ सम्पन्न करने में सहायता मिलती है। वस्तुत: शोध-प्रविधि ही शोध के स्वरूप को नियन्त्रित और अनुशासित करने वाला शोध-तन्त्र या शास्त्र है। मानक शोध-प्रविधि या शोधशास्त्र के व्यावहारिक उपयोग से शोधक की दक्षता में वृद्धि होती है, शोध-कार्य स्तरीय और मानक रूप ग्रहण करता है तथा उसमें अन्तर्गठन से प्रबन्धात्मकता आती है।

शोध-प्रविधि में तकनीकों के मानकीकरण की प्रेरणा निहित रहती है। इसलिए स्वयं शोध-प्रविधि भी विकास के कतिपय सोपानों को पार करके मानक रूप ग्रहण करने की दिशा में प्रवृत्त रहती है। फिर भी शोध-प्रविधि को नितान्त जड़, यान्त्रिक, रूढ़िग्रस्त, स्थिर विधान या शास्त्र मानना उपयुक्त न होगा। शोध-प्रविधि सचेत,

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

गत्वर, विकासोन्मुख शोध-क्रिया से जन्म लेती है और फिर सचेत शोध-व्यापार को दिशा, दृष्टि और गति प्रदान करती है। ऐसी स्थिति में शोध-प्रविधि में एक नैसर्गिक नमनीयता और विकासोन्मुखता की व्यावहारिक प्रेरणा निहित रहती है। साहित्यिक शोध-प्रविधि पर तो यह कथन विशेष रूप से लागू होता है। प्रत्येक शोधक अपनी क्षमता के अनुरूप ही शोध-प्रविधि का उपयोग करता है। अत: सभी के शोध-प्रबन्धों में शोध-प्रविधि का व्यवहृत रूप भिन्नता लिये हुए होता है। यह भिन्नता साहित्यिक शोध में स्वयं साहित्य के सृजनात्मक और वैविध्यपूर्ण स्वरूप के कारण आती है। फिर भी समय-समय पर शोध-प्रविधि में संशोधन किये जाते रहते हैं और मानकीकरण की प्रक्रिया भी सतत गतिशील रहती है। विज्ञान का स्वरूप बहुत कुछ परिभाषित और निश्चित है। अत: विज्ञान की शोध-प्रविधि अपेक्षाकृत अधिक स्थिर और मानक होती है। वैज्ञानिक पद्धति या तकनीक का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि इसे मानक रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है और इसकी शिक्षा भी दी जा सकती है, जिससे प्रशिक्षित एवं योग्य अनुसन्धाता इसे समान रूप में लागू कर सके :

"One essential aspect of scientific technique is that it can be stated in a standard form and can be tautht, so that trained and competent investigators can apply it in the same fashion". (Ed. Leon Festinger, Research Methods in the Behavioural Science, p.6)

शोध-प्रविधि पर लिखी गयी दर्जनों पुस्तकों के अध्ययन से स्पष्ट है कि उनमें परस्पर अनेक भिन्नताएँ हैं। इसीलिए हम अभी तक सन्दर्भोल्लेख और पादटिप्पणियों के सम्बन्ध में भी कोई निश्चित विधि नही विकसित कर पाये हैं। पाश्चात्त्य पद्धति के अन्धानुसरण से भी काफ़ी घपला हुआ है। क्या सुरेश गुप्त को गुप्त सुरेश लिखने से लेखन में बौद्धिकता की वृद्धि होती है? फिर नगेन्द्र, रामेश्वरलाल खण्डेलवाल 'तरुण', सारस्वत मोहन 'मनीषी', लालचन्द गुप्त 'मंगल' आदि नामों को लिखने की क्या विधि होगी? यदि लेखक अपना नाम जिस रूप में लिखता है, शोधक भी उसे उसी रूप में लिखे, तो क्या शोध के स्तर में गिरावट आ जायेगी? परिशिष्ट में दी गयी 'सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची' में भी न तो समरूपता पायी जाती है और न ही सारी वांछित सूचनाएँ दी जाती हैं। नामों और विषयों की अनुक्रमणिका देने का तो अभी प्रचलन ही नहीं हो पाया है। अपवादस्वरूप ही कहीं किसी शोध-प्रबन्ध में इसका समावेश देखने को मिलता है। सच तो यह है कि साहित्यिक शोध में भी जिस सीमा तक मानकीकरण सम्भव हो, वहाँ तक तो इसे गम्भीरतापूर्वक करना ही चाहिए। इसकी अवहेलना से मानसिक शैथिल्य और दायित्वहीनता का ही बोध होता है, जो

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

निश्चय ही चिन्ताजनक है। यदि हम यथासम्भव शोध-प्रविधि का मानकीकरण करेंगे, तो शोध-प्रविधि यथासम्भव हमारी सहायता करेगी!

2.5. तत्त्व-बोध या निष्कर्ष

तत्त्वान्वेषण अथवा निष्कर्षण शोध की आत्मा है। यह शोध के अन्य सभी घटक तत्त्वों के केन्द्र में अधिष्ठित मूल तत्त्व है। तत्त्वान्वेषण ही शोध-साधना का साध्य है। साहित्यिक शोध में साहित्यिक कृति का मन्थन या विश्लेषण शोधक का लक्ष्य होता है। शोध-प्रबन्ध के विभिन्न अध्यायों में किये गये तथ्यों के विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्षों को शोधक शोध-प्रबन्ध के अन्त में 'उपसंहार' में संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत करता है। यह 'उपसंहार' सभी अध्यायों के निष्कर्षों का भी निष्कर्ष या समाहार होता है। स्पष्ट है कि समूचे शोध-प्रबन्ध में विश्लेषण और संश्लेषण की प्रक्रिया चलती रहती है। प्रत्येक अध्याय में तथ्यों के विश्लेषण की परिणति संश्लेषण या निष्कर्षण में होती है। इसी प्रकार समूचे शोध-प्रबन्ध के सारे अध्यायों के विश्लेषण-संश्लेषण की परिणति 'उपसंहार' के रूप में संश्लेषण में ही होती है। यह संश्लिष्ट उपसंहार ही शोध का सार-तत्त्व है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि साहित्यकार की दृष्टि मूलतः सृजनात्मक और संश्लिष्ट होती है। इसके विपरीत शोधक की दृष्टि मूलतः वैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक होती है। जीवन और जगत् के विविध बोध और अनुभव साहित्यकार की कृति में संश्लिष्ट रूप में समाहित रहते हैं। प्रत्येक साहित्यिक कृति में एक समग्र चिन्तन या जीवन-दर्शन निहित रहता है। शोधक का कार्य कृति में निहित उस तत्त्व-चिन्तन या जीवन-दर्शन की खोज करना होता है। कवि अपने अनुभव के आधार पर एक संश्लिष्ट चिन्तन प्रस्तुत करता है, जिसमें बोध के विविध आयाम अनुभूति की ऊष्मा में विगलित होकर समन्वित रहते हैं। शोधक एक विश्लेषक की भूमिका में उतर कर पहले बोध के आयामों और उनके निरूपक तथ्यों को पहचानता और चुनता है, फिर उनका विश्लेषण-विवेचन करता है और बाद में संश्लेषण के माध्यम से निष्कर्ष-रूप में उस तत्त्व-चिन्तन तक पहुँचता है। इस प्रकार शोधक भी तत्त्वदर्शी होता है, किन्तु जहाँ साहित्यकार का तत्त्व-दर्शन या चिन्तन भावना और कल्पना में लिपट कर प्रच्छन्न रूप में अभिव्यक्त होता है, वहाँ शोधक की तत्त्वान्वेषण की पद्धति विशुद्ध बौद्धिक और वैज्ञानिक होती है। उसकी तर्क-पद्धति तथ्यानुसरण, तथ्याख्यान के सहारे तत्त्व-बोध तक पहुँचती है।

तत्त्वान्वेषण का ठोस बौद्धिक आधार है : तथ्यानुसन्धान और तथ्याख्यान।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उदाहरण के लिए कबीर की रहस्यानुभूति के निरूपक कुछ तथ्य यहाँ प्रस्तुत हैं :

(1) हरि जननी मैं बालक तोरा।

(2) हरि मेरो पिउ मैं राम की बहुरिया।

(3) कबिरा कूता राम का मुतिया मेरा नाउँ।

(4) तन रति करि हौं मन रति करिहौं पांचों तत्त बराती।
रामदेव मोहि ब्याहन आये मैं यौवन मदमाती॥

(5) बिरहिन ऊठै भी पड़ै दरसन कारन राम।
मूए पाछै देहुगे, सो दरसन केहि काम॥

इन तथ्यों के मन्थन से कबीर की रहस्यानुभूति के विषय में कई तत्त्व उभरते हैं : (1) कबीर ने अपने हरि को जननी, प्रियतम और स्वामी माना है। भक्ति के वात्सल्य, माधुर्य, दास्य भाव-भेद यहाँ मौजूद हैं। (2) कबीर प्रियतम के रूप में अपने राम से तन-रति और मन-रति करना चाहते हैं और राम के दर्शन के लिए आतुर हैं। इससे स्पष्ट है कि उनके राम सगुण, साकार हैं। हाँ 'रामदेव' होते हुए भी वे दशरथ के पुत्र और सीता-पति राम नहीं हैं। कृष्ण या राम की भाँति कबीर के राम की कोई विशिष्ट पहचान नहीं है। इतना होने पर भी यहाँ सगुणोपासना तो स्पष्ट है। 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' तथा 'परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च' के अनुसार ईश्वर के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है। ऐसी स्थिति में इसे रहस्यानुभूति कहकर कबीर की सगुणोपासना पर आवरण नहीं डाला जा सकता। वास्तव में रहस्यानुभूति भी तो आत्मा की परमात्मा के प्रति प्रेमानुभूति ही है। अतः वह भक्ति से भिन्न नहीं है। मूलतः तो भक्तों के राम और कृष्ण भी निर्गुण ही हैं।

स्पष्ट है कि तत्त्वान्वेषण से ही ज्ञान-क्षेत्र की सीमा का विस्तार होता है। पुराने विषयों पर नयी दृष्टि से तथा वर्तमान विषयों पर पुरानी दृष्टि से शोध करने से तत्त्व-चिन्तन के नये क्षितिज खुलते हैं।

शोध की गति स्थूल से उत्तरोत्तर सूक्ष्म की ओर उन्मुख है। जहाँ प्रारम्भिक शोध-प्रबन्धों में तथ्यानुसन्धान पर ही विशेष बल था, वहाँ अब तत्त्वानुसन्धान पर अधिक बल है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि शोधक का तत्त्व-चिन्तन तथ्याश्रित और तर्कसम्मत ही होता है; वह किसी योगी या ब्रह्मज्ञानी के रहस्यमय, आत्मनिष्ठ चिन्तन से सर्वथा भिन्न होता है। सच तो यह है कि शोधक तो रहस्यानुभूति, भक्ति, अध्यात्म आदि अलौकिक अनुभूतियों की भी लोक-सापेक्ष, बुद्धिग्राह्य, तर्कसम्मत, वैज्ञानिक या मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। शोध का सारा बोध बुद्धि के क्षेत्र का सत्य है, जिसकी प्रामाणिकता तथ्यों और तर्कों पर निर्भर होती है।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सारा ज्ञान सामान्य से विशिष्ट और विशिष्ट से सामान्य की ओर उन्मुख रहता है। जिस प्रकार व्यक्तिवाचक (राम आदि) से जातिवाचक (मानव) और फिर भाववाचक (मानवता) तक तर्कसम्मत ढंग से पहुँचा जाता है, उसी प्रकार भाववाचक (मानवता) से जातिवाचक (मानव) और फिर व्यक्तिवाचक (राम आदि) तक पहुँचा जाता है। प्रथम तर्क-पद्धति को यों प्रस्तुत किया जा सकता है : (1) राम में महान् मानवीय गुण हैं, (2) अतः वे महान् मानव हैं। (3) अतः राम में मानवता साकार हुई है। यह पद्धति विशेष तथ्य से सामान्य सत्य की ओर उन्मुख होने के कारण तथ्याश्रित है। इसे आगमनात्मक तर्क-पद्धति (inductive method of reasoning) कहते हैं। यह वैज्ञानिक पद्धति है। दार्शनिक चिन्तन में किसी सामान्य तत्त्व या सत्य की मूल स्थापना से फिर विशिष्ट सत्य या तथ्य की ओर अग्रसर होने की तर्क-पद्धति का प्रश्रय लिया जाता है। इस तर्क-पद्धति को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है : (1) महान् मानवीय गुणों का योग ही मानवता है। (2) अतः मानवता से युक्त व्यक्ति ही महान् मानव है। (3) राम मानवता से युक्त होने के कारण महान् मानव हैं। इस तर्क-पद्धति को निगमनात्मक तर्क-पद्धति (deductive method of reasoning) कहा जाता है। शोध में वैज्ञानिकता पर बल रहन के कारण आगमनात्मक तर्क-पद्धति का ही अधिक उपयोग किया जाता है, किन्तु आवश्यकता के अनुसार निगमनात्मक पद्धति का उपयोग भी किया जाता है। ऐसा तत्त्व-चिन्तन के अवसरों पर किया जाता है। तत्त्व-चिन्तन के क्षणों में शोधक भी दार्शनिक की भूमिका में अवस्थित होता है। गहन समालोचनात्मक स्थलों पर इस पद्धति का उपयोग अनिवार्य हो जाता है। उदाहरण के लिए कविता के बिम्बधर्मी स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा जाता है कि कविता में अमूर्त या सामान्य अर्थ-बोध से काम नहीं चलता। इसमें अमूर्त अर्थों के बिम्ब-विधान की आवश्यकता है, जिसमें सामान्य अर्थ विशेष सन्दर्भ के सहारे मूर्त रूप ग्रहण करता है। 'मानवता का मार्ग ही सर्वश्रेष्ठ है' कहने से पूरा आशय हृदयंगम नहीं होता, इसीलिए मानवता की अवधारणा को साकार करने के लिए राम या किसी अन्य महामानव के विशेष सन्दर्भ का सहारा लेकर मानवता का प्रत्यक्ष दर्शन कराया जाता है। इस विवेचन के आलोक में कविता की निगमनात्मक तर्क-पद्धति के आधार पर परिभाषा करते हुए लिखा जा सकता है कि 'कविता में अमूर्त, सामान्य या निर्विशेष अर्थों की नीरस, दुर्ग्राह्य अभिव्यक्ति से काम नहीं चलता। अतः कविता में अमूर्त अनुभूतियों को विशेष सन्दर्भों के सहारे छन्दोबद्ध, सरस, संगीतात्मक, बिम्बधर्मी भाषा में मूर्त रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार, विशिष्ट सन्दर्भों के सहारे अमूर्त अनुभूतियों का संगीतमय, सरस सम्मूर्तन ही कविता है। स्पष्ट है कि इस विवेचन में दार्शनिक चिन्तन-पद्धति का सहारा लिया

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

गया है।

2.6. शोध की भाषा-शैली

मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जो भाषा के रूप में सभी प्रकार के ज्ञान को सुरक्षित रखता है। जिस प्रकार शोध में निहित बोध स्थूल तथ्यों से लेकर सूक्ष्म तत्त्वों तक व्याप्त रहता है, उसी प्रकार भाषा में स्थूल तथ्यों से लेकर सूक्ष्म विचारों तक के सभी बोधों के बोधक शब्दों की व्यवस्था रहती है। नये बोधों, शास्त्रों आदि के निरूपण के लिए उपयुक्त शास्त्रीय या पारिभाषिक शब्दावली निरन्तर विकसित होती रहती है तथा ज्ञान-विस्तार के साथ-साथ भाषा का शब्द-कोश भी बढ़ता रहता है। शास्त्र की भाषा पारिभाषिक होती है। 'संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ' के अनुसार 'परिभाषा' का अर्थ है, 'किसी का ऐसा नपा-तुला परिचय, जिससे उसके स्वरूप, गुण, वैशिष्ट्य आदि का यथार्थ ज्ञान हो जाए; लक्षण; किसी शास्त्र, कला या विद्या के क्षेत्र में विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होने वाला शब्द।' इस प्रकार परिभाषा विविध शास्त्रों या ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों से सम्बद्ध प्रत्ययों या अवधारणाओं के सुनिश्चित अर्थ या स्वरूप को कम से कम शब्दों या वाक्यों में निरूपित करने का बौद्धिक और भाषिक प्रयास है। ज्ञान और विज्ञान की भाषा पारिभाषिक होती है, अर्थात् इसमें प्रत्येक शब्द के अर्थ असीम, अनिश्चित न होकर सीमित, सुनिश्चित और तर्कसम्मत रूप से बोधगम्य होते हैं। उदाहरण के लिए दर्शन में जीव, जगत्, माया, मोक्ष आदि शब्दों के अर्थ सुनिर्धारित होते हैं। राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि समाजशास्त्रीय विषयों में भी राज्य, राष्ट्र, राष्ट्रीयता, श्रम, साहस, पूंजी आदि शब्द पारिभाषिक स्तर पर निश्चित अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। विज्ञान की तो सारी वाक्य-संरचना ही पारिभाषिक या तकनीकी शब्दावली पर आश्रित होती है। ज्ञान-विज्ञान की पारिभाषिक भाषा के विपरीत साहित्य की भाषा लाक्षणिक, व्यंजनामूलक, प्रतीकात्मक, आलंकारिक, बिम्बधर्मी होने के कारण असीम और अनिश्चित अर्थों की निरूपक होती है। कविता में शास्त्रीय या पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग को दोष माना जाता है। इसके विपरीत शास्त्रीय भाषा पारिभाषिक, कोशगत, तथ्यपरक और तत्त्वबोधक होती है। जैसा कि पहले कई बार उल्लेख किया जा चुका है, शोध भी एक शास्त्र है। अतः शोध की भाषा भी अपने प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप शास्त्रीय स्तर अर्जित कर लेती है। काव्यशास्त्र, शैली-विज्ञान, भाषा-विज्ञान, मनोविज्ञान, सौन्दर्य-शास्त्र आदि से सम्बन्धित शोध-विषय की भाषा का स्तर पारिभाषिक या शास्त्रीय स्तर प्राप्त कर लेता है।

संक्षेप में, शोध की भाषा अर्थ-बोध अर्थात् तथ्य-बोध और तत्त्व-बोध की भाषा होती है। इसमें आलंकारिकता, प्रतीक-योजना, लक्षणा-व्यंजना, बिम्ब-विधान,

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शब्दाडम्बर, भावोच्छ्वासपूर्ण शब्दावली आदि के प्रयोग के लिए तनिक भी अवकाश नहीं है। आलंकारिक या ललित भाषा का प्रयोग शोध के सुनिश्चित अर्थों का संवाहक नहीं हो सकता। 'छायावादी कविता के चार प्रमुख कवि हैं' के स्थान पर यह लिखना कि 'प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी छायावाद के भव्य भवन के चार स्वर्ण-स्तम्भ हैं' सर्वथा अनुचित है। काव्यात्मक या अलंकृत भाषा से शोध-बोध में अनिश्चितता और भ्रामकता आती है तथा इससे बोध के साथ ही अभिव्यक्ति का स्तर गिरता है।

शोधक की भाषा उसके बोध के स्तर की द्योतक होती है। जिसका भाषा-पक्ष दुर्बल होता है, उसका बोध-पक्ष भी दुर्बल ही होता है। शोध एक अनुशासन है, जिससे बोध भी अनुशासित रहता है और भाषा भी। यदि शोधक के पास विषयानुरूप शास्त्रीय भाषा नहीं है, तो वह बोध के विविध पक्षों की बारीकियों में नहीं उतर सकता। भाषा चिन्तन की संवाहिका ही नहीं, वरन् स्वयं चिन्तन ही है। सारा चिन्तन भाषा में ही जन्म लेता है। भाषा के बिना तो हम सोच ही नहीं सकते। जिनके पास जितनी समर्थ भाषा है, वे उतने ही बड़े चिन्तक हैं। चिन्तन और भाषा अभिन्न हो जाते हैं। सूक्ष्म भाषा से ही सूक्ष्म चिन्तन सम्भव है। यदि हमारे पास सूक्ष्म शब्दावली या भाषिक क्षमता नहीं है तो हम सूक्ष्म तथा मौलिक चिन्तन में प्रवृत्त नहीं हो सकते। शोधक की भाषा उसके ज्ञान और तर्कशक्ति के स्तर को निर्धारित करती है। अतः शोध-प्रबन्ध की भाषा शोध का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटक तत्त्व है।

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में, निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मूलतः शोधक की प्रतिभा और शोध-विषय के सम्पर्क से ही शोध-कार्य का विकास होता है। शोधक की प्रतिभा शोध-विषय में निर्धारित शोध-दृष्टि को अपना कर तर्क-पद्धति, शोध-प्रविधि और उपयुक्त भाषा के माध्यम से शोध-क्षेत्र में विकीर्ण तथ्यों के वर्गीकरण, विश्लेषण के द्वारा निष्कर्षण या तत्त्वान्वेषण तक पहुँचती है। अतः शोधक की प्रतिभा ही शोध-प्रबन्ध के सारे घटक तत्त्वों को समन्वित करने वाला सूत्र है, जो सारे तत्त्वों को संयुक्त करके एक अवयवी का आकार प्रदान करता है।



CC0. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अध्याय – 3

शोध के प्रयोजन

मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। अतः उसका प्रत्येक कार्य लक्ष्यनिष्ठ और साभिप्राय होता है। शोध भी एक लक्ष्योन्मुख, सोद्देश्य क्रिया है। शोधशीलता मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्ति है। यद्यपि अज्ञान अनादि और अनन्त है, तथापि मनुष्य की अज्ञान से मुक्ति पाने और ज्ञान के क्षेत्र को अधिकाधिक विकसित और विस्तृत करने की प्रेरणा और प्रयत्न-परम्परा भी अक्षुण्ण और अनन्त है। अज्ञान से ज्ञान का यह अनवरत, अनन्त द्वन्द्व ही मानव-जीवन की प्रगति का मूल आधार है। ज्ञान-साधना साधना का सर्वोच्च रूप है। ज्ञान-विस्तार द्वारा मानव-जीवन के विकास और कल्याण के कार्य में अपना अमूल्य योगदान देने वाले सच्चे साधक और शोधक मानवीय सभ्यता और संस्कृति के विकास के इतिहास में अपना नाम अमर कर गये। विद्या या ज्ञानोपासना से ही साधक अमरत्व को प्राप्त करता है – 'विद्ययाऽमृतमश्नुते'। मानव की समग्र भौतिक और सांस्कृतिक प्रगति का मूल आधार ज्ञान ही है। ज्ञान का प्रयोजन ही है मानव-कल्याण। अज्ञान अमंगलकारी है तो ज्ञान मंगल-विधायक। अज्ञान विकृति का स्रोत है तो ज्ञान संस्कृति का अमोघ उत्स है। गीता में कहा गया है कि ज्ञान के समान पावन इस विश्व में अन्य कोई वस्तु नहीं है – 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।'

अपने व्यापक रूप में शोध के अन्दर ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्र समाहित हैं। सभी का पावन प्रयोजन है जीवन और जगत् के विविध क्षेत्रों में बहुमुखी प्रगति और रचनात्मक विकास-कार्यों का मार्ग प्रशस्त करना। शोध का प्रयोजन मानव-समाज का भौतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि दृष्टियों से विकास करना तो है ही साथ ही स्वयं ज्ञान का विकास करते रहने भी उसका परम प्रयोजन है। इस ज्ञान-साधना में

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

स्वयं शोधक का कल्याण भी निहित रहता है। अतः शोध के प्रयोजनों को हम तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं – प्रगति-केन्द्रित प्रयोजन, ज्ञानवृद्धि-केन्द्रित प्रयोजन तथा शोधक-केन्द्रित प्रयोजन।

3.1. प्रगतिकेन्द्रित प्रयोजन

मानव-सभ्यता का इतिहास मानव की शोध-वृत्ति और उसके द्वारा किये गये अनुसन्धानों, आविष्कारों के फलस्वरूप घटित बहुविध विकास का ही इतिहास है। यह विकास स्थूल भौतिक प्रगति के साथ ही सामाजिक-सांस्कृतिक प्रगति के सूक्ष्म स्तरों पर भी परिलक्षित होता है। शोध के भिन्न-भिन्न रूपों ने विकास के विविध रूपों को जन्म दिया है।

विज्ञान के क्षेत्र के शोध-कार्यों के प्रयोजनों के परिणाम सबसे अधिक स्पष्ट दिखलायी पड़ते हैं। वैज्ञानिक शोधों और आविष्कारों ने विश्व के मानचित्र को बदल कर रख दिया है। विज्ञान द्वारा की गयी भौतिक प्रगति के व्यापक रूप से सभी भली प्रकार अवगत हैं। अन्तरिक्ष-यात्रा से लेकर चिकित्सा, कम्प्यूटर, दूरसंचार आदि के क्षेत्र में आशातीत प्रगति हुई है। नित्य नयी तकनीकों के विकास ने भौतिक प्रगति के असंख्य द्वार खोल दिये हैं।

समाजवैज्ञानिक विषयों – समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान आदि के क्षेत्र में भी नयी चिन्तन-पद्धतियों का निरन्तर विकास हो रहा है। इनके कारण सामाजिक रूपान्तरण की क्रिया तीव्र से तीव्रतर होती जा रही है। यह सही है कि भौतिक और वैचारिक क्षेत्र के शोध का कुछ सीमा तक दुरुपयोग भी हो रहा है, किन्तु उसके लिए शोध और उसके प्रयोजन उत्तरदायी नहीं हैं, वरन् वे सत्ताधारी नेता हैं, जो अपनी संकीर्ण एवं दूषित मनोवृत्तियों से परिचालित होने के कारण ज्ञान-विज्ञान का दुरुपयोग करते हैं।

यहाँ यह उल्लेख्य है कि जीवन का विकास केवल बाह्य, भौतिक प्रगति पर ही आश्रित नहीं है। सच तो यह है कि बाह्य प्रगति को नियन्त्रित और सुनियोजित करने के लिए आन्तरिक प्रगति कहीं अधिक अपेक्षित है। इस आन्तरिक विकास को ही सांस्कृतिक समुन्नति कहा जाता है, जिसमें कुमतिजन्य विकृतियों पर सुमतिप्रसूत सद्भावों तथा सद्विचारों का नियन्त्रण रहता है। यह सांस्कृतिक समुन्नति साहित्य, भाषा, कला तथा इन पर किये जाने वाले शोध-कार्य से ही सम्भव है। विज्ञान पदार्थ केन्द्रित है और पदार्थ जड़ है, जिसकी कोई नैतिकता नहीं। इसके विपरीत साहित्य में हित की भावना सर्वोपरि है। साहित्य, कला आदि की केन्द्रीय प्रेरणा और प्रयोजन है

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मानव-कल्याण। मानव-कल्याण का स्रोत है नैतिकता और मूल्य-बोध। यह मूल्य-बोध ही संस्कृति का प्राण है। साहित्यिक और कला-विषयक शोध के द्वारा इन्हीं मूल्यों का तलस्पर्शी उद्घाटन किया जाता है। जो राष्ट्र साहित्य, कला और इनसे सम्बन्धित शोध के माध्यम से अपने जीवन-मूल्यों और कला-मूल्यों की संवाहिका सांस्कृतिक चेतना का निरन्तर सजगतापूर्वक पोषण और संवर्द्धन करते हैं, वे भौतिक प्रगति को भी राष्ट्र-निर्माण और विश्व-कल्याण की दिशा में उन्मुख करने में सफल रहते हैं और अन्धी भौतिकता के विनाशकारी परिणामों से मुक्त रहते हैं।

3.2. ज्ञानवृद्धिकेन्द्रित प्रयोजन

शोध का प्रमुखतम प्रयोजन तो ज्ञान ही है। निष्काम ज्ञान-साधना ही सबसे बड़ी साधना है। ज्ञानार्जन स्वयं कर्म भी है और कर्मफल भी। यह साधना भी है और सिद्धि भी। एन्साइकोपीडिया ब्रटेनिका के खण्ड (19) में 'रिसर्च' शब्द की व्याख्या के अन्तर्गत शोध के इसी उदात्त उद्देश्य पर प्रकाश डाला गया है, जिसमें शोधक का मूल प्रयोजन ज्ञान-क्षेत्र का विस्तार होता है, न कि किसी प्रकार की लौकिक लब्धियाँ : "The purpose of fundamental or theoretical research in any branch of science is to add to the sum total of human knowledge, regardless of practical results or profits."

यहाँ जो बात विज्ञान-विषयक शोध के सम्बन्ध में कही गयी है, वह साहित्यिक शोध पर भी पूरी तरह घटित होती है।

शोध के सम्बन्ध में विश्वविद्यालयों द्वारा निर्धारित नियमों के आधार पर भी शोध का मूल प्रयोज़न तथ्याश्रित तत्त्व-बोध ही प्रतीत होता है। दिल्ली विश्वविद्यालय की शोध-नियमावली के अनुसार शोध-प्रबन्ध में शोधक की तथ्यान्वेषण, मौलिक तथ्याख्यान, समीक्षात्मक परीक्षण तथा निर्णय की क्षमता के साथ सुष्ठु साहित्यिक प्रस्तुति की क्षमता का प्रमाण मिलना चाहिए। नियम का मूल रूप इस प्रकार है :

"It must be a piece of research-work characterised either by the discovery of new facts, or by a fresh interpretation of facts or theories; in either case it should evince the candidate's capacity for critical examination and judgement. It shall also be satisfactory so far as its literary presentation is concerned."

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उपर्युक्त उद्धरण में शोध-साधना के ज्ञानात्मक प्रयोजन को समग्र रूप में प्रस्तुत किया गया है। शोध का प्रयोजन तथ्याख्यान और तत्त्वान्वेषण के माध्यम से नये सिद्धान्तों की स्थापना द्वारा ज्ञान-क्षेत्र का विस्तार करना है। उद्धरण में शोध-प्रबन्ध या 'थीसिस' को 'शोध-कार्य का अंश' (a piece of research-work) कहा गया है, जो इस आशय का द्योतक है कि कोई भी एक शोधक पूर्ण सत्य की खोज नहीं कर सकता। वह अपने प्रयत्नों द्वारा ज्ञान-विस्तार के क्षेत्र में आंशिक योगदान ही कर सकता है। ज्ञान अनन्त है। अतः ज्ञान-प्राप्ति के प्रयत्नों की भी कोई सीमा नहीं है। सभी शोधक अपने-अपने शोध-प्रयासों द्वारा ज्ञान-विस्तार के क्षेत्र में अपना अंश-दान करते हैं। अंश - अंश के क्रम से पूर्णता की ओर अग्रसर रहने के उद्देश्य से शोध-कार्य निरन्तर वांछनीय है। ज्ञान की सकारात्मक साधना में ज्ञान का प्रसार जितना आवश्यक है, ज्ञान की नकारात्मक साधना में अज्ञान का परिहार उतना ही महत्त्वपूर्ण है। अतथ्य और असत्य का निराकरण उतना ही महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् है, जितना तथ्य और सत्य का प्रतिष्ठापन। ज्ञान-विस्तार की नकारात्मक-सकारात्मक प्रक्रिया में चुके हुए पुरातन सिद्धान्तों का निरस्तीकरण होता चलता है और उनके स्थान पर नये सिद्धान्त स्थापित होते चलते हैं।

ज्ञान के तीन व्यापक क्षेत्र या स्तर हैं : (1) भौतिक ज्ञान (physical knowledge) (2) वैचारिक ज्ञान (conceptual knowledge) तथा (3) आध्यात्मिक ज्ञान (spiritual knowledge)। भौतिक ज्ञान का विकास वैज्ञानिक शोध का प्रयोजन है। वैचारिक ज्ञान का विकास साहित्य, दर्शन, समाजशास्त्र आदि का प्रयोजन है। आध्यात्मिक ज्ञान पराभौतिक होने के कारण तथ्यों और तर्कों की बौद्धिक सीमा से परे है। वह व्यक्तिनिष्ठ और स्वानुभूतिपरक है। तथ्यों और तर्कों की बौद्धिक सीमा से बाहर होने के कारण वह शोध के नैसर्गिक क्षेत्र से बाहर पड़ता है।

शोध के ज्ञानवृद्धिकेन्द्रित प्रयोजनों में एक आनुषंगिक प्रयोजन है तर्क-पद्धति और शोध-प्रविधि की जानकारी द्वारा व्यवस्थित चिन्तन-मनन और लेखन-विधि का ज्ञान। एम.लिट्. और एम.फिल. जैसी पूर्व पीएच.डी. उपाधियों का तो लक्ष्य ही यह होता है कि शोधार्थी विषय-क्षेत्र पर निश्चित दृष्टि से तर्क-पद्धति को लागू करते हुए तथ्यों की सही व्याख्या करना सीखे तथा शोध-प्रविधि का सम्यक् उपयोग करते हुए विवेचित तथ्यों के सन्दर्भों के उल्लेख की विधि तथा सन्दर्भों को पादटिप्पणियों में निर्दिष्ट करने की पद्धति का सम्यक् प्रशिक्षण प्राप्त कर सके। शोध-प्रविधि के प्रशिक्षण से शोधक को चिन्तन करने तथा चिन्तित सामग्री को सुव्यवस्थित रूप में सँजोने की शिक्षा मिलती है। विषय-क्षेत्र से चुने हुए वर्गीकृत तथ्यों पर निर्धारित दृष्टि

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

से तर्क-पद्धति के सहारे क्रमबद्ध रूप में विचार करते चलना ही चिन्तन है, जिससे तथ्यों के क्रम के बीच से उभरती हुई सुसम्बद्ध विचार-शृंखला तक पहुँचा जाता है। चिन्तन से तथ्यों के क्रम में निहित तत्त्व शृंखलाबद्ध रूप में उभरकर आते हैं। यह चिन्तन-क्रम अपनी भाषा स्वयं खोज लेता है और सुसम्बद्ध भाषा में आकार ग्रहण करता है। यह तभी सम्भव है, जब शोधक का शब्द-भण्डार सम्पन्न हो और उसका भाषा पर अच्छा अधिकार हो। चिन्तन और लेखन में पूर्ण दक्षता के लिए प्रशिक्षण आवश्यक है। प्रशिक्षित शोधक में एक नया आत्मविश्वांस उदित होता है और धीरे-धीरे वह एक प्रौढ़ विचारक बन जाता है। प्रशिक्षित शोधक विषयान्तरों, पुनरावृत्तियों, दुराग्रहों, असंयत विस्तारों, उलझी हुई अभिव्यक्तियों, भाषिक त्रुटियों, तार्किक असंगतियों से बचा रहता है और सुचिन्तित सामग्री को स्वच्छ एवं संयत भाषा में प्रस्तुत करता है। उसके सारे चिन्तन में आदि से अन्त तक गहन आन्तरिक अन्विति .होती है, जो उसकी दृष्टि की स्पष्टता एवं सूक्ष्मता, तर्क-पद्धति की तटस्थता और प्रखरता और शोध-प्रविधि के सटीक उपयोग को प्रमाणित करती है। शोध-प्रविधि विषय-विवेचन का अनुशासक शिल्पन-व्यापार है, जो विश्लेषण और संश्लेषण की सारी प्रक्रिया को नियन्त्रित करता है। इससे सारे विषय-प्रतिपादन में एक कलात्मक संयम और कसाव आ जाता है, जो पूरे शोध्र-प्रबन्ध के वैचारिक और भाषिक गठन का मूल स्रोत है। शोध-प्रविधि का सम्यक् बोध व्यावहारिक प्रशिक्षण से ही सम्भव है। केवल कुछ पुस्तकों के पारायण से शोध-प्रविधि का सैद्धान्तिक स्तर पर सीमित-सा ज्ञान अवश्य हो जाता है, किन्तु पूर्ण दक्षता तो व्यावहारिक प्रशिक्षण से ही प्राप्त होती है।

3.3. शोधककेन्द्रित प्रयोजन

शोध का निमित्त कारण तो शोधक ही है। यदि शोधक न हों तो शोध की कल्पना भी नहीं की जा सकती। शोधकों की परम्परा ने ही शोध-कार्यों के माध्यम से विभिन्न ज्ञान-क्षेत्रों का विकास किया है। ऐसी स्थिति में शोध के प्रयोजनों के प्रसंग में शोधक-केन्द्रित प्रयोजन भी प्रकारान्तर से शोध के ही प्रयोजन हैं। शोधक-केन्द्रित प्रयोजनों को तीन शीर्षकों के अन्तर्गत विवेचित किया जा सकता है :

(1) अर्थोपलब्धि
(2) यशोपलब्धि
(3) निस्संग जीवन-दृष्टि की प्राप्ति

आज का शोधक कोई वीतराग, ऋषि, मुनि या संन्यासी नहीं है। वह एक

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सामाजिक प्राणी है। उसे अपने साथ ही अपने परिवार का भी भरण-पोषण करना होता है। अतः उसके शोधात्मक प्रयासों का प्राथमिक प्रयोजन तो कहीं कोई अच्छी नौकरी प्राप्त करके अर्थोपलब्धि करना ही होता है। डॉ. उदयभानु सिंह ने अपने ग्रन्थ 'अनुसन्धान का विवेचन' में शोध के शोधक-केन्द्रित इस प्रयोजन की प्राथमिकता को रेखांकित करते हुए लिखा है, 'वस्तुस्थिति यह है कि उपाधिपरक शोध-कार्य करने वाले विद्यार्थी का प्रधान साध्य अर्थ ही है।' शोध द्वारा एम.फिल., पीएच.डी. आदि उपाधि अर्जित करने पर अर्थोपलब्धि के अनेक मार्ग खुल जाते हैं, यथा (अ) किसी महाविद्यालय या विश्वविद्यालय में प्राध्यापक के रूप में नियुक्ति प्राप्त करना (आ) पदोन्नति प्राप्त करना (इ) भाषण के लिए निमन्त्रण मिलना (ई) पुस्तक प्रकाशित होना (उ) आकाशवाणी या दूरदर्शन पर वार्त्ताओं के अवसर मिलना (ऊ) परीक्षा-कार्य मिलना आदि। कभी-कभी किसी स्वदेशी या विदेशी विश्वविद्यालय में शोध-छात्रवृत्ति भी प्राप्त हो जाती है।

अर्थोपलब्धि के उपरान्त सूक्ष्म प्रयोजन आता है यशोपलब्धि। आज के भौतिकता के युग में भी अनेक सच्चे शोधक ऐसे हैं, जो पाण्डित्य अथवा विद्वत्ता को स्थूल भौतिक लाभों की अपेक्षा अधिक गौरवास्पद मानते हैं। धन-लिप्सा से यश-लिप्सा महत्तर है, क्योंकि धन-लिप्सा की परिणति भी यश-लिप्सा में ही होती है। अंग्रेजी में कहावत है कि एक सदाशयी व्यक्ति की अन्तिम दुर्बलता है यश - "Fame is the last infirmity of the noble mind." इसीलिए अनेक सुसम्पन्न व्यक्ति भी कीर्ति-कामना की सम्पूर्ति के लिए पीएच.डी., डी.लिट्. आदि उपाधियों से अलंकृत होते देखे जाते हैं। कुछ स्थितियों में हीनता-ग्रन्थि से मुक्ति पाने के लिए भी लोग उच्चस्तरीय शोध-कार्य में प्रवृत्त होते हैं।

शोध एक निष्काम ज्ञान-साधना है। शोध से तटस्थ, निरपेक्ष, निस्संग तर्क-पद्धति पर आधारित शोध-प्रविधि की ही शिक्षा नहीं मिलती, वरन् एक स्वस्थ, सन्तुलित, निर्लेप जीवन-दृष्टि पर आधारित निष्काम जीवन पद्धति का भी प्रशिक्षण प्राप्त होता है। गीता के स्थितप्रज्ञ की भाँति शोधक को भी ध्यान-योग और स्थितप्रज्ञता की शिक्षा मिलती है। 'ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो मन की' कामायनीकार की उक्ति शोधक पर घटित नहीं होनी चाहिए। शोध-कार्य में जिस वस्तुनिष्ठता, तटस्थता, वैज्ञानिकता, युक्तियुक्तता, सम्यक् दृष्टि, संयम, सन्तुलन आदि की आवश्यकता है, शोधक के जीवन में भी इन गुणों की उतनी ही आवश्यकता है। यदि शोधक के जीवन में ये गुण आ जायें तो वह लोक-व्यवहार से सम्बन्धित अनेक प्रकार की विसंगतियों, दुराग्रहों, संकीर्णताओं आदि से मुक्त रहकर स्वच्छ, सन्तुलित जीवन जी सकता है। अप्रामाणिक, असंयत, तर्कहीन, तथ्यशून्य, निराधार

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भ्रामक बातें करने से ही जीवन में अनेक प्रकार के दुःखद प्रसंग घटित होते हैं, जिन्हें सुचिन्तित जीवन-प्रविधि के उपयोग से अनायास टाला जा सकता है। वास्तव में, असली विद्या वही है, जो मनुष्य को मुक्त करती है – 'सा विद्या या विमुक्तये'। शोध का यह प्रयोजन अन्य प्रयोजनों की भाँति प्रत्यक्ष न होकर प्रच्छन्न है, किन्तु इससे इसकी महत्ता कम नहीं होती। ज्ञान की सच्ची सार्थकता इसी में है कि वह जीवन से जुड़ा हो और दृष्टिदायक और उन्नायक हो।

यद्यपि वर्तमान युग में भी अनेक शोधक शुद्ध सारस्वत प्रेरणाओं से शोध-कार्य में प्रवृत्त होते हैं और सही अर्थों में ज्ञान-क्षेत्र का विस्तार करते हैं, यथापि सामान्यतः आज के जटिलताओं से भरे जीवन में 'शोध शोध के लिए' के सिद्धान्त का निर्वाह दुष्कर है। अब शोध शुद्ध सैद्धान्तिक स्तर से उतर कर जीवन की व्यावहारिक समस्याओं के समाधानों की खोज में अधिकाधिक प्रवृत्त होता जा रहा है। यह बात वैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय विषयों के शोधों प्र्र तो घटित होती ही है, साथ ही साहित्यिक विषयों के शोधों पर भी उसी रूप में चरितार्थ होती है। पहले साहित्य का अध्ययन ध्वनि, रस, अलंकार, वक्रोक्ति आदि काव्यशास्त्रीय मानदण्डों के आधार पर करने की परिपाटी अधिक प्रचलित थी, किन्तु अब साहित्य का भी सामाजशास्त्रीय, मनोव्रैज्ञानिक, सांस्कृतिक आदि अन्तरविद्यावर्ती दृष्टियों से अध्ययन करने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती चली जा रही है। अब साहित्य और भाषा का अध्ययन भी जीवन की प्रगति में उपयोगी सिद्ध हो रहा है। जब से 'संस्कृत' को कम्प्यूटर की दृष्टि से विश्व की सर्वाधिक वैज्ञानिक भाषा घोषित किया गया है, तब से हिन्दी की महत्ता में भी अभिवृद्धि हुई है। अब भारत के साथ ही विदेशों में भी हिन्दी के कम्प्यूटर तैयार होने लगे हैं तथा अमेरिका के तीस और सम्पूर्ण विश्व के 150 से अधिक विश्वविद्यालयों में हिन्दी भाषा और साहित्य पर शोध-कार्य हो रहा है। शोध से सामाजिक-सांस्कृतिक प्रगति के द्वार तो खुल ही रहे हैं, साथ ही शोधकों को भी व्यावसायिक दृष्टि से सफलता मिल रही है।



CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अध्याय – 4

शोध और समालोचना

शोध और समालोचना दोनों का ही साहित्य के अध्ययन एवं मूल्यांकन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। व्यापक दृष्टि से देखा जाये तो दोनों का लक्ष्य एक ही है। लक्ष्य की समानता के कारण दोनों के स्वरूप में भी पर्याप्त समानता है। ऐतिहासिक सन्दर्भ में देखा जाये तो शोध का जन्म आलोचना या समालोचना के ही गर्भ से हुआ है। जहाँ हिन्दी–समालोचना का समारम्भ 19वीं शती के उत्तरार्द्ध में भारतेन्दु–युग से हुआ था, वहाँ हिन्दी–शोध का प्रारम्भ बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में हुआ। यद्यपि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किसी विश्वविद्यालय से कोई शोध–उपाधि प्राप्त नहीं की थी, तथापि सन् 1929 में प्रकाशित उनके ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में शोध और समालोचना के समन्वित विकास का स्वरूप परिलक्षित होता है। यहाँ यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि हिन्दी में जो शोधक रहे हैं, वे ही प्रायः समालोचक भी रहे हैं। अज्ञेय, मुक्तिबोध आदि कुछ इने–गिने अपवादों को छोड़कर प्रायः शोधक ही समालोचक का दायित्व भी सफलतापूर्वक निभाते रहे हैं। 'आलोचना' नामक पत्रिका में उन्हीं विद्वानों के समालोचनात्मक लेख छपते रहे हैं, जो मूलतः शोधक रहे हैं। 'प्रकर' में भी शोधक समालोचकों के ही लेख प्रकाशित होते रहे। हिन्दी में 'समालोचक' और 'समालोचना' की स्वतन्त्र अस्मिता की पहचान दुष्कर है। इससे स्पष्ट है कि शोधक और समालोचक तथा शोध और समालोचना में अत्यन्त प्रगाढ़ सम्बन्ध है। किन्तु सम्बन्ध की प्रगाढ़ता के बावजूद दोनों को एक नहीं माना जा सकता। निश्चय ही नामों की भिन्नता स्वरूपगत भिन्नता की द्योतक है। दोनों बहुत कुछ भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। इससे स्पष्ट है कि दोनों के कुछ तत्त्व एक–दूसरे में समाहित हैं तथा कुछ अलग–अलग हैं।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शोध और समालोचना के साम्य-वैषम्य को किसी ठोस तात्त्विक आधार के बिना समझना दुष्कर है। यहाँ हम निम्नलिखित ठोस तात्त्विक आधारों को ध्यान में रखकर शोध और आलोचना के स्वरूपगत साम्य-वैषम्य पर विचार करेंगे :

(1) व्युत्पत्ति और अर्थ
(2) व्यक्तित्व
(3) विषय-चयन की विधि और विषय का स्वरूप
(4) दृष्टि और तर्क-पद्धति
(5) प्रविधि
(6) उद्देश्य
(7) भाषिक प्रस्तुति

4.1. व्युत्पत्ति और अर्थ

यहाँ सर्वप्रथम दोनों के व्युत्पत्तिगत अर्थों पर विचार करना उपयोगी होगा। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, शोध शब्द शुध् धातु में घञ् प्रत्यय लगने से बना है, जिसका अर्थ है शुद्धि या परिष्कार करना। शोध का अर्थ खोजना भी है और खोजी हुई सामग्री का अनुशीलन तथा परिष्कार भी। इसमें शोधक का शोध्य विषय पर ही ध्यान केन्द्रित रहता है। वह शोध्य ग्रन्थ का उस दृष्टि से ही विवेचन करता है, जिसके निहित होने की उसमें उसे पहले से ही सम्भावना प्रतीत होती है। वह उस परिकल्पना (हाइपॉथेसिस) को लेकर चलता है, जिसमें स्थापना बनने की पूरी सम्भावना निहित रहती है। इस प्रकार कृति का कृति में निहित तथ्यों और दृष्टि के आधार पर अध्ययन करके तर्कसम्मत रूप में निभ्रान्त निष्कर्षों तक पहुँचा जाता है। इस प्रकार शोध कृति का वस्तुनिष्ठ अध्ययन है। इसमें वैज्ञानिकता पर बल है। आलोचना या समालोचना शब्द लोच् धातु से निर्मित है, जिसका अर्थ है देखना, परखना या समीक्षा करना। समीक्षा शब्द भी आलोचना या समालोचना के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह ईक्ष् धातु से निर्मित है, जिसका अर्थ है देखना, परखना या समालोचना करना। स्पष्ट है कि इसमें समीक्षक या आलोचक की निजी दृष्टि का विशेष महत्त्व है। वह कृति को किसी भी दृष्टि से देखने को स्वतन्त्र है। शोधक शोध्य ग्रन्थ का विषय में निर्धारित दृष्टि से ही अध्ययन कर सकता है, अन्य किसी दृष्टि से नहीं, किन्तु समालोचक या समीक्षक किसी एक निश्चित दृष्टि से बँधा हुआ नहीं है। उसके सामने अनेक विकल्प खुले हैं : (1) वह चाहे तो कृति का अध्ययन कृति में निहित दृष्टि से भी कर सकता है। (2) वह कृति को ऐसे काव्यशास्त्रीय मानदण्डों और

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

दृष्टियों से भी परख सकता है, जो अन्य सभी कृतियों पर भी लागू करने योग्य हैं यथा भाव, चिन्तन, कल्पना, अलंकार, बिम्ब आदि। (3) वह कृति को कृति से बाहर की अस्तित्ववादी, मनोविश्लेषणवादी, साम्यवादी, शुद्धाद्वैतवादी आदि दृष्टियों से भी जाँच सकता है। (4) वह उक्त तीनों विकल्पों का भी अपनी समालोचना में अलग-अलग स्थानों पर उपयोग कर सकता है। स्पष्ट है कि शोधक की दृष्टि की सीमा सुनिश्चित है, जबकि समालोचक को द्रष्टा के रूप में कहीं अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त है।

4.2. व्यक्तित्व

शोधक और समालोचक के व्यक्तित्व में भारी अन्तर है। शोधक मूलतः एक परीक्षार्थी की भूमिका में रहकर काम करता है। उसे विश्वविद्यालय द्वारा नियुक्त एक शोध-निर्देशक के निर्देशन में शोधरत रहना पड़ता है। सुविज्ञ निर्देशक उसे वस्तुनिष्ठता और युक्तियुक्तता के मार्ग से विचलित नहीं होने देता तथा कठिनाइयों का तर्कसंगत निराकरण करता है। शोधक इस तथ्य से भी अवगत रहता है कि प्रस्तुति के उपरान्त उसके शोध-प्रबन्ध का परीक्षण होना है तथा तदुपरान्त उसे मौखिक परीक्षा का भी सामना करना होगा। शोधक शोध-नियमावली के अनेक नियमों-उपनियमों में बँधा एक नितान्त अनुशासित साधक है। इन बन्धनों के मध्य रहकर ही शोधक निश्चित दृष्टि, तटस्थ तर्क-पद्धति, वैज्ञानिक शोध-प्रविधि के अनुसार तथ्यों का विश्लेषण करते हुए तत्त्वान्वेषण तक पहुँचता है। उसके व्यक्तित्व की सुपरिभाषित मर्यादाएँ होती हैं, जिनका अतिक्रमण शोध-कार्य के लिए क्षतिकारक सिद्ध होता है। अपनी दृष्टि और कार्य-पद्धति के अनुसार वह एक स्थितप्रज्ञ-निष्काम कर्मयोगी होता है। शोध-उपाधि तो उसके कर्म का नैसर्गिक परिणाम है।

समालोचक एक स्वतन्त्र द्रष्टा व्यक्ति है। वह अपनी तर्क-पद्धति, कार्य विधि आदि अपनी दृष्टि और इच्छा के अनुरूप स्वयं निर्धारित करने के लिए स्वतन्त्र है। उसके ऊपर उसका अपना ही नियन्त्रण होता है, किसी बाहरी व्यक्ति, संस्था या नियमावली का नहीं। वह अपना निर्देशक स्वयं होता है। वह अपनी ही दृष्टि को महत्त्वपूर्ण मानता है। वह शोधक की अपेक्षा वस्तुनिष्ठ कम और आत्मनिष्ठ अधिक होता है। इसका आशय यह कदापि नहीं कि वह एक निरंकुश या उच्छृंखल अध्येता होता है और तथ्यों या तर्कों की नितान्त उपेक्षा करके मनमाने निष्कर्षों पर पहुँचता है। वास्तविकता तो यह है कि उसकी स्वतन्त्रता ही उसकी मर्यादा है और उसका आत्मानुशासन है। विवेकी व्यक्ति की जितनी-जितनी स्वतन्त्रता बढ़ती जाती है,

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उतना ही उसका आत्मानुशासन भी बढ़ता जाता है। उसके ऊपर किसी निर्देशक या नियमावली का नियन्त्रण नहीं होता, वरन् स्वयं उसके अपने विवेक और दृष्टि का नियन्त्रण होता है। अतः वह अधिक स्वावलम्बी, स्वतन्त्रचेता और आत्मनिर्भर होता है। ऐसे आत्मविश्वासी, आत्मनिर्भर, आत्मनिष्ठ व्यक्ति का दृष्टि-सम्पन्न विवेचन, मूल्यांकन निश्चय ही गहन और सारगर्भित होता है। वह किसी पूर्वनिर्धारित समालोचना-प्रविधि में बंधकर काम करने का अभ्यासी नहीं होता। वह अपनी प्रविधि का निर्माता और नियन्ता स्वयं है। वह अपने समालोचना-कार्य की दृष्टिसम्पन्नता के विषय में स्वयं आश्वस्त होता है। उसे किसी परीक्षक का भय नहीं सताता और न ही उसे बदले में किसी उपाधि की अपेक्षा होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'गोस्वामी तुलसीदास', डॉ. रामविलास शर्मा का 'निराला की साहित्य-साधना', डॉ. नगेन्द्र का 'साकेत एक अध्ययन' दृष्टिसम्पन्न समालोचना के उल्लेखनीय उदाहरण हैं।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि शोधक का व्यक्तित्व अपनी वस्तुनिष्ठता और तर्कनिष्ठता के कारण बहुत कुछ वैज्ञानिक के व्यक्तित्व से मेल खाता है, जबकि समालोचक का व्यक्तित्व आत्मनिष्ठ, दृष्टिसम्पन्न, स्वतन्त्रचेता चिन्तक या मनीषी के व्यक्तित्व से मिलता-जुलता है।

4.3. विषय-चयन की विधि और विषय का स्वरूप

शोधक को अपना शोध-विषय निर्देशक के परामर्श से चुनना होता है। यह ठीक है कि विषय-चयन में निर्देशक शोधक की रुचि, अध्ययन और क्षमताओं को भी ध्यान में रखता है। कई बार इस प्रकार सहमति से चुने गये विषय को भी अध्ययन-मण्डल की बैठक में ज्यों का त्यों नहीं स्वीकार किया जाता, वरन् उसमें कुछ संशोधन या परिवर्तन कर दिया जाता है। कुछ स्थितियों में तो प्रस्तावित विषय को निरस्त करके एक सर्वथा नया विषय स्वीकृत कर दिया जाता है। इस प्रकार विषय-चयन में काफी स्वतन्त्रता होते हुए भी शोधक पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं है। इसके विपरीत समालोचक अपनी रुचि के विषय को समालोचनार्थ चुनने में सर्वथा स्वतन्त्र है। वह चुने हुए विषय में जब चाहे तभी संशोधन, परिवर्द्धन, परिवर्तन कर सकता है। शोधार्थी को विषय प्रस्तावित करते समय उसकी एक रूपरेखा भी संलग्न करनी होती है, जो उसकी शोध-योजना का विकास-क्रम दर्शाती है। समालोचक के ऊपर ऐसी कोई बाध्यता नहीं है।

शोध और समालोचना के विषयों में भी भिन्नता रहती है। शोध में विषय-क्षेत्र के साथ कोई दृष्टि, समस्या या मुद्दा अवश्य जुड़ा रहता है। आदर्शात्मक स्थिति तो

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यह है कि शोध के विषय किसी परिकल्पना (hypothesis) पर केन्द्रित होने चाहिए। उदाहरण के लिए यदि शोधक अपने प्राथमिक अध्ययन के आधार पर सोचता है कि तुलसी ऊपर से तो बहुदेववादी हैं, किन्तु वास्तव में एकेश्वरवादी हैं, क्योंकि सभी देवी-देवता राम-ब्रह्म की ही स्तुति करते दिखायी पड़ते हैं। वैसे भी इस्लामी एकेश्वरवाद से टक्कर लेने के लिए मध्ययुग में हिन्दू एकेश्वरवाद की आवश्यकता थी। ऐसी स्थिति में शोधार्थी अपनी परिकल्पना को ध्यान में रख कर विषय प्रस्तावित कर सकता है - 'तुलसी-काव्य में एकेश्वरवाद।' प्रमाणों से पुष्ट हो जाने पर यह स्थापना मान्य हो जायेगी कि तुलसी मूलतः एकेश्वरवादी हैं। किन्तु सभी शोध-विषय परिकल्पनामूलक नहीं होते। अधिकतर शोध-विषयों में शोध-क्षेत्र के साथ शोध-दृष्टि संयुक्त रहती है, यथा 'तुलसी-काव्य का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन' या 'तुलसी-काव्य में मनोविज्ञान'। इसके विपरीत समालोचना के विषय भी आलोचक की भाँति ही मुक्त होते हैं। उनके साथ कोई दृष्टि या समस्या नहीं जुड़ी रहती। 'गोस्वामी तुलसीदास', 'निराला की काव्य साधना', 'महाप्राण निराला', 'साकेत एक अध्ययन', 'कामायनी-अनुशीलन' समालोचना-ग्रन्थों के विषयों के उदाहरण हैं।

4.4. दृष्टि और तर्क-पद्धति

शोध और समालोचना के व्युत्पत्तिगत अर्थों पर विचार करते हुए दृष्टि के स्वरूप पर प्रकाश डाला जा चुका है तथा स्पष्ट किया जा चुका है कि शोधक को अन्य सब दृष्टियों से अलग रहकर अपने विषय का विवेचन शोध-विषय में दी हुई दृष्टि के अनुसार ही करना होता है, जबकि समालोचक के पास अनेक विकल्प होते हैं। वह कृति में निहित दृष्टि से या सर्वसामान्य काव्यशास्त्रीय दृष्टियों या मानदण्डों के अनुसार या कृति से बाहर की दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय आदि दृष्टियों से या फिर यथास्थान इन सभी का आवश्यकता के अनुसार उपयोग करते हुए अपनी विवेच्य या समालोच्य कृति का समालोचन कर सकता है। किन्तु इन सब दृष्टियों का व्यवहार वहीं तक निरापद् और समीचीन है, जहाँ तक वे व्यक्तिगत दुराग्रह, संकीर्णता, साम्प्रदायिक आवेश, कट्टरता या प्रतिबद्धता से मुक्त रहकर अपने अनाविल, स्वच्छ और मुक्त रूप में अवस्थित रहती हैं।

तथ्यों के सहारे निष्कर्ष निकालते चलने की बौद्धिक क्रिया को तर्क कहते हैं। तथ्य निष्कर्ष रूप में प्राप्त सत्य या तत्त्व के साक्ष्य या प्रमाण होते हैं। तथ्यों या प्रमाणों की क्रमिक श्रृंखला के सहारे ही बुद्धि तर्क के रूप में सक्रिय होकर तत्त्वों का अन्वेषण करती है। निरपेक्ष और तटस्थ तर्क-पद्धति वही है, जो तथ्यों की श्रृंखला में से स्वतः

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उभरने वाले तत्त्व या सत्य को स्वीकार करती चलती है। यदि हम सनातनधर्मी, अवतारवादी, पौराणिक, वैष्णव दृष्टि से तुलसी के काव्य में विकीर्ण भक्तिगत प्रसंगों का तर्कसंगत मन्थन करेंगे तो निश्चय ही वे एक महान् भक्त सिद्ध होंगे, किन्तु यदि हम अवतार-विरोधी, नास्तिक, पदार्थवादी साम्यवादी दृष्टि से तुलसी काव्य का अध्ययन करेंगे तो वे हमें एक पोंगापन्थी पाखण्ड-प्रचारक प्रतीत होंगे, क्योंकि यह दृष्टि तुलसी-काव्य में है ही नहीं; साथ ही यह उनकी वैष्णव दृष्टि के सर्वथा प्रतिकूल भी है। ऐसी दुराग्रही, आरोपित दृष्टि शोध की मूल प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल है। इसीलिए शोध का क्षेत्र प्रतिबद्ध दृष्टि के अनुचित हस्तक्षेप से पर्याप्त सीमा तक मुक्त रह सका है। शोध के वस्तुनिष्ठ क्षेत्र में तथ्यों को बहुत दूर तक तोड़ते-मरोड़ते चलना और उनसे मनमाने निष्कर्ष निकालना प्रायः सम्भव नहीं है। किन्तु समालोचक और समालोचना के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। कबीर-काव्य में जो समतामूलक दृष्टि पायी गयी है, वह इस अद्वैतवादी चिन्तन से प्रसूत है कि आत्मा-परमात्मा तत्त्वतः एक हैं तथा आत्मा के रूप में प्रत्येक जीवात्मा में परमात्मा निवास करता है, अतः सभी जीव समान हैं। इस अद्वैतवादी दृष्टि की उपेक्षा करके कबीर के काव्य में साम्यवाद देखना नितान्त निराधार है। सूरसागर में शुद्धाद्वैतवाद-प्रसूत समतामूलक जीवन-दृष्टि का विरल उत्कर्ष देखने को मिलता है, जिसमें भक्त-भगवान्, गोपी-गोप, ग्वाल-बाल, भाषा, भूषा, खान-पान, तीज-त्योहार, व्यवसाय आदि सभी दृष्टियों से समान हैं, किन्तु साम्यवाद के इस भारतीय स्वरूप का उचित मूल्यांकन करने की आवश्यकता नहीं समझी गयी। दृष्टि की संकीर्णता से स्वयं साम्यवादी साहित्यकारों को भी भारी क्षति पहुँची है। यहाँ एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। मुक्तिबोध की मृत्यु के उपरान्त समालोचकों का एक वर्ग उनके काव्य को उठाने पर जुट गया, जिसमें उठने की नैसर्गिक ऊर्जा नहीं थी, किन्तु इस एकांगिता से उनका वह उत्कर्षपूर्ण गद्य-लेखन उपेक्षित ही रह गया, जिसके न्यायसंगत मूल्यांकन से वे चिन्तकों की श्रेणी में दूसरे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सिद्ध हो सकते थे। अनाविल दृष्टि और तटस्थ तर्क-पद्धति का समन्वित उत्कर्ष महान् साम्यादी शोधक और समालोचक डॉ. रामविलास शर्मा के श्रेष्ठ समालोचना-ग्रन्थ 'भारतीय सौन्दर्य-बोध और तुलसीदास' में देखने को मिलता है।

4.5. प्रविधि

शोध में प्रविधि का विशेष महत्त्व है। प्रविधि शोध के अन्य सभी तत्त्वों को भी संयोजित करती है और शोध में व्यवस्था, गठन या प्रबन्धात्मकता उत्पन्न करती है।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

किन्तु हर गुण के साथ दोष भी जुड़ा रहता है। शोध-प्रविधि के तत्त्व-चिन्तन पर हावी होते ही विषय-प्रतिपादन में नीरस यान्त्रिकता आ जाती है। इसके विपरीत समालोचक अपनी स्वच्छन्द प्रकृति के अनुरूप जो भी प्रविधि अपनाता है, उसे यान्त्रिकता या जड़ता की सीमा तक कभी नहीं हावी होने देता। उसकी प्रतिभा तर्काश्रित होने के साथ अन्तर्दृष्टिसम्पन्न और कुछ सीमा तक सृजनात्मक भी होती है। इस सृजनात्मकता के कारण उसके पूरे विवेचन में सजीवता, गत्वरता और सहजता रहती है, जिससे वह नीरस यान्त्रिकता से मुक्त रहता है। शोधक विशुद्ध बौद्धिक होता है, अतः प्रविधिबद्ध तथ्यान्वेषण और तत्त्व-बोध की तार्किक सीमा का अतिक्रमण नहीं कर पाता। उसका चिन्तन सृजनात्मक नहीं हो पाता। यदि कहीं हो पाता है तो वह शोध की प्रकृति और प्रविधि के विपरीत माना जाता है।

प्रविधि के पालन से शोध में प्रामाणिकता का गुण विशेष रूप से विद्यमान रहता है। शोधक तथ्यों के बिना स्वतन्त्र रूप से कोई निष्कर्ष नहीं निकालता। समालोचक भी तथ्यों और तर्कों का सहारा लेकर अपने विवेचन को प्रामाणिक और विश्वसनीय बनाये रखना चाहता है, किन्तु प्रसंगानुसार वह अपनी अन्तर्दृष्टि और अनुमान के अनुसार अपने मौलिक मन्तव्य भी प्रस्तुत करने में संकोच नहीं करता। कई बार वह स्वतन्त्रचेता मनीषी के रूप में सामने आता है और तथ्यों तथा तर्कों की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है। प्रभाववादी आलोचना में तो आलोचना एक भावोद्गारपूर्ण कलात्मक अभिव्यक्ति या रचना का रूप ले लेती है।

भारत में चिन्तन की दो प्रमुख परम्पराएँ रही हैं - (1) अन्तर्दृष्टि (intuition) पर आधारित वैदिक ऋषियों की आर्ष परम्परा तथा (2) शुद्ध तर्क-बुद्धि पर आधारित जैन और बौद्ध मुनियों की मुनि-परम्परा। निगमनात्मक पद्धति की अन्तर्दृष्टि-प्रधानता के कारण आर्ष परम्परा को निगम-परम्परा भी कहा जाता है तथा वेदों को 'निगम-ग्रन्थ' माना जाता है। आगमनात्मक शुद्ध बौद्धिक और वैज्ञानिक पद्धति की प्रधानता के कारण मनस्वी मुनियों के ग्रन्थों को 'आगम-ग्रन्थ' कहा जाता है। स्पष्ट है कि शोध अपनी वैज्ञानिक आगमनात्मक पद्धति के कारण मुनियों की आगमन-परम्परा के अनुरूप है। समालोचना में आगमनात्मक पद्धति के साथ निगमनात्मक पद्धति का भी स्वतन्त्र रूप से उपयोग किया जाता है, अतः वह वैदिक ऋषियों की निगम-परम्परा के अधिक निकट है।

आगमनात्मक वैज्ञानिक पद्धति की प्रधानता के कारण शोध में तथ्यों और तत्त्वों का सन्तुलन पाया जाता है। निमगनात्मक पद्धति की प्रमुखता के कारण समालोचना में स्थूल तथ्यों की अपेक्षा सूक्ष्म तत्त्व-बोध की प्रमुखता रहती है।

अनुशासन और स्वतन्त्रता दोनों ही महान् जीवन-मूल्य भी हैं और कला मूल्य

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भी। किन्तु अनुशासन जब दासता या जड़ बन्धन बन जाता है और स्वतन्त्रता निरंकुशता या उच्छृंखलता का रूप ग्रहण कर लेती है, तो दोनों ही दुखद सिद्ध होते हैं। जितनी शोध में यान्त्रिक प्रविधिपरायणता हानिकारण है, उतनी ही समालोचना में अनियन्त्रित स्वतन्त्रता। जो समालोचक अपेक्षित मर्यादा का निर्वाह नहीं कर पाते, वे व्यक्तिगत दुराग्रहों, मनमानी व्याख्याओं और स्थापनाओं के दोषी पाये जाते हैं।

प्रायः देखा जाता है कि शोध-प्रबन्ध अपनी यान्त्रिक प्रविधि के कारण पाठकों में अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाते। उनकी पठनीयता अत्यन्त सीमित होती है। कुछ शोधक ही कभी-कभी अन्य विद्वानों के शोध-प्रबन्धों का उपयोग करते हैं। इसके विपरीत अपनी सजीवता, सापेक्ष स्वच्छन्दता, रचनात्मकता, प्रवाहमयता आदि के कारण अनेक समालोचना-ग्रन्थ पाठकों में लोकप्रिय रहे हैं। एक ही विद्वान् के शोध-प्रबन्ध की अपेक्षा उसके समालोचना-ग्रन्थ अधिक पढ़े जाते हैं। प्रायः यह भी देखा गया है कि शोध-प्रबन्ध तो अध्येताओं ने व्यावसायिक विवशताओं के वशीभूत शोध-उपाधि अर्जित करने के उद्देश्य से अपने युवा-काल में ही लिखे, जबकि समालोचना-कर्म में वे पर्याप्त प्रौढ़ होने पर ही प्रवृत्त हुए।

शोधक तो शोध-प्रविधि को एक अनिवार्य अनुशासन के रूप में अपनाता है, किन्तु समालोचक अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग करते हुए अपनी प्रविधि स्वयं निर्मित या निर्धारित करता है। कुछ समालोचक शोध-प्रविधि के कुछ चुने हुए उपादानों को अपने अनुसार रूपान्तरित करके प्रयुक्त करते हैं। अनेक समालोचक सन्दर्भोल्लेख, पाद-टिप्पणी, सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची, नामों और विषयों की अनुक्रमणिका आदि का स्वेच्छानुसार उपयोग करते हैं। जहाँ शोध-प्रविधि शोध-प्रबन्ध का अनिवार्य अन्तर्वर्ती घटक तत्त्व है, वहाँ वह समालोचक के लिए एक गौण साधन मात्र है, साध्य नहीं।

4.6. उद्देश्य

शोध का उद्देश्य है बोध-विस्तार। बोध के दो स्तर हैं - स्थूल जानकरी तथा सूक्ष्म तत्त्व-ज्ञान। प्रारम्भिक शोधों में कवियों की जन्म-तिथि, जन्म-स्थान, जाति, वंश, गोत्र, कृतियों की प्रामाणिकता आदि तथ्यों की जानकारी पर विशेष बल दिया जाता था। कालान्तर में शोध-बोध स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होता गया तथा कृतियों का विश्लेषण काव्यशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि शास्त्रीय या सैद्धान्तिक दृष्टियों से किया जाने लगा। इस प्रकार बोध-विस्तार नये सिद्धान्तों की स्थापना की ओर उन्मुख होता चला गया। आजकल तो अन्तरविद्यावर्ती शोध के कारण बोध के अनेक नये क्षितिज खुल गये हैं और ज्ञान की साहित्येत्तर दृष्टियों के निकष पर भी

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

साहित्यिक कृतियों को जाँचा-परखा जाने लगा है। यह बहुविध बोध-विस्तार ही शोध का मुख्य उद्देश्य है।

समालोचना का उद्देश्य है समालोच्य कृति का मर्मोद्घाटन। यह मर्मोद्घाटन क्या है? इसके लिए मर्म को समझना होगा। मर्म का कोशगत अर्थ है जीवनस्थान, शरीर का सन्धिस्थल, रहस्य, तत्त्व, गूढ़ार्थ। कृति का मर्म भाव और भाषा या अनुभूति और अभिव्यक्ति की वह सन्धि या सम्पृक्ति है, जिसमें भाव भाषिक आकार धारण करके प्रभावशाली या सम्प्रेषणीय बनकर सहृदयों को रसाप्लावित करता है। कृति का मर्म अनुभूति और अभिव्यक्ति का समन्वित उत्कर्ष है, जो अपनी परिणति में मर्मस्पर्शी और रसात्मक होता है। अनुभूति में निहित चिन्तना, भावना और कल्पना तथा अभिव्यक्ति में निहित अलंकार, बिम्ब, प्रतीक, छन्द आदि शैल्पिक उपादानों का विश्लेषण-विवेचन ही कृति के मर्म का उद्घाटन है, जो कृति की अनुभूतिगत गहराई और शिल्पगत सौष्ठव की सूक्ष्म समझ से ही सम्भव है। कृति के इस सृजनात्मक सौन्दर्य को वही अन्तर्द्रष्टा समझ सकता है, जो केवल प्रबुद्ध ही नहीं, वरन् सृजनात्मक प्रतिभा से भी युक्त है। शोध के तत्त्वान्वेषण के लिए प्रबुद्धता पर्याप्त है, किन्तु कृति के सृजनात्मक स्वरूप में मर्मोद्घाटन के लिए समालोचक में सृजनात्मक प्रतिभा का होना भी अनिवार्य है।

यहाँ प्रमुखता या प्रधानता को ध्यान में रख कर ही शोध और समालोचना के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला गया है। सामान्यतः शोधक और समालोचक समानधर्मा हैं। अनेक बार शोधक भी शोध्य कृति के मर्मोद्घाटन में प्रवृत्त होते हैं और समालोचक भी शोधक की भाँति तथ्याख्यान और तत्त्व-बोध की दिशा में उन्मुख दिखलायी पड़ते हैं। दोनों के उद्देश्यों की स्पष्ट सीमाएँ निर्धारित नहीं की जा सकतीं।

4.7. भाषिक प्रस्तुति

अपने सकारात्मक रूप में शोध की भाषा वस्तुनिष्ठ या तथ्यात्मक, बौद्धिक या तत्त्वपरक, पारिभाषिक या शास्त्रीय होती है। अपने नकारात्मक रूप में शोध की भाषा भावोच्छ्वासहीन, अनलंकृत, लक्षणा-व्यंजना-रहित तथा चमत्कार शून्य होती है। कुल मिलाकर शोध की भाषा बोधपरक होती है। तर्कसंगत, दृष्टिसम्पन्न विवेचन को लक्ष्य मानकर चलने वाली सन्तुलित समालोचना की भाषा भी शोध की भाषा के समान स्वच्छ, सुग्राह्य, बोधपरक होनी चाहिए, किन्तु समालोचक की आत्मनिष्ठता और स्वच्छन्दता के कारण समालोचना की भाषा उतनी मर्यादित और संयत नहीं रह पाती। शास्त्रीय समालोचना में तो समालोचक, शोधक की भाँति ही तत्त्वपरक भाषा

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

का प्रयोग करता है। डॉ. नगेन्द्र के 'रस सिद्धान्त' शीर्षक ग्रन्थ की भाषा सर्वथा तत्त्वबोधक है। किन्तु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के लोकप्रिय समालोचना-ग्रन्थ 'कबीर' की भाषा स्थान-स्थान पर तरंगायित होकर ललित और अलंकृत गद्य का रूप लेती चलती है। प्रभाववादी आलोचनाएँ तो भावोच्छ्वास के आवेग को गद्य-गीतों के समान लालित्यपूर्ण अभिव्यक्ति में ढालती चलती हैं। ऐसी लालित्यमयी समालोचना का उत्तम उदाहरण है श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी का कविवर सुमित्रानन्दन पन्त पर लिखित ग्रन्थ 'ज्योति-विहग'। कुछे भी हो, आदर्श स्थिति तो यही है कि समालोचना की भाषा भी बोधपरक, संयत और स्वच्छ होनी चाहिए। अपनी भावात्मक और भाषिक उड़ान के कारण प्रभाववादी आलोचना अपना अस्तित्व खोकर इतिहास की वस्तु बन गयी है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शोध और समालोचना परस्पर भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। दोनों की अभिन्नता को रेखांकित करते हुए डॉ. नगेन्द्र की मान्यता है कि 'उत्तम आलोचना अनिवार्यतः उत्तम अनुसन्धान भी है और उत्तम साहित्यिक अनुसन्धान अपनी चरम परिणति में आलोचना से अभिन्न हो जाता है।' इसके विपरीत शोध और समालोचना की भिन्नता पर प्रकाश डालते हुए डॉ. उदयभानु सिंह लिखते हैं, 'सत्य यह है कि उत्कर्ष के उच्चतम शिखर पर पहुँचकर भी अनुसन्धान अनुसन्धान ही रहता है; श्रेष्ठता की चरम सीमा पर पहुँच कर भी आलोचना आलोचना ही रहती है।' वास्तव में उपर्युक्त दोनों कथनों में सत्यांश विद्यमान है, किन्तु पूर्ण सत्य दोनों कथनों के मेल से उभरता है। पूर्ण सत्य यह है कि शोध और समालोचना में भारी समानता होते हुए भी दोनों अपनी प्रकृति, प्रविधि, दृष्टि, उद्देश्य, प्रस्तुति आदि की दृष्टि से भिन्न हैं। दोनों को एक-दूसरे का पर्याय नहीं माना जा सकता। दोनों के स्वरूप के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर हम इन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं – (1) व्युत्पत्ति की दृष्टि से शोध में तथ्यों की खोज और उनके आख्यान से प्राप्त तत्त्व-बोध पर बल है, जबकि आलोचना में दृष्टिसम्पन्न मर्मोद्घाटन पर। (2) शोधक एक प्रबुद्ध विश्लेषक है तो समालोचक अन्तर्द्रष्टा, मर्मज्ञ या रसज्ञ। (3) शोध का विषय शोध-क्षेत्र और शोध-दृष्टि से युक्त एक सुनिर्धारित विषय होता है, जबकि समालोचना का विषय समालोचक की भाँति ही मुक्त और बहुसम्भावनासम्पन्न। (4) शोध अपनी प्रकृति और तर्क-पद्धति की दृष्टि से वस्तुनिष्ठ, तर्काश्रित होने के कारण भावावेगशून्य, वादमुक्त और बोध-प्रधान है, जबकि समालोचना अपने आदर्श रूप में समालोच्य कृति के सरस, सृजनात्मक स्वरूप का गहन मन्थन अपना लक्ष्य मानते हुए भी कभी-कभी वादग्रस्त और दुराग्रहपूर्ण हो जाती है। शोधक संयत ज्ञान-योगी है तो समालोचक स्वतन्त्रचेता, रसग्राही भाव-योगी। (5) शोधक सुनिर्धारित शोध-

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रविधि को शोध का अभिन्न घटक तत्त्व मानकर ग्रहण करता है, जबकि मुक्तमार्गी समालोचक अपनी प्रविधि स्वयं निश्चित करता है। (6) शोध का उद्देश्य बोध-विस्तार है तो समालोचना का उद्देश्य कृति के सरस स्वरूप का मर्मोद्घाटन। (7) शोध की भाषा बोधपरक है तो समालोचना की भाषा विवेचनात्मक के साथ-साथ कहीं-कहीं लालित्यपूर्ण भी हो जाती है।

संक्षेप में, शोध शुद्ध एवं प्रबुद्ध प्रज्ञा की बोधमयी सन्तान है तो समालोचना मुक्त मनीषा की कलामयी, रसग्राही प्रसूति। शोध बहिर्मुखी, वस्तुनिष्ठ, वैज्ञानिक और तटस्थ है, तो समालोचना अन्तर्मुखी, आत्मनिष्ठ, सृजनासंस्करी और स्वभाव-संलिप्त है। इतना वैषम्य होने पर भी यह तो मानना ही होगा कि साहित्यिक शोध में मूल्यांकन और निष्कर्षण के समय उत्कृष्ट कोटि की समालोचनात्मक क्षमता शोधक के लिए भी नितान्त उपकारक है। शोधक को तत्त्ववेत्ता के साथ काव्य-मर्मज्ञ भी होना चाहिए। इससे उसका कार्य अधिक गम्भीर और दृष्टिसम्पन्न होगा। इसी प्रकार समालोचक को भी शोधक की भाँति तटस्थ, वस्तुनिष्ठ और वादमुक्त होना चाहिए तथा अपने विवेचन को विश्वसनीय और प्रामाणिक बनाना चाहिए। तभी उसकी आलोचना समालोचना बन पायेगी।



CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अध्याय - 5

शोध के प्रकार

शोधक की प्रतिभा और शोध-विषय के सम्पर्क से शोध-बोध का विकास होता है। प्रतिभा शोधक के भीतर होती है और शोध-विषय बाहर। भीतर-बाहर के सान्निध्य से सारे ज्ञान-विज्ञान का उदय हुआ है। भीतर चिन्तनगत गहराई का स्रोत है, तो बाहर गहराई के सम्यक् प्रसार के लिए आधारभूत विस्तार। प्रतिभा तो सभी प्रकार के शोधों में निहित अनिवार्य तत्त्व है, किन्तु विषय-क्षेत्र भिन्न-भिन्न होते हैं। अतः शोध के स्वरूप की पहचान का प्राथमिक आधार है विषय का क्षेत्र। क्षेत्र को विशिष्टता प्रदान करने वाला तत्त्व है शोध-विषय में निर्धारित दृष्टि। उदाहरण के लिए 'अकबरकालीन शासन-व्यवस्था' विषय को लें। 'अकबर-काल' इसका क्षेत्र है और 'शासन-व्यवस्था' दृष्टि। इस विषय का क्षेत्र इतिहास से सम्बन्धित है तथा इसमें अकबर-काल का शासन-व्यवस्था की दृष्टि से अध्ययन और मूल्यांकन अभीष्ट है। स्पष्ट है, यह विषय इतिहास-सम्बन्धी है। यह वैज्ञानिक या साहित्यिक नहीं है। क्षेत्र की दृष्टि से विषयों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है - (1) वैज्ञानिक (2) समाजशास्त्रीय तथा (3) साहित्यिक। उक्त क्षेत्रगत आधार पर शोध के भी तीन प्रकार हैं - (1) वैज्ञानिक शोध (2) समाजशास्त्रीय शोध तथा (3) साहित्यिक शोध। यहाँ हमारा उद्देश्य केवल साहित्यिक शोध पर ही विस्तार से विचार करना है। अतः वैज्ञानिक शोध और समाजशास्त्रीय शोध-प्रकारों पर अत्यन्त संक्षेप में विचार करके साहित्यिक शोध और उसके प्रकारों पर किंचित् विस्तार से विचार किया जायेगा।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

5.1. वैज्ञानिक शोध या प्रयोगात्मक शोध (Experimental Research)

भौतिकी (Physics) और रसायन विज्ञान (Chemistry) नामक भौतिक विज्ञानों में प्रयोगात्मक शोध होता है। प्रयोगात्मक शोध निरीक्षण और परीक्षण पर आधारित है। प्रयोगों के द्वारा निश्चित निष्कर्षों तक पहुँचा जाता है। प्रयोगात्मक शोधों के निष्कर्ष निश्चित होते हैं और उनका परीक्षण अन्य वैज्ञानिकों द्वारा भी किया जा सकता है। ये निष्कर्ष तथ्यों के तर्कसंगत विश्लेषण पर आधारित होते हैं। प्रयोगात्मक शोध के दो मुख्य भेद हैं - (1) सैद्धान्तिक शोध (Theoretical Research) तथा (2) प्रायोगिक शोध (Applied Research)।

5.1.1. सैद्धान्तिक शोध

प्रयोगशाला में पदार्थों के निरीक्षण-परीक्षण के पश्चात् किसी निश्चित निर्णय, नियम या सिद्धान्त पर पहुँचना सैद्धान्तिक शोध है। न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त (Law of Gravitation) तथा आइन्सटीन का देश-काल की सापेक्षता (Theory of Relativity) का सिद्धान्त सैद्धान्तिक शोध के प्रमुख उदाहरण हैं।

5.1.2. प्रायोगिक शोध

सैद्धान्तिक शोध से प्राप्त नियमों और सिद्धान्तों के व्यावहारिक प्रयोग द्वारा नयी वस्तुओं का निर्माण या आविष्कार प्रायोगिक शोध का कार्य है। वाष्प का इंजन, वायुयान, आकाशवाणी, दूरदर्शन आदि सब प्रायोगिक शोध के परिणाम हैं। ये आविष्कार अनेक सूक्ष्म वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर किये गये हैं।

5.2. समाजशास्त्रीय शोध

समाजशास्त्रीय शोध का क्षेत्र व्यापक है। इसके अन्तर्गत समाजशास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, पुरातत्त्वशास्त्र, वाणिज्यशास्त्र आदि विषय आते हैं। ये विषय भौतिक विज्ञानों की भाँति तथ्यात्मक, निश्चित और निभ्रान्त निष्कर्षों तक पहुँचाने वाले नहीं होते और न ही ये साहित्यिक विषयों की भाँति भावना, कल्पना और चिन्तन से युक्त अनुभूति के अनिश्चित, सृजनात्मक स्वरूप से सम्बन्धित होते

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हैं। समाजशास्त्रीय शोध वैज्ञानिक शोध की भाँति वैज्ञानिक नहीं हो सकता, किन्तु यह सृजनात्मक साहित्य से सम्बन्धित शोध की अपेक्षा अधिक तथ्यात्मक और निर्णयात्मक होता है। यह वैज्ञानिक शोध और साहित्यिक शोध का मध्यवर्ती है।

राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र,, अर्थशास्त्र आदि विषय-क्षेत्रों से सम्बन्धित वर्तमान रुझानों, स्थितियों, प्रवृत्तियों की जानकारी प्राप्त करने और प्राप्त तथ्यों के विश्लेषण से निष्कर्षों तक पहुँचने के उद्‌देश्य से विभिन्न वर्गों, स्तरों, जातियों के व्यक्तियों के अभिमत एकत्र किये जाते हैं। इसे शोध की सर्वेक्षणात्मक पद्धति (Survey-method) कहा जाता है। इतिहास, पुरातत्त्वशास्त्र आदि से सम्बन्धित शोधों में प्राचीन ग्रन्थों, शिलालेखों, राजकीय मुद्राओं, दानपत्रों आदि के रूप में प्राप्त लिखित प्रमाणों या दस्तावेजों का सहारा लिया जाता है।

5.3. साहित्यिक शोध

साहित्यिक शोध का स्वरूप वैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय शोध की अपेक्षा अधिक जटिल है। साहित्य की स्वरूपगत जटिलता साहित्यिक शोध की जटिलता का मूल कारण है। जहाँ विज्ञान का बोध भौतिक है, समाजशास्त्रों का बोध वैचारिक (Conceptual) है, वहाँ साहित्य का बोध भौतिकता और वैचारिकता से आगे अनुभूतिपरक है, जिसमें विचार या चिन्तन के साथ भावना और कल्पना का भी सामंजस्य रहता है। विज्ञानों और शास्त्रों में अनुभूति के रसात्मक, सृजनात्मक और मांगलिक या मूल्यात्मक रूप के लिए स्थान नहीं है। सर्जनात्मक साहित्य के शोध के लिए कोई सुनिश्चित यान्त्रिक प्रणाली नहीं है। विज्ञान के विषयों से सम्बन्धित शोध की सुपरिभाषित एवं निश्चित विधियाँ प्रचलित हैं। इसी प्रकार समाजशास्त्रींय विषयों की भी अपनी-अपनी शोध-पद्धतियाँ विकसित हो चुकी हैं, किन्तु साहित्य के जटिल सृजनात्मक स्वरूप के कारण साहित्यिक शोध की अभी तक कोई सुनिश्चित पद्धति विकसित नहीं हो सकी है और न ही इसकी कोई सम्भावना है, क्योंकि साहित्य का सृजनात्मक स्वरूप किसी प्रकार की यान्त्रिकता को स्वीकार नहीं कर सकता। इस सम्बन्ध में डॉ. नगेन्द्र का मन्तव्य विशेष ध्यातव्य है। वे लिखते हैं, 'साहित्य में आत्म की प्रधानता है। अतः साहित्य के अध्ययन में आत्मतत्त्व का बहिष्कार कर एकान्त वस्तुपरक अध्ययन की सम्भावना नहीं है। इस प्रकार का अध्ययन वस्तु से उलझकर जड़ बन जायेगा, क्योंकि साहित्य तत्त्वतः वस्तु नहीं है, अनुभूति है।' इसलिए साहित्यिक शोध के लिए शोधक में 'ज्ञान-वृत्ति' के साथ ही सृजन, सौन्दर्य और संस्कृति की पोषक 'भाव-वृत्ति' का समुचित संयोग भी अभीष्ट

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

है। शोधक में बौद्धिक विश्लेषण-क्षमता के साथ ही सौन्दर्यग्राही सृजनात्मक, प्रतिभा का होना भी आवश्यक है। अतः साहित्यिक शोध के लिए भाव और अभिव्यक्ति से सम्बन्धित काव्यशास्त्रीय अथवा साहित्यिक विधियाँ ही उपयुक्त हैं। सांख्यिकीय, प्रश्नावली, साक्षात्कार, सर्वेक्षण आदि विधियाँ विशेष स्थितियों में आनुषंगिक रूप में ही उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं।

वैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय तथा साहित्यिक शोध का आदर्श रूप तो तथ्यान्वेषण और तत्त्व-बोध की प्रक्रिया की वैज्ञानिकता ही है, किन्तु विज्ञान के क्षेत्र में यह शोध-प्रक्रिया शत-प्रतिशत वैज्ञानिक रहती है। इसका कारण है विज्ञान का वैज्ञानिक स्वरूप। समाजशास्त्रीय विषयों के शोधों में सामाजिक गतिविधियाँ शोध का विषय बनती हैं, जो विज्ञानगत भौतिक तथ्यों के समान निश्चित नहीं होतीं। अतः सामाजिक विषयों से सम्बन्धित शोधों में शोध-प्रक्रिया या प्रविधि भी वैज्ञानिक शोध के समान शत-प्रतिशत वैज्ञानिक नहीं हो सकती। साहित्य का स्वरूप तो समाजशास्त्रीय विषयों से भी अधिक जटिल, गम्भीर और अनिश्चित होता है, अतः साहित्यिक शोध में प्रविधि को सर्वाधिक नमनीय या लचकीला रूप ग्रहण करना पड़ता है। फिर भी साहित्यिक शोध का लक्ष्य तो वैज्ञानिकता को अधिकाधिक सुरक्षित रखना ही होता है।

साहित्य न तो प्रत्यक्षतः ज्ञान है और न ही विज्ञान। वह तो एक कला है, जिसमें ज्ञान-विज्ञान अपनी स्वरूपगत सीमाओं को त्याग कर भावना और कल्पना के साँचे में ढलकर संवेदना-संवलित रूप में अभिव्यक्त होते हैं। जहाँ विज्ञान और समाजशास्त्रों का जगत् से सीधा सम्बन्ध होता है, वहाँ साहित्य वास्तविक जगत् के समानान्तर अपने ही जगत् की सृष्टि करता है। आचार्य भामह के अनुसार कवि ही अपार काव्य-संसार का स्रष्टा होता है। ऐसी स्थिति में विज्ञान और समाजशास्त्र जगत् से प्रत्यक्ष सम्बन्ध के कारण समाज के लिए उपयोगी होते हैं, किन्तु साहित्य अपने सृजनात्मक या कलात्मक स्वरूप के कारण न तो विज्ञान के समान कोई उपयोगी आविष्कार करता है और न समाजशास्त्रों के समान सामाजिक व्यवस्था को प्रत्यक्षतः प्रभावित या निर्धारित करता है। साहित्य का कलात्मक प्रभाव भावात्मक होता है। उसका लक्ष्य है लोक-रंजन तथा लोक-मंगल। साहित्यिक शोध में भी लोक-मंगल की प्रेरणा निहित रहती है। शोधक अनेक बार ऐसे तथ्यों या तत्त्वों की खोज करता है, जिनसे साम्प्रदायिक, धार्मिक, राजनीतिक, संकीर्णताओं और भेदभावों के उन्मूलन की प्रेरणा मिलती है और भावनात्मक एकता और साम्प्रदायिक सौमनस्य का पथ प्रशस्त होता है। डॉ. मलिक मुहम्मद का 'वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन' तथा डॉ. निजाम उद्दीन का 'हिन्दी में राम-भक्ति-सम्बन्धी महाकाव्यों का अध्ययन' इसी

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रकार के शोधात्मक प्रयास हैं। डॉ. भ.ह. राजूरकर ने अपने लेख 'साहित्यिक अनुसन्धान' में साहित्यिक अनुसन्धान का लक्ष्य मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा, साहित्य-सृजन के अनुशासन को पहचानना और सांस्कृतिक बोध का उन्नयन माना है। साहित्य के मंगलकारी और अमंगलहारी स्वरूप के अनुरूप साहित्यिक शोध का लक्ष्य भी विकृतिनिवारक और संस्कृतिसम्प्रसारक होता है।

5.3.1. साहित्यिक शोध के क्षेत्र

पहले लिखा जा चुका है कि साहित्यिक शोध के विषय में क्षेत्र और दृष्टि का समावेश रहता है। जिस प्रकार दृष्टि शोध-विषय का महत्त्वपूर्ण घटक है, उसी प्रकार क्षेत्र भी नितान्त अनिवार्य तत्त्व है। शोध-विषय के क्षेत्र पर शोध का स्वरूप आधारित रहता है। बिना शोध-क्षेत्र के दृष्टि का कोई लाभ नहीं है, क्योंकि दृष्टि को शोध-क्षेत्र पर ही तो लागू किया जाता है। यदि क्षेत्र ही निर्धारित न होगा तो अकेली-दृष्टि को किस पर लागू किया जायेगा!

अनुभूतिगत और अभिव्यक्तिगत संरचना की दृष्टि से साहित्यिक अनुशीलन को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है - (1) साहित्यानुशीलन और (2) भाषिक अनुशीलन। साहित्य में भाव और भाषा परस्पर अविच्छिन्न रूप में गुम्फित रहते हैं, अतः यह वर्गीकरण प्रधानता के आधार पर ही है। साहित्यानुशीलन में अनुशीलन के दो स्तर समाहित हैं - (क) साहित्य का कालक्रमिक विकासात्मक अध्ययन साहित्येतिहास का विषय है (ख) साहित्य की आन्तरिक संरचना का अध्ययन काव्यशास्त्र का विषय है। साहित्य के भाषिक अध्ययन को मुख्यतः तीन वर्गों में रखा जा सकता है - (क) भाषा के स्वरूप का भाषिक घटकों के आधार पर तटस्थ वैज्ञानिक विवेचन भाषा-विज्ञान का विषय है। (ख) भाषा के शैलीगत, रचनात्मक स्वरूप का अध्ययन शैलीविज्ञान का प्रतिपाद्य है। (ग) भाषा के कृतिगत पाठ की प्रामाणिकता की परख पाठालोचन या पाठानुसन्धान का क्षेत्र है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर साहित्यिक शोध के निम्नलिखित क्षेत्र उभरकर सामने आते हैं - (1) साहित्येतिहास (2) काव्यशास्त्र (3) भाषा-विज्ञान (4) शैली-विज्ञान तथा (5) पाठालोचन।

शिक्षित और अशिक्षित लोक-मानस के आधार पर साहित्य को दो वर्गों में वर्गीकृत किया जाता है - (1) परिनिष्ठित साहित्य तथा (2) लोक-साहित्य। परिनिष्ठित साहित्य के अन्तर्गत सारी काव्य-विधाएँ तथा गद्य-विधाएँ सम्मिलित हैं। इसी प्रकार लोक-साहित्य के अन्तर्गत गद्यात्मक, गीतात्मक विधाओं के साथ ही

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

लोक-संस्कृति भी सम्मिलित है। इनमें से परिनिष्ठत साहित्य का अध्यनन तो काव्यशास्त्रीय, शैलीवैज्ञानिक, साहित्येतिहासिक क्षेत्रों के अन्तर्गत आ जाता है, किन्तु 'लोक-साहित्य' एक प्रमुख स्वतन्त्र शोध-क्षेत्र है। इस प्रकार क्षेत्र की दृष्टि से लोक-साहित्य को हम साहित्यिक शोध का छठा क्षेत्र मान सकते हैं।

5.3.2. साहित्यिक शोध की दृष्टियाँ

दृष्टि का सम्बन्ध ज्ञान से है और ज्ञान का शास्त्र से। विभिन्न ज्ञान-क्षेत्रों को केन्द्र में रखकर विभिन्न शास्त्रों का उदय हुआ है। मनोविज्ञानशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास, दर्शनशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि ज्ञान के विविध क्षेत्रों पर प्रकाश डालते हैं। यद्यपि साहित्य का उदय भी जीवन और जगत् से हुआ है और विभिन्न शास्त्रों का भी, तथापि साहित्य शास्त्र से स्वरूप या प्रकृति की दृष्टि से भिन्न है। जहाँ शास्त्र नितान्त बौद्धिक है, वहाँ साहित्य अनुभूतिप्राण है। शास्त्र चिन्तन या विचार पर केन्द्रित है, किन्तु साहित्य में विचार-तत्त्व भावना और कल्पना के साँचे में ढलकर व्यक्त होता है। ज्ञान का समूचा विस्तार भावना और कल्पना के संचार का विषय बन सकता है। साहित्यिक अनुभूति में विचार, भावना और कल्पना की अविच्छेद्य सम्पृक्ति या गुम्फन रहता है। साहित्यिक अनुभूति में ढल कर ज्ञान शुद्ध ज्ञान नहीं रहता, वह केवल अर्थ मात्र नहीं रह जाता, वरन् रसात्मक, बिम्बात्मक और ललित रूप ग्रहण कर लेता है। शास्त्रीय ज्ञान ही नहीं, अनेक वैज्ञानिक विषयों को भी अनुभूतिपरक रूप देकर बहुत से उपन्यासों, कहानियों आदि की रचना की गयी है। ज्ञान भावना और कल्पना को दिशा और दृष्टि तो देता ही है, साथ ही चिन्तन को उच्च स्तर भी प्रदान करता है। इसीलिए कोई भी साहित्यिक कृति ज्ञानशून्य या दृष्टिहीन नहीं होती। दृष्टि कृति की संरचना में अनुस्यूत रहती है। अतः कृति के शोधात्मक अनुशीलन में कृतिगत चिन्तन या दृष्टि को कृति के विवेचन और मूल्यांकन का निकष मानकर चलना सर्वथा स्वाभाविक भी है और उपादेय भी।

प्रत्येक साहित्यिक कृति में किसी एक वैचारिक दृष्टि की प्रमुखता होते हुए भी मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक, सौन्दर्यशास्त्रीय आदि अन्य दृष्टियाँ भी यथास्थान अभिव्यक्त होती हैं और सबके संयोजन से एक समग्र जीवन-दर्शन उभरता है। शोधक कृति में निहित समग्र जीवन-दर्शन को भी अपने शोध का आधार बना सकता है और किसी एक दृष्टि को भी।

साहित्य का मनोविज्ञान, राजनीतिशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि साहित्येतर विद्याओं के निकष पर परीक्षण और मूल्यांकन करना अन्तरविद्यावर्ती शोध (Inter-

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

disciplinary Research) कहलाता है।

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में क्षेत्रों और दृष्टियों के आधार पर साहित्यिक शोध के प्रमुख प्रकार निम्नलिखित हैं - (1) साहित्येतिहासिक शोध (2) काव्यशास्त्रीय शोध (3) भाषावैज्ञानिक शोध (4) शैलीवैज्ञानिक शोध (5) पाठानुसन्धान (6) लोकसाहित्यिक शोध तथा (7) अन्तरविद्यावर्ती शोध।

5.4 साहित्यिक शोध के प्रकार

यहाँ साहित्यिक शोध के उपर्युक्त प्रकारों के स्वरूप और प्रविधि पर संक्षेप में विचार करना प्रासंगिक होगा।

5.4.1 साहित्येतिहासिक शोध

साहित्येतिहास के स्वरूप को समझने के लिए इतिहास के अर्थ और स्वरूप को समझना आवश्यक है। इतिहास शब्द इति+ह+आस्+घञ् से निर्मित है, जिसका अर्थ है 'ऐसा हुआ था।' इस प्रक़ार अतीत की घटनाओं के कालक्रम में संयोजित इतिवृत्त को इतिहास कहा जाता है। किन्तु अपने वर्तमान अर्थ की दृष्टि से इतिहास निर्जीव तथ्यों का संकलन मात्र नहीं है। वस्तुतः इतिहास मानवीय विकास की जीवन्त प्रक्रिया है। इतिहासकार निस्संग दृष्टि से अतीत के तथ्यों के क्रम में निहित सामाजिक-सांस्कृतिक विचारधारा के अखण्ड सातत्य का अनुसन्धान करते हुए तथ्यों और वैचारिक तत्त्वों में कारण-कार्य-मूलक सम्बन्ध की स्थापना करता है। इतिहासकार की तटस्थता तथ्यों और तत्त्वों के युक्तिसंगत क्रम से विकसित सांस्कृतिक चेतना को निस्संग भाव से ग्रहण करने में है। सही ऐतिहासिक अध्ययन के लिए निम्नलिखित तीन बातें आवश्यक हैं - (1) इतिहासकार की दृष्टि की स्वच्छता और तटस्थता (2) ज्ञात तथ्यों को बिना तोड़े-मरोड़े सही रूप में संकलित करना तथा अज्ञात या अल्पज्ञात तथ्यों की खोज करना (3) कारण-कार्य-मूलक वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर तथ्यों को क्रमबद्ध करना और उनसे निष्कर्ष रूप में प्राप्त सामाजिक-सांस्कृतिक विचारधारा तक पहुँचना।

काल अखण्ड है। काल की अखण्डता के कारण अतीत से लेकर वर्तमान तक घटित घटनाओं या तथ्यों में भी एक आन्तरिक वैचारिक संगति या चिन्तन-परम्परा अनुस्यूत रहती है। अतीत से वर्तमान तक की समग्र विकास-परम्परा एक अविच्छिन्न कारण-कार्य-श्रृंखला में गुँथी रहती है। इतिहासकार की प्रतिभा तथ्यों की श्रृंखला में

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

निहित वैचारिक संगति के सूत्रों को खोज लेती है। अपने आदर्श रूप में इतिहास काल-क्रम में नियोजित तथ्यों और उनसे सम्बद्ध विचारधाराओं और अनुभूतियों का सुसम्बद्ध दस्तावेज है।

तथ्याश्रित दृष्टि के स्थान पर अन्तर्मुखी या आत्मनिष्ठ दृष्टि की प्रधानता के कारण भारत में सही इतिहास-बोध का विकास न हो सका। भारत में इतिहास को पुराण का समानार्थक माना जाता रहा। महाभारत के रचयिता व्यास ने 'इतिहास को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का उपदेश देने का माध्यम' माना। डॉ. मेक्डोनल (Dr. Macdonell) ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि इतिहास भारतीय साहित्य का दुर्बल पक्ष है, वस्तुतः उसका अस्तित्व ही नहीं है - "History is one weak point in Indian literature. It is in fact non-existent." पश्चिम के इतिहासकारों ने इतिहास-लेखन में वस्तुनिष्ठ, वैज्ञानिक दृष्टि को महत्त्व दिया है। इतिहास के प्रथम व्याख्याता यूनानी विद्वान् हिरोदोतस (सन् 545-456 ई. पू.) ने इतिहास के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए इसके चार लक्षण निर्धारित किये हैं - (1) इतिहास विज्ञान है, अतः इसकी पद्धति आलोचनात्मक होती है। (2) वह मानव जाति से सम्बद्ध होने के कारण मानवीय विद्या है। (3) इसमें तथ्य और निष्कर्ष प्रमाणों पर आधारित होते हैं। (4) इतिहास अतीत के आलोक से भविष्य पर भी प्रकाश डालता है।

साहित्य में व्यक्त मनःस्थितियों में युगीन परिस्थितियों की क्रिया-प्रतिक्रिया निहित रहती है। साहित्यकार अपनी कृति के माध्यम से सामाजिक विकृतियों के प्रति आक्रोश और सत्प्रेरणाओं के प्रति समर्थन व्यक्त करता है। इस प्रकार मानव और जगत् की भाँति साहित्य की प्रकृति भी द्वन्द्वात्मक है। युगीन जनता की चित्रवृत्तियाँ ही साहित्यिक कृतियों की द्वन्द्वात्मक मनःस्थितियों के रूप में व्यक्त होती हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, 'जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्रवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्रवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्रंवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।' इस प्रकार परिस्थितियों से प्रसूत मनःस्थितियों के साथ साहित्य में व्यक्त प्रवृत्तियों में कारण-कार्य-शृंखला स्थापित करना ही साहित्येतिहास है। शुक्ल जी की यह धारणा निश्चय ही वैज्ञानिक और तर्कसंगत है। डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त ने पाश्चात्य विचारकों के साहित्येतिहास-दर्शन से सम्बन्धित मतों का अध्ययन करके

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

साहित्य की विकास-प्रक्रिया के पाँच सामान्य सूत्र निर्धारित किये हैं : (1) साहित्यकार की सर्जनात्मक प्रतिभा (2) परम्परा (3) परिवेश (4) द्वन्द्व तथा (5) सन्तुलन। इन तत्त्वों के आधार पर साहित्य के विकास की प्रक्रिया रचनाकार की प्रतिभा की रचनात्मक ऊर्जा से अनुप्राणित रहती है। रचनाकार की प्रतिभा को परम्परा के आदर्शात्मक तत्त्वों और परिवेश की यथार्थ समस्याओं के द्वन्द्व से गुज़रना पड़ता है और अन्त में आदर्श और यथार्थ में सामंजस्य या सन्तुलन स्थापित होता चलता है। किन्तु सन्तुलन के बाद फिर नया द्वन्द्व प्रारम्भ हो जाता है और नया चक्र चलता है।

5.4.1.1. साहित्येतिहासिक शोध के आयाम

प्रबुद्ध और पारदर्शी प्रतिभा वाले शोधार्थियों के लिए साहित्येतिहास का क्षेत्र शोध के अनेक आयाम प्रस्तुत करता है। इस क्षेत्र में शोध की अनेकानेक सम्भावनाएँ निहित हैं। विशिष्ट प्रतिभा और साधना की आवश्यकता होने के कारण सुविधाकामी शोधक इस क्षेत्र में प्रवेश करने से कतराते हैं। इस क्षेत्र में कम ही शोध-कार्य हुआ है। इस क्षेत्र के प्रमुख शोध्य आयाम इस प्रकार हैं :

1. **कृतिकारों और कृतियों की खोज :** इस वर्ग में निम्नलिखित शोध-विषय समाहित है :

(क) अज्ञात या अल्पज्ञात कवियों के जीवन-वृत्त तथा कृतियों (पाण्डुलिपियों) की खोज, सम्पादन और समालोचन।

(ख) युग-प्रवर्तक साहित्यकारों के ऐतिहासिक महत्त्व और योगदान का मूल्यांकन।

(2) **प्रेरणा-स्त्रोतों और प्रभावों का अध्ययन :** इस वर्ग में निम्नलिखित प्रकार के अध्ययन समाविष्ट हैं :

(क) सन्त, सूफी, कृष्ण, राम, रीति आदि से सम्बन्धित परम्पराओं या धाराओं के प्रेरणा-स्त्रोतों का अध्ययन।

(ख) स्वदेशी और विदेशी चिन्तनधाराओं के प्रभाव का अध्ययन।

(3) **विकासात्मक अध्ययन :** इस वर्ग में निम्नलिखित विषय-क्षेत्र सम्मिलित हैं :

(क) सभी काव्य-परम्पराओं/धाराओं का पृथक्-पृथक् प्रारम्भ से अब तक का विकासात्मक अध्ययन।

(ख) रहस्यवाद, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि वादों का विकासात्मक अध्ययन।

(ग) अद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत आदि चिन्तनों का विकासात्मक अध्ययन।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(घ) दूत-काव्य, नीति-काव्य, बारहमासा-वर्णन, षड्ऋतु-वर्णन आदि का विकासात्मक अध्ययन।

(ङ) महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक नामक काव्य-विधाओं तथा उपन्यास, नाटक, कहानी आदि गद्य-विधाओं का पृथक्-पृथक् विकासात्मक अध्ययन।

(4) युगीन परिवेश, साहित्य और प्रवृत्तियों का अध्ययन : इस वर्ग के प्रमुख विषय-क्षेत्र इस प्रकार हैं :

(क) प्रत्येक युग के परिवेश, साहित्य और प्रवृत्तियों के निरूपण से सम्बन्धित युगीन इतिहास।

(ख) युगयुगीन अखण्ड इतिहास के लेखन और पुनर्लेखन की आवश्यकता सदैव बनी रहेगी।

(5) भाषा और शिल्प के विकास का अध्ययन : इसमें निम्नलिखित विषय-क्षेत्र समाहित हैं :

(क) अपभ्रंश, अवधी, मैथिली, ब्रजभाषा, राजस्थानी खड़ी बोली आदि काव्य-भाषाओं के विकास का अध्ययन।

(ख) काव्य-रूपों, छन्दों, अलंकारों आदि के विकास का अध्ययन।

(6) विभिन्न युगों, परम्पराओं, कवियों, कृतियों, प्रवृत्तियों आदि का तुलनात्मक अध्ययन।

उपर्युक्त सभी आयाम शोध के लिए नये विषय प्रस्तुत करते हैं। साहित्य और संस्कृति की विकास-परम्परा के अखण्ड सातत्य को समझने और समझाने के लिए साहित्येतिहासिक-शोध का विशेष महत्त्व है। निरन्तर विकसनशील होने के कारण साहित्येतिहास लेखन का कार्य कभी पूरा नहीं हो सकता, इसलिए वर्तमान में रचे जा रहे साहित्य के विकास को साहित्येतिहास का अंग बनाते चलना एक सनातन समस्या है। विकास काल-विभाजन और नामकरण की समस्या भी प्रस्तुत करता चलता है। यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से सन् 1947 से बाद का काल-खण्ड अपनी स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता रखता है, फिर भी साहित्येतिहासकारों ने इस काल-खण्ड को एक पृथक् काल-खण्ड के रूप में नहीं पहचाना है और न इसके लिए कोई अलग नामकरण किया है। मैंने प्रथम बार इस कालखण्ड को 'आधुनिकतावादी चेतना-काल' नाम दिया है। आशा है भावी शोधक और साहित्येतिहासकार इस दिशा में ध्यान देंगे। प्रत्येक काव्यधारा या साहित्यिक परम्परा के स्रोतों का अध्ययन भी साहित्येतिहास का बहुत ही रोचक विषय है। मैंने अपने साहित्येतिहास में साहित्यिक स्रोतों के अध्ययन को भी विशेष महत्त्व प्रदान किया है, क्योंकि इससे परम्पराओं का विकास कारण-कार्य-मूलक वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार हृदयंगम होता चलता है और साहित्य के

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ऐतिहासिक विकास-क्रम की अन्तश्चेतना या मूल प्रेरणा को समझने में सहायता मिलती है।

5.4.1.2. साहित्येतिहासिक शोध की प्रविधि

साहित्येतिहासिक शोध की प्रविधि अन्य शास्त्रीय विषयों की प्रविधि से विशेष भिन्न नहीं है। इसमें भी तीन सोपानों – (1) तथ्य-संकलन (2) तथ्याख्यान और (3) निष्कर्षण या तत्त्वान्वेषण – को ग्रहण करना पड़ता है। तथ्य दो प्रकार के होते हैं – साहित्यिक तथ्य और सरकारी या शासकीय तथा गैरसरकारी प्रपत्र या दस्तावेज। शोध्य कृति या कृतियों से साहित्यिक तथ्य संकलित किये जाते हैं और निहित विचारों या तत्त्वों को ध्यान में रखकर उनका वर्गीकरण किया जाता है, फिर विभिन्न वर्गों में वर्गीकृत तथ्यों का आख्यान या विवेचन किया जाता है। शासकीय या गैरसरकारी दस्तावेज बहिस्साक्ष्य का कार्य करते हैं। उनसे साहित्यिक कृतियों में उपलब्ध तथ्यों या अन्तःसाक्ष्यों की पुष्टि करने में सहायता मिलती है और विवेचन अधिक से अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय होता है। इन दस्तावेजों में सरकारी घोषणा-पत्र, पट्टे, परवाने, सिक्के, प्राचीन ग्रन्थ, गज़ट, शिलालेख, आज्ञा-पत्र, दान-पत्र, कानूनी दस्तावेज, प्रमाण-पत्र जीवनियाँ, आत्मकथाएँ, संस्मरण, यात्रावृत्त आदि परिगणित हैं। शोधार्थी को इन तथ्यों की प्रामाणिकता की परख अवश्य कर लेनी चाहिए। पुराणों तथा वार्त्ता-साहित्य में श्रद्धावश अनेक अलौकिक विवरणों का भी जहाँ-तहाँ समावेश कर दिया गया है। कई बार तो अन्तःसाक्ष्य भी असत्य और अप्रामाणिक होते हैं। भारतीय इतिहासकोश के अनुसार तराइन (तलावड़ी) के द्वितीय युद्ध में सन् 1192 में शहाबुद्दीन ने पृथ्वीराज को परास्त करके मार डाला। इसके विपरीत पृथ्वीराज रासो में युद्ध में बन्दी बनाकर गोर देश ले जाये गये पृथ्वीराज को शब्दवेधी बाण से मुहम्मद गौरी का अन्त करते हुए दिखाया गया है और इस प्रकार एक वीर नायक के गौरव की रक्षा की गयी है। स्पष्ट है कि उक्त अन्तःसाक्ष्य राष्ट्रीय गौरव के अनुरूप होते हुए भी अतथ्य और अनैतिहासिक है। इस प्रकार तथ्यों की प्रामाणिकता की परख अत्यावश्यक है। तथ्याख्यान में तटस्थता और विशुद्ध बौद्धिकता अपेक्षित है। दुराग्रह से मुक्त रहकर तथ्याख्यान करते हुए शोधक को सही निष्कर्षों तक पहुँचना चाहिए।

वास्तव में साहित्येतिहासिक शोध का लक्ष्य तथ्याख्यान के माध्यम से साहित्यिक कृतियों के ऐतिहासिक क्रम में निहित उस सांस्कृतिक चेतना की खोज करना है, जो पूरी साहित्य-शृंखला को एक सूत्र में गुम्फित करती है। विभिन्न युगों की परिस्थिति और परिवेश की भिन्नताओं के रहते हुए भी किसी देश या समाज के साहित्य की

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

केन्द्रीय चेतना एक ही रहती है। विशेष देश के परिवेश में युगीन परिवर्तनों के घटित होने पर भी केन्द्रीय चेतना में लयबद्धता रहती है। उस केन्द्रीय चेतना तक पहुँचने के लिए शोध की विकासवादी पद्धति का प्रश्रय लेना उपयोगी है। साहित्यकार की सर्जनात्मक प्रतिभा सांस्कृतिक परम्परा से अनुप्राणित होकर परिवेशगत विसंगतियों के विरुद्ध द्वन्द्व करती है और अन्ततः समन्वयवादी मूल्य-चेतना में परिणत हो जाती है। अतः विकास-प्रक्रिया के पाँच मूल सूत्र हैं - (1) साहित्यकार की सृजनात्मक प्रतिभा (2) परम्परा (3) परिवेश (4) द्वन्द्व और (5) सन्तुलन। इन बिन्दुओं को विवेचन का आधार बनाकर प्रत्येक युग के साहित्य की मूल चेतना को रेखांकित करते हुए युगयुगीन अखण्ड साहित्य की विवेचना की जा सकती है और युग-युग में व्याप्त सांस्कृतिक चेतना के कालक्रमिक चढ़ाव-उतार का विकासात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है। उदाहरण के लिए मध्यकालीन विषम द्वन्द्वात्मक स्थिति का समन्वयकारी समाधान वैष्णव परम्परा से प्रसूत भक्ति-आन्दोलन में खोजा जा सकता है। अकेले तुलसी के कृतित्व में यह विकासात्मक प्रक्रिया घटित होते हुई दिखलायी पड़ती है। उन्होंने कलियुग-निरूपण के रूप में तत्कालीन विषमता और द्वन्द्व का चित्रण किया है तथा राम-राज्य-निरूपण और भक्ति के द्वारा सन्तुलनकारी सांस्कृतिक चेतना और मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा की है।

संक्षेप में, साहित्येतिहासिक शोध साहित्यिक शोध का एक प्रमुख प्रकार है। इसके लिए अध्येता में पारदर्शी प्रतिभा अपेक्षित है। साहित्य के विकास में प्राणधारा के रूप में प्रवाहित अन्तर्वर्ती सांस्कृतिक चेतना को खोजना और विवेचित करना साहित्येतिहासिक शोध का मूल मन्तव्य है। साहित्य की विकास-परम्परा में निहित दृष्टि, चेतना या मूल्य-बोध के आधार पर साहित्येतिहासिक शोध में प्रवृत्त होना चाहिए। किसी बाहरी आरोपित दृष्टि से साहित्य के विकास-क्रम को समझना-समझाना न्यायसंगत नहीं है। विभिन्न काव्य-परम्पराओं के स्रोतों का अनुसन्धान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इससे साहित्येतिहास की कारण-कार्य-मूलकता और सूत्रबद्धता स्पष्ट उजागर होती है और विकास के क्रम को युक्तिसंगत रूप में देखा-परखा जा सकता है। अन्तःसाक्ष्यों और बहिस्साक्ष्यों की प्रामाणिकता की परख इस प्रकार के अध्ययन में विशेष उपादेय है। दस्तावेजी प्रमाणों के परीक्षण, विश्लेषण पर आश्रित वैज्ञानिक शोध-पद्धति के साथ ही साहित्य की विकास-परम्परा में अनुस्यूत सृजनात्मक सांस्कृतिक चेतना के साक्षात्कार के लिए शोध की विकासवादी पद्धति का प्रश्रय ग्रहण करना श्रेयस्कर है।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

5.4.2. काव्यशास्त्रीय शोध

काव्यशास्त्र काव्य या साहित्य का दर्शन है। यह दर्शन-शास्त्र की भाँति ही सूक्ष्म और गहन है। परम्पराओं का अखण्ड सातत्य भारतीय चिन्तन की सामान्य विशेषता है। यह बात भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन पर भी पूर्णतः घटित होती है। रस-चिन्तन की जिस परम्परा का विकास आचार्य भरत से हुआ था, वही आनन्दवर्द्धन, अभिनव गुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ से होती हुई आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. नगेन्द्र आदि तक अखण्ड रूप में अग्रसर होती रही। यह ही नहीं, अलंकारवादियों, रीतिवादियों, वक्रोक्तिवादियों आदि ने भी रस को अपने चिन्तन का विषय बनाया और उसे उचित महत्ता प्रदान की। विभिन्न काव्य-सिद्धान्तों के आचार्यों ने वस्तुनिष्ठ एवं तर्कसम्मत दृष्टि से काव्य के केन्द्रीय सृजनात्मक तत्त्व का अनुसन्धान किया है। काव्य के उस मौलिक सृजनात्मक सौन्दर्य या चारुत्व को ही भामह, दण्डी आदि आचार्यों ने अलंकार, आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति, आचार्य वामन ने रीति तथा आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि नाम से अभिहित किया है। ये सभी आचार्य अपने मत की प्रतिष्ठा के लिए दूसरे मतों को स्वमत में समाहित करके अपने मत की सर्वांगीणता सिद्ध करते दिखलायी पड़ते हैं। सभी अपने मत को प्रतिष्ठित करते हैं, दूसरे मतों को यथासम्भव ग्रहण करते हैं और रस को भी मान्यता प्रदान करते चलते हैं। इससे समग्र भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन में अनेकता में एकता और एकता में अनेकता के दर्शन होते हैं। रीति, अलंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य काव्य के सत्य हैं तो रस सब सत्यों का भी सत्य है।

शब्द और अर्थ, अनुभूति और अभिव्यक्ति का संयुक्त सौन्दर्य ही काव्य का केन्द्रीय सर्जनात्मक तत्त्व है। यही काव्य की आत्मा है। भारतीय आचार्यों ने इसी शब्दार्थगत, सृजनात्मक चारुत्व को अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि नामों से अभिहित किया है। यद्यपि सभी आचार्य काव्यात्मा का अनुसन्धान करते समय एक ही केन्द्रीय तत्त्व पर पहुँचे, तथापि उनके चिन्तन में आनुपातिक अन्तर है। रीति और अलंकार सम्प्रदायों में अर्थ, गुण और रस की महत्ता को स्वीकारते हुए भी भाषिक संरचना के कौशल पर विशेष बल है। अलंकार और रीति की अपेक्षा वक्रोक्ति सिद्धान्त में भाव-भंगिमा के रूप में अर्थ-तत्त्व का अनुपात बढ़ गया है। ध्वनि-सिद्धान्त में सूक्ष्म व्यंग्यार्थ को विशेष गौरव प्राप्त हुआ है। रस-सिद्धान्त में तो आचार्यों का ध्यान मुख्यतः भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के रूप में सूक्ष्म अनुभूति-क्षेत्र पर ही केन्द्रित रहा है। यहाँ यह भी ध्यातत्व है कि रस-सिद्धान्त अन्य सिद्धान्तों से इस रूप में भी भिन्न है कि जहाँ रसेतर रीति, अलंकार आदि सिद्धान्त भाव और उसकी सफल भाषिक अभिव्यक्ति तक ही सीमित हैं, वहाँ रस-सिद्धान्त सहृदय समाज या काव्य-

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

रसिक पाठक-वर्ग पर काव्य के सम्भावित प्रभाव की प्रक्रिया के रूप में साधारणीकरण के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डालता है। रस-सिद्धान्त काव्य-संवेदना और लोक-संवेदना में तादात्म्य की खोज करता है। अतः उसकी दृष्टि काव्य-सापेक्ष के साथ लोक-सापेक्ष भी है। रस-सिद्धान्त अपने चिन्तन में सर्वाधिक जनतान्त्रिक है। किन्तु यहाँ यह भी स्मरणीय है कि अलंकार-रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि के बिना सरस काव्य की सृष्टि सम्भव नहीं है। अतः इनकी सत्ता और महत्ता भी सर्वथा स्वीकार्य है।

काव्यशास्त्रीय शोध में भारतीय काव्यशास्त्र के साथ पाश्चात्त्य काव्यशास्त्र भी समाहित है। वर्तमान भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन पर पाश्चात्त्य काव्यशास्त्रीय चिन्तन का प्रचुर प्रभाव पड़ा है। ऐसी स्थिति में प्रभाव-निरूपक शोध के साथ ही तुलनात्मक शोध के भी नये आयाम उद्घाटित हुए हैं।

5.4.2.1. काव्यशास्त्रीय शोध के आयाम

काव्यशास्त्रीय शोध के आयामों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है - (क) भारतीय काव्यशास्त्रीय आयाम (ख) भारतीय और पाश्चात्त्य काव्यशास्त्र के तुलनात्मक आयाम तथा (ग) किसी कृति का काव्यशास्त्रीय अध्ययन।

(क) भारतीय काव्यशास्त्रीय आयाम में निम्नलिखित आयाम सम्मिलित हैं :

(1) अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, रस, औचित्य नामक सम्प्रदायों का पृथक्-पृथक् विकासात्मक अध्ययन और मूल्यांकन।

(2) सभी भारतीय काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के रस-चिन्तन का तुलनात्मक अध्ययन।

(3) भारतीय काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन।

(4) भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि में काव्य का स्वरूप।

(5) भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन के दो सीमान्त - लोक और अध्यात्म।

(6) रस सिद्धान्त का सौन्दर्यशास्त्र, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, संस्कृति आदि अन्तर विद्यावर्ती दृष्टियों से अध्ययन (यथा - रस और सौन्दर्यशास्त्र, रस और मनोविज्ञान आदि)।

(7) भारतीय काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों के विकास का वैज्ञानिक इतिहास। (भारतीय काव्यशास्त्र का वैज्ञानिक इतिहास)।

(ख) भारतीय तथा पाश्चात्त्य काव्यशास्त्र के तुलनात्मक आयाम इस प्रकार हैं :

(1) विभावन-व्यापार और काव्य-बिम्ब।

(2) साधारणीकरण और सम्प्रेषणीयता का सिद्धान्त।

(3) रीति-सिद्धान्त और शैलीविज्ञान।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(4) ध्वनि-सिद्धान्त और प्रतीक-योजना।
(5) भारतीय तथा पाश्चात्त्य काव्य की दृष्टि में काव्य का स्वरूप (काव्यानुभूति, काव्य-भाषा, काव्य-प्रयोजन आदि)
(6) भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन पर पाश्चात्त्य काव्यशास्त्र का प्रभाव।
(7) भारतीय तथा पाश्चात्त्य काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन।

(ग) किसी कृति का काव्यशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन, यथा -
कामायनी : रस-सिद्धान्त के निकष पर, बिहारी-सतसई में वक्रोक्ति, साकेत में बिम्ब-विधान, धर्मवीर भारती के काव्य में प्रतीक-योजना आदि।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक आयाम सम्भव हैं। कुछ मुद्दों पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए 'जुगुप्सा' स्थायी भाव पर केन्द्रित 'वीभत्स रस' की उद्भावना सुरुचिसम्पन्न सहृदय के लिए कभी भी ग्राह्य नहीं हो सकती। करुण रस की आस्वादनीयता में तो कोई संकट नहीं है, किन्तु करुण रस का स्थायी भाव 'शोक' मानना निश्चय ही शोचनीय है। क्यों नहीं सीधे-सीधे 'करुणा' को करुण रस का स्थायी भाव मान लिया जाता? कहीं-कहीं भेदोपभेदों के प्रति भारतीय आचार्यों का आग्रह दुराग्रह की भी सीमा पार कर गया है। ध्वनि के भेदोपभेदों में इसकी पराकाष्ठा देखी जा सकती है। शोधकों का यह कर्त्तव्य है कि वे वैज्ञानिक दृष्टि से तर्कसम्मत पर्यालोचन करते हुए अनावश्यक भेदोपभेदों को निरस्त करें और उनकी युक्तिसंगत संख्या को ही मान्यता प्रदान करें।

5.4.2.2. काव्यशास्त्रीय शोध की प्रविधि

भारत में प्राचीनकाल से ही दर्शन, काव्यशास्त्र आदि शास्त्रीय विषयों के वस्तुनिष्ठ एवं तर्कसम्मत प्रतिपादन की नितान्त तटस्थ एवं बौद्धिक शास्त्रीय निरूपण-पद्धति प्रचलित रही है। ग्रन्थ-लेखन में तो इस शास्त्रीय पद्धति का उपयोग किया ही जाता था, बड़ी-बड़ी विद्वत्सभाओं में शास्त्रार्थ के समय भी इसी शास्त्रीय पद्धति का उपयोग किया जाता था। भामह का 'काव्यालंकार' दण्डी का 'काव्यादर्श', मम्मट का काव्य-प्रकाश आदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ अपने समय के, अपने ढंग के शोध-प्रबन्ध ही है, जिनमें शस्त्र-निरूपण की विशिष्ट शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण किया गया है। इन ग्रन्थों में विषय-प्रतिपादन तथ्यात्मक एवं तर्काश्रित पद्धति से किया गया है। विरोधी मतों के खण्डन और अपने मत के मण्डन के लिए विशिष्ट पद्धति का अनुसरण करने की परम्परा रही है। विरोधी पक्ष को 'पूर्व पक्ष' कहा जाता है। पूर्व पक्ष के खण्डन और स्वमत के मण्डन को 'उत्तर पक्ष' कहा जाता है। मत-भेद की स्थिति में शास्त्रज्ञ को पहले सभी तथ्यों और तर्कों के साथ पूर्व पक्ष या विरोधी मत पूर्ण

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

निष्पक्षता के साथ रखना होता है। इसके उपरान्त पूर्व पक्ष के तर्कों का एक-एक के क्रम से तथ्यों और तर्कों के द्वारा खण्डन किया जाता है और खण्डन के उपरान्त निस्संग भाव से प्रामाणिक ढंग से स्वमत की स्थापना की जाती है। यह पद्धति नितान्त विश्वसनीय और वैज्ञानिक है। आज भी वैमत्य की स्थिति में इसका प्रयोग किया जाता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि काव्यशास्त्र के ग्रन्थों से उद्धरण देते समय सूत्रों, कारिकाओं या श्लोकों का पादटिप्पणी में सन्दर्भोल्लेख करते हुए अध्याय की संख्या के बाद सूत्र या कारिका की संख्या का उल्लेख करना चाहिए। पुस्तक की पृष्ठ-संख्या देना ठीक नहीं है।

काव्यशास्त्रीय शोध की पद्धति सामान्य शोध-पद्धति से भिन्न नहीं है। यह भी तथ्य-संकलन, वर्गीकरण, विश्लेषण और निष्कर्षण की प्रक्रियाओं पर आश्रित है।

5.4.3. भाषावैज्ञानिक शोध

जड़ से लेकर चेतन तक विश्व की सारी वास्तविकता भाषा में समाहित होती चलती है। इसीलिए शौनक ऋषि ने अपने ग्रन्थ वृहद्देवता (2, 45) में वाणी या भाषा को 'विश्व' कहा है (अथो वाक् सर्वमेविदम्)। भाषा ध्वनियों से निर्मित शब्दों (पदों) के संयोजन से रचित वाक्यों के द्वारा वक्ता के स्थूल या सूक्ष्म अर्थों या आशयों को व्यक्त करने वाली व्यवस्था है। यह व्यवस्था वाचिक भी है और लिखित भी। अतः ध्वनिविज्ञान, पदविज्ञान, वाक्य-विज्ञान, अर्थविज्ञान और लिपिविज्ञान भाषाविज्ञान के घटक या अंग हैं। भाषाविज्ञान भाषा का विज्ञान है, जिसके अन्दर भाषिक अध्ययन के सभी पक्ष और पद्धतियाँ समाविष्ट हैं। भाषाविज्ञान की परिधि में विश्व की सभी भाषाएँ, बोलियाँ, यहाँ तक कि आदिवासियों की अविकसित बोलियाँ भी समाहित हैं।

भारत में भाषाशास्त्रीय चिन्तन का विकास वैदिक काल से ही हो गया था। वेदों के उपरान्त छह वेदांगों – शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष – में से शिक्षा, व्याकरण और निरुक्त का सीधा सम्बन्ध भाषाविज्ञान से है। शिक्षा का सम्बन्ध ध्वनिविज्ञान से है। शिक्षा वेदांग में स्वरों और व्यंजनों के उच्चारण का बोध कराया गया है। 'व्याकरण' नामक वेदांग में पदविज्ञान और वाक्य-विज्ञान पर प्रकाश डाला गया है। निरुक्त में शब्दों की व्युत्पत्ति का विवेचन है अर्थात् शब्दों के निर्माण में निहित धातु, उपसर्ग और प्रत्यय पर प्रकाश डाला गया है। वेदांगों के अतिरिक्त भाषाविज्ञान के विकास में योग देने वाले ग्रन्थ हैं प्रातिशाख्य। प्रत्येक वेद की

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रतिशाख्य (प्रत्येक शाखा) पर लिखत होने के कारण इन्हें प्रातिशाख्य ग्रन्थ कहा गया है। इनमें प्रथम वैदिक ध्वनियों का वर्गीकरण किया गया है। आचार्य यास्क (लगभग 800 ई.पू.) का ग्रन्थ 'निरुक्त' व्युत्पत्ति-शास्त्र (Etymology) अर्थविज्ञान (Semantics) तथा कोशविज्ञान की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। निरुक्त में सम्मिलित 'निघण्टु' में वैदिक शब्दों के अर्थ दिये गये हैं। यास्क के पश्चात् व्याकरणाचार्यों की सुदीर्घ परम्परा का सूत्रपात हुआ, जिनमें सर्वाधिक प्रख्यात हैं आचार्य पाणिनि। इनका समय पाँचवीं शती ई.पू. माना जाता है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी नामक ग्रन्थ की रचना की। पाणिनि की प्रतिभा से प्रसूत इस अद्भुत ग्रन्थ को विदेशी विद्वान् भी विश्व में व्याकरण का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ मानते हैं। पाणिनि ने संस्कृत भाषा के ध्वनि, पद, वाक्य, अर्थ आदि सभी घटकों का अत्यन्त युक्तिसंगत विवेचन किया है। आधुनिक वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान (Descriptive Linguistics) पर पाणिनि का गम्भीर प्रभाव परिलक्षित होता है। व्याकरणाचार्यों की परम्परा में पाणिनि के लगभग तीन सौ वर्ष पश्चात् कात्यायन का आविर्भाव हुआ। कात्यायन ने पाणिनि-कृत अष्टाध्यायी के चार हज़ार सूत्रों में से पंद्रह सौ सूत्रों पर संशोधनात्मक वार्तिक लिखे। इसीलिए कात्यायन के ग्रन्थ का नाम है वार्तिक। पाणिनि की परम्परा को विकसित करने वाले महान् व्याकरणाचार्य का नाम है पतंजलि, जिनका समय 150 ई.पू. माना जाता है। पतंजलि का प्रसिद्ध ग्रन्थ है महाभाष्य, जिसे उन्होंने पाणिनि की अष्टाध्यायी के अनुसार आठ अध्यायों में लिखा। पतंजलि ने कात्यायन के मतों का खण्डन और पाणिनि का समर्थन करते हुए भाषा के विविध घटकों-ध्वनि, पद, वाक्य, अर्थ आदि के स्वरूप पर सरल भाषा में गहन दार्शनिक चिन्तन प्रस्तुत किया है और ऐसे सनातन नियमों का प्रतिपादन किया है, जो सभी भाषाओं पर घटित होते हैं। पतंजलि ने संस्कृत के साथ ही अपभ्रंश आदि विभाषाओं का भी उल्लेख किया है तथा लोकभाषा को साहित्यिक भाषा से अधिक प्रामाणिक माना है।

यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि किसी देश की प्रातिभ ऊर्जा का उत्कर्ष उसकी भाषा की संरचना में उजागर होता है। भारत में आधुनिक भाषाविज्ञान के जनक, कलकत्ता हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस सर विलियम जोन्स (सन् 1746-96) ने संस्कृत की वैज्ञानिक एवं परिष्कृत संरचना को रेखांकित करते हुए कहा, "The Sanskrit language, whatever be its antiquity, is of wonderful structure, more perfect than Greek, more copious than Latin and more exquisitively refined than either." अर्थात् संस्कृत भाषा भले ही कितनी ही प्राचीन क्यों न हो, इसका संरचनात्मक गठन अद्भुत है, जो ग्रीक की अपेक्षा अधिक पूर्ण, लैटिन की अपेक्षा

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सम्पन्नतर तथा इन दोनों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट रूप में परिष्कृत है। अब कम्प्यूटर ने सिद्ध कर दिया है कि संस्कृत विश्व की सर्वाधिक वैज्ञानिक भाषा है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि भारत के प्राचीन व्याकरणाचार्यों की तुलना में यूनान के प्राचीन भाषाशास्त्रियों का चिन्तन पर्याप्त अविकसित और अवैज्ञानिक था। इस तथ्य की पुष्टि जैस्पर्सन के निम्नलिखित कथन से होती है - "Science presupposes careful observation and systematic classification of facts; of that in old Greek writers on language, we find very little. The earliest masters in the linguistic observation and classification are the old Indian Grammarians." अर्थात् विज्ञान की प्राथमिक आवश्यकता है तथ्यों का सतर्क निरीक्षण और व्यवस्थित वर्गीकरण, जिसका भाषा के विषय में लिखने वाले यूनानियों में बहुत ही कम अंश है। भाषिक निरीक्षण और वर्गीकरण के क्षेत्र में तो भारत के प्राचीन वैयाकरण ही सबसे पहले मर्मज्ञ थे।

भारत में संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि प्राचीन भाषाओं की तुलना को ध्यान में रखकर सर विलियम जोन्स ने जिस तुलनात्मक भाषाविज्ञान का सूत्रपात किया था, उसकी परम्परा को आगे बढ़ाने वालों में सर्वप्रथम हैं विशप कॉल्डवैल (सन् 1814-91), जिन्होंने सन् 1856 में 'द्रविड़ भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' लिखा। इनके पश्चात् जॉन बीम्स (John Beams) ने 'आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण लिखा। डॉ. अर्नेस्ट ट्रम्प (Dr. Earnest Trumpp) ने सन् 1872 में 'सिन्धी व्याकरण' तथा सन् 1873 में 'पश्तो व्याकरण' की रचना की। डॉ. ए. ई. हार्नले (Dr. A. E. Hoernle) ने सन् 1880 में 'पूर्वी हिन्दी तथा अन्य गौड़ीय भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन' ग्रन्थ प्रकाशित किया। हिन्दी भाषा का प्रथम व्याकरण लिखने वाले हैं श्री केलॉग (S. H. Kellogg) जिन्होंने सन् 1876 में 'हिन्दी भाषा का व्याकरण' ग्रन्थ लिखा। जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन (George Abraham Grierson) का आधुनिक भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में अनुपम योगदान है। ये भारतीय भाषाओं के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनकी अक्षय कीर्ति का प्रमुखतम आधार है ग्यारह खण्डों में प्रकाशित इनका महान् ग्रन्थ 'भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण' (Linguistic survey of India)। भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन और वर्गीकरण की दृष्टि से यह ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण है। 'पैशाची भाषा' (सन् 1904), 'कश्मीरी भाषा' (सन् 1911) तथा 'कश्मीरी भाषा कोश' (सन् 1924) डॉ. ग्रियर्सन के अन्य मूल्यवान् ग्रन्थ हैं। फ्रैंच विद्वान् ज्यूल ब्लाख (Jules Bloch) के तीन प्रमुख ग्रन्थ हैं - 'मराठी भाषा की बनावट', 'द्रविड़ भाषाओं की व्याकरणिक संरचना' तथा 'भारतीय आर्य भाषा'। सर रेल्फ लिले टर्नर (Sir Ralph

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

L. Turner) ने 'नेपाली कोश' तथा 'भारतीय आर्य भाषाओं का तुलनात्मक व्युत्पत्ति-कोश' ग्रन्थ लिखे।

आधुनिक युग के भारतीय भाषाविज्ञानियों ने भी भाषा-विज्ञान के विकास में उल्लेखनीय योग दिया है। डॉ. सर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर ने सन् 1877 में बम्बई विश्वविद्यालय में सात व्याख्यान दिये, जो सन् 1914 में पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। इन भाषणों में प्राचीन तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। डॉ. तारापोरवाला ने 'भाषा-विज्ञान के मूल तत्त्व' तथा 'संस्कृत वाक्य विज्ञान' पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। डॉ. पी.डी. गुणे का प्रमुख ग्रन्थ है 'तुलनात्मक भाषा-विज्ञान' (An introduction to comparative philology)। डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा ने प्राचीन व्याकरणाचार्यों के चिन्तन को केन्द्र में रखकर तीन मूल्यवान् ग्रन्थ लिखे - 'प्राचीन वैयाकरणों का ध्वनिशास्त्रीय चिन्तन' (Phonetic observations of Ancient Indian Grammarians), 'यास्क की निरुक्तियाँ (Etymologies of Yask) तथा 'भारतीय अर्थ-विज्ञान में अर्थ-विचार (Analysis of Meaning in Indian semantics)। भारतीय भाषा-विज्ञानियों की सुदीर्घ परम्परा में हिन्दी तथा हिन्दी की विभिन्न बोलियों के सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय कार्य करने वाले भाषा-विज्ञानियों में प्रमुख हैं - डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, डॉ. बाबूराम सक्सेना, डॉ. उदयनारायण तिवारी, श्री कामता प्रसाद गुरु, आचार्य किशोरीदास वाजपेयी, डॉ. हरदेव बाहरी, डॉ. भोलानाथ तिवारी।

5.4.3.1. भाषावैज्ञानिक शोध के आयाम

भाषा केवल ध्वनियों या शब्दों का संग्रह मात्र नहीं है, वरन् वह परिस्थितियों-मनःस्थितियों के सम्पर्क से उदित सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना का ध्वन्यात्मक सम्मूर्तन है। किसी क्षेत्र की भाषिक व्यवस्था में वहाँ की लोक-संस्कृति साकार होती है। लोक-संस्कृति की अभिव्यक्ति क्षेत्रीय भाषा में होती है तो विश्व-व्यवस्था के निरूपक विविध ज्ञान-विज्ञानों की अभिव्यक्ति शास्त्रीय या पारिभाषिक (तकनीकी) भाषा में होती है। अतः अनेक स्तरों पर भाषा के अध्ययन की आवश्यकता निरन्तर बनी रहेगी। भाषावैज्ञानिक शोध के कुछ सम्भाव्य आयामों की ओर यहाँ शोधकों का ध्यान आकृष्ट किया जा रहा है।

(1) आचार्य पाणिनि के ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' को ध्यान में रखकर हिन्दी की सभी उपभाषाओं और प्रमुख बोलियों के व्यवस्थित व्याकरण तैयार करना वांछनीय है। 'हरियाणवी' का अभी तक कोई सर्वांगीण व्याकरण नहीं लिखा गया है।

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(2) ऋषिकल्प डॉ. ग्रियर्सन ने 'भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण' (Linguistic survey of India) के रूप में जो अद्भुत कार्य किया था, प्रथम प्रयास के रूप में अपूर्व था, किन्तु फिर भी उसकी कुछ सीमाएँ थीं। डॉ. ग्रियर्सन के चरण-चिह्नों पर चलते हुए किसी एक या अनेक विश्वविद्यालयों द्वारा निर्धारित योजना के अन्तर्गत प्रशिक्षित शोधकों के समूह द्वारा भारतीय भाषाओं का नया, सुव्यवस्थित सर्वेक्षण प्रस्तुत करने की महती आवश्यकता है। यह सर्वेक्षण विवरणात्मक भाषा-विज्ञान (Descriptive linguistics) की नवीनतम पद्धतियों को अपनाते हुए शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से किया जाना चाहिए।

(3) समूचे देश के भाषिक सर्वेक्षण के आधार पर पूरे देश की भाषाओं, उपभाषाओं, बोलियों के क्षेत्रों को दर्शाने वाला भाषिक मानचित्र तैयार किया जाना अभीष्ट है। सभी क्षेत्रीय बोलियों की विशिष्टताओं के विवरण से युक्त पूरे देश का भाषिक भूगोल लिखा जाना वांछनीय है।

(4) द्रविड़ परिवार की भाषाओं में संस्कृत शब्दावली की प्रचुरता है। शब्दावली की समानता के आधार पर आर्य-परिवार और द्रविड़-परिवार की भाषाओं के व्यवहार-क्षेत्रों की सामाजिक-सांस्कृतिक समानता को रेखांकित करना देश की सांस्कृतिक एकता के लिए श्रेयस्कर होगा। शब्दावली के साथ ही ध्वनि, वाक्य आदि के स्तर पर दोनों भाषा-परिवारों की निकटता को तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा प्रमाणित करना राष्ट्रीय सौमनस्य के लिए उपयोगी होगा।

(5) बोलियों के व्याकरणों की भाँति ही बोलियों के कोश-निर्माण की भी महती आवश्यकता है। कोश-निर्माण में शब्द-रूप, उच्चारण, व्याकरणिक रूप (संज्ञा, विशेषण, क्रिया आदि), व्युत्पत्ति, अर्थ और उसके उदाहरण देना आवश्यक है।

(6) ध्वनि, पद, वाक्य, अर्थ आदि भाषिक घटकों के आधार पर हिन्दी तथा उसकी प्रमुख उपभाषाओं का कालक्रमिक ऐतिहासिक अध्ययन आवश्यक है, जिससे विभिन्न घटकों में घटित परिवर्तन के स्वरूप को भली प्रकार समझा जा सके।

(7) डॉ. ए. चन्द्रशेखर की मान्यता है कि 'भाषा-विज्ञान क्रमशः विवरणात्मक से आरम्भ होकर ऐतिहासिक से होते हुए तुलनात्मक पर समाप्त होना चाहिए।' तुलनात्मक अध्ययन कई स्तरों पर वांछित है।

उपर्युक्त आयामों के अतिरिक्त अन्य अनेक आयाम भी सम्भव हैं। दूरसंचार माध्यमों - रेडियो, दूरदर्शन, समाचारपत्र, इंटरनेट आदि में प्रयुक्त हिन्दी के विविध रूपों का भाषावैज्ञानिक अध्ययन भी अत्यन्त रोचक विषय है। नेताओं, अभिनेताओं,

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

डॉक्टरों, वकीलों, व्यापारियों, कृषकों, ड्राइवरों आदि द्वारा बोली जाने वाली हिन्दी के रूपों के अध्ययन से हिन्दी का इन्द्रधनुषी रूप उजागर किया जा सकता है।

5.4.3.2. भाषावैज्ञानिक शोध की प्रविधि

भाषावैज्ञानिक अध्ययन की चार प्रमुख पद्धतियाँ हैं – वर्णनात्मक, ऐतिहासिक, तुलनात्मक, प्रायोगिक।

(1) **वर्णनात्मक (Descriptive) पद्धति :** किसी भाषा के किसी एक समय में प्राप्त स्वरूप का ध्वनि, पद, वाक्य, अर्थ की दृष्टि से किया गया भाषिक अध्ययन ही विवरणात्मक अध्ययन कहलाता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी इस पद्धति का आदर्श नमूना है। वर्णनात्मक भाषावैज्ञानिक विवेचन से किसी भाषा के विशेष काल में प्राप्त गठन (Structure) का सही बोध हो जाता है। सामान्यतः वर्तमान काल की भाषाओं का ही वर्णनात्मक दृष्टि से भाषावैज्ञानिक अध्ययन करने की प्रवृत्ति रही है, किन्तु प्राचीनकाल की भाषाओं का भी वर्णनात्मक विश्लेषण सम्भव है। किसी भाषा के विकास के इतिहास में विभिन्न युगों में घटित संरचनात्मक परिवर्तनों का अध्ययन वर्णनात्मक पद्धति से किया जा सकता है। वर्णनात्मक पद्धति ही भाषावैज्ञानिक विवेचन की प्रमुखतम पद्धति है। इसी को आधार बनाकर भाषावैज्ञानिक विश्लेषण की ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक पद्धतियों का विकास हुआ।

भाषिक संरचना के विश्लेषण की वर्णनात्मक पद्धति को किसी बोली या भाषा के अध्ययन में लागू करने के लिए ध्वनियों, शब्दों, वाक्यों, अर्थों के नमूने एकत्र करने के निमित्त अनेक बार सर्वेक्षण-पद्धति (Survey-method) की आवश्यकता पड़ती है। सर्वेक्षण-पद्धति मूलतः सामग्री संकलन की पद्धति है, जो शोध के विभिन्न प्रकारों में विशेष सहायक सिद्ध होती है।

(2) **ऐतिहासिक पद्धति :** ऐतिहासिक पद्धति के द्वारा किसी भाषा के प्राचीन से लेकर अर्वाचीन काल तक के कालक्रमिक विकास का ध्वनि, शब्द, वाक्य, अर्थ आदि भाषिक घटकों की दृष्टि से क्रमबद्ध अध्ययन किया जाता है। ऐतिहासिक पद्धति से किसी भाषा की संरचना में विभिन्न कालों में घटित घटकीय परिवर्तनों को भली प्रकार समझा जा सकता है। अध्ययन की ऐतिहासिक पद्धति का मूल आधार भी वर्णनात्मक पद्धति ही है। भाषा-परिवारों के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन भी ऐतिहासिक पद्धति से किया जा सकता है।

(3) **तुलनात्मक पद्धति :** तुलनात्मक पद्धति का मूल आधार भी वर्णनात्मक पद्धति

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ही है। तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक अध्ययन के लिए किसी एक ही भाषा-परिवार की दो या अधिक भाषाओं की ध्वनि, शब्द (पद), वाक्य, अर्थ के आधार पर संरचनात्मक तुलना की जाती है। यह तुलनात्मक अध्ययन दो या अधिक भाषा-परिवारों की भाषाओं का भी हो सकता है। तुलनात्मक अध्ययन भाषाओं के प्राचीन रूपों का भी हो सकता है और अर्वाचीन रूपों का भी। तुलनात्मक पद्धति से भाषाओं के संरचनात्मक साम्य-वैषम्य का बोध होता है। भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण का आधार वास्तव में तुलनात्मक अध्ययन ही है। तुलनात्मक पद्धति के आधार पर जिन भाषाओं में स्वरूपगत समान लक्षण दिखलायी पड़ते हैं, वे एक ही परिवार के अन्तर्गत आती हैं।

(4) **प्रायोगिक पद्धति :** भाषा-शिक्षण में प्रायोगिक पद्धति बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई है। अपनी महती उपयोगिता के कारण यह पद्धति गत कुछ ही दशकों में यूरोप, अमेरिका, जापान आदि में बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुई है। नयी भाषा के शिक्षण के लिए भाषा-शिक्षण-प्रयोगशाला का उपयोग किया जाता है। प्रयोगशाला में ग्रामोफोन, रेडियो, टेलीविज़न, टेपरिकार्डर, सुर-विश्लेषक आदि शिक्षण-यन्त्रों की सहायता से भाषा सिखायी जाती है। भाषा-शिक्षण में ध्वनि-विज्ञान प्रयोगशाला का सबसे अधिक उपयोग किया जाता है। ध्वनि विज्ञान की प्रयोगशाला में स्पन्दनग्राह बहुत ही उपयोगी यन्त्र होता है। इसके द्वारा ध्वनि-लहरियाँ अंकित की जाती हैं, जिससे ध्वनियों के अनेक गुणों का पता लगाया जा सकता है, जिसंकी ओर भाषा सीखने वालों का ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है। स्पन्दनग्राह द्वारा सघोष, अघोष तथा अल्पप्राण, महाप्राण ध्वनियों का अन्तर सरलतापूर्वक समझाया जा सकता है। इस यन्त्र की सहायता से शिक्षार्थियों के उच्चारणगत दोषों को प्रत्यक्ष दर्शाया जा सकता है और उन्हें दूर किया जा सकता है। इस प्रकार प्रायोगिक पद्धति की भाषा-शिक्षण में महती उपयोगिता है। विभिन्न बोलियों का ध्वनिवैज्ञानिक अध्ययन करने वाले शोधक भी उन बोलियों का व्यवहार करने वाले व्यक्तियों के उच्चारण की विशिष्टताओं का अध्ययन करके उन बोलियों की ध्वनियों के सही स्वरूप को निर्धारित कर सकते हैं।

उपर्युक्त पद्धतियों के अतिरिक्त अन्य पद्धतियों का प्रश्रय भी ग्रहण किया जा सकता है। किसी क्षेत्र की विशिष्ट बोली की शब्दावली के अर्थवैज्ञानिक अध्ययन के माध्यम से उस क्षेत्र की संस्कृति का प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है। इसी प्रकार मनोभाषावैज्ञानिक पद्धति का उपयोग करते हुए किसी भी विशिष्ट साहित्यकार की मानसिक अवस्था या मानसिकता का अध्ययन सहज सम्भव है,

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

क्योंकि प्रत्येक वक्ता या रचनाकार अपनी मनोदशा या प्रकृति के अनुरूप ही ध्वनियों, शब्दों, वाक्यों का प्रयोग करता है।

5.4.4. शैलीवैज्ञानिक शोध

शैलीविज्ञान शैली का विज्ञान है, जो भाषिक भंगिमा के अध्ययन के आधार पर रचनाकार की भाव-भंगिमा का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत करता है। भाषिक अध्ययन से सम्बद्ध होने के कारण शैलीविज्ञान को भाषाविज्ञान की ही एक शाखा माना जाता है, किन्तु स्वरूपतः यह भाषाविज्ञान से भिन्न है। जहाँ भाषाविज्ञान सामान्तः बोलचाल की गद्यात्मक भाषा के भाषिक विवेचन को अपना प्रमुख लक्ष्य मानता है, वहाँ शैलीविज्ञान शैली का विज्ञान होने के कारण शैलीय गुणों से सम्पन्न ललित या रचनात्मक गद्य या पद्य का शैलीगत तत्त्वों के आधार पर विवेचन और मूल्यांकन करने को ही अपना केन्द्रीय लक्ष्य मानता है। ललित, रचनात्मक, रसात्मक गद्य या पद्य के अध्ययन से सम्बन्धित होने के कारण शैलीविज्ञान स्वरूप की दृष्टि से भाषाविज्ञान की अपेक्षा काव्यशास्त्र के कहीं अधिक निकट है। शैलीविज्ञान साहित्य-समीक्षा की नयी वैज्ञानिक पद्धति है। जो लोग इसकी विश्लेषणात्मक पद्धति को देखकर इसे व्याकरण या भाषाविज्ञान का समानधर्मी समझते हैं, वे इस तथ्य को भुला देते हैं कि भाषावैज्ञानिक या व्याकरणिक आधार तो इसे केवल वस्तुनिष्ठ, तर्कसम्मत स्वरूप प्रदान करने के लिए है। अब साहित्य-समालोचना में ऐसे निराधार कथनों का कोई अर्थ नहीं रह गया है कि अमुक कृति की भाषा में प्रवाह है, प्रांजलता है, सुकुमारता है या सांकेतिकता है। शैलीविज्ञान भाषिक विश्लेषण के वैज्ञानिक आधार पर यह सिद्ध करके दिखलाता है कि अमुक कृति में इतने शब्द प्रतीकात्मक हैं, इसलिए उसकी भाषा सांकेतिक है। इसी प्रकार वह शब्द-योजना के विश्लेषण के आधार पर भाषा की प्रांजलता, सुकुमारता, क्लिष्टता आदि के स्वरूप को स्पष्ट करता है। इसी वस्तुनिष्ठता के कारण शैलीवैज्ञानिक समालोचना अधिक युक्तिसंगत और विश्वसनीय होती है। इसमें 'सूर सूर तुलसी शशि' या 'नन्ददास जड़िया, और कवि गढ़िया' या 'कालिदास भारत के शेक्सपीयर हैं' जैसे ऊहात्मक या आत्मनिष्ठ कथनों के लिए अवकाश नहीं है।

शैलीविज्ञान शैलीय गुणों से सम्पन्न, अनुभूतिप्रधान, सृजनात्मक कृतियों का ही विश्लेषण करता है, नीरस, बौद्धिक अर्थों को व्यक्त करने वाली वैचारिक या वैज्ञानिक पुस्तकों का नहीं। कोरे सूचनात्मक (Informative) शास्त्रीय या वैचारिक (Conceptual) तथा वैज्ञानिक (Scientific) अर्थों को प्रकाशित करने वाले ग्रन्थ शैलीय तत्त्वों से शून्य होने के कारण शैलीविज्ञान के अध्ययन की परिधि में नहीं

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आते। ये बौद्धिक अर्थ अभिधात्मक या पारिभाषिक भाषा तक सीमित रहते हैं। इनमें अर्थ ही साध्य है, भाषा साधन मात्र है। केवल बुद्धि तक सीमित होने के कारण ये इकहरे और विश्लिष्ट होते हैं। इसके विपरीत साहित्य के रमणीय, ललित, रसात्मक अर्थ अन्तःकरण की चिन्तना, भावना और कल्पना नामक तीनों क्षमताओं के संयोजन से निर्मित होने के कारण संश्लिष्ट (Synthetic) होते हैं तथा ये अपनी निरूपक भाषा से सम्पृक्त और अविच्छिन्न होते हैं। चिन्तना, भावना और कल्पना के योग को ही 'अनुभूति' कहा जाता है। अनुभूति और अभिव्यक्ति या भाव और भाषा की सम्पृक्ति या एकाकारता को रेखांकित करते हुए ल्योनार्ड फॉस्टर (Leonard Foster) ने लिखा है, "Subjective language is tied up with emotion, expressed or implied and emotional values are often difficult to translate." अर्थात् आत्मपरक भाषा व्यक्त अथवा निहित भावावेश से संयुक्त रहती है और भावावेगात्मक मूल्यों का अनुवाद प्रायः दुष्कर होता है। कविता के सन्दर्भ में भाव और भाषा की इसी अभिन्नता को रेखांकित करते हुए प्रसिद्ध पाश्चात्त्य कवि और आलोचक टी.एस. इलियट (T. S. Eliot) ने लिखा है, "Poetry is a constant reminder of all the things that can be said in one language and are untranslatable." अर्थात् 'कविता सदैव उन सारी वस्तुओं का स्मरण कराती है, जिन्हें एक ही भाषा में व्यक्त किया जा सकता है और जिनका अनुवाद नहीं हो सकता।' शैलीविज्ञान भाषा और भाव की इसी एकता या अद्वैतता को ललित अभिव्यक्ति की आधारभूत पहचान मानता है। शैलीविज्ञान के अनुसार प्रत्येक ललित रचना विशिष्ट भाषा के रूप में ही जन्म लेती है। कृति के सारे गुण कृति की भाषा में निहित होते हैं। भाषा से बाहर कृति का कोई अस्तित्व नहीं। प्रत्येक कृति एक सम्पूर्ण, स्वायत्त संरचना है। अतः उसकी व्याख्या के लिए कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है।

रचनाकार की प्रतिभा और बाहरी सन्दर्भ के सम्पर्क से उदित अनुभूति ही काव्य-भाषा के रूप में साकार होती है। क्षणिक सन्दर्भों से मुक्तक रचनाओं तथा सुदीर्घ-सन्दर्भ शृंखला से महाकाव्य, उपन्यास, नाटक आदि विधाओं या काव्यरूपों का उदय होता है। लघु सन्दर्भ-शृंखला से खण्डकाव्य सरीखी मध्यम आकार वाली रचनाओं का जन्म होता है। रचनाकार की संवेदना एक ओर सन्दर्भ से जुड़ी रहती है तो दूसरी ओर भाषिक उपादानों से। इस प्रकार संवेदना या अनुभूति को आकार देने वाले दो प्रमुख आधार हुए - (1) काव्य-रूप और (2) काव्य-भाषा। काव्य-भाषा में भी दो स्तर समाहित रहते हैं - (1) व्याकरणिक संरचना तथा (2) अनुभूति का सम्मूर्तन। व्याकरणिक इकाइयाँ हैं - ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य और अर्थ। अनुभूति का

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सम्मूर्तन करने वाले उपादान हैं अलंकार, बिम्ब, प्रतीक, मानवीकरण, छन्द आदि। विश्लेषण के स्तर पर पृथक्-पृथक् भासित होने वाले ये सभी घटक, सृजनात्मक स्तर पर संश्लिष्ट तथा अविच्छेद्य रूप में प्रकट होते हैं। अनुभूति इन सभी के संयोजन से सम्मूर्त होती है। 'सघन गगन में भीम प्रकम्पन झंझा के चलते झटके' उक्ति में प्रलय की भीषणता ध्वनियों के संयोजन में साकार हो उठी है। वाक्य में प्रयुक्त शब्द पद कहलाता है। सन्दर्भगत शब्द ही पद है। पदबन्ध एक से अधिक पदों से निर्मित भाषिक इकाई है। 'ललकार रहा था दहाड़ता हुआ समुद्र' में 'दहाड़ता हुआ समुद्र' संज्ञा पदबन्ध है। समुद्र को दहाड़ता हुआ कह कर भाषिक विचलन द्वारा भीषणता को साकार किया गया है। यहाँ भाव और भाषा एकाकार हैं। वाक्य विन्यास की नवीनता भी शैली में चारुत्व का संचार करती है। 'अनोखे मेरे नेही दीप', 'बेसुध-सी गाती थी रात' तथा 'ढुलक जो पड़ी ओस की बूँद' में शब्दों के क्रम में परिवर्तन से लय और छन्द की सृष्टि की गयी है। वास्तव में, अनुभूति और अभिव्यक्ति के अद्वैत या अभिन्नता को समझने के लिए विश्लेषण की आवश्यकता के अनुरूप द्वैत का आश्रय अनिवार्य है। अलंकार, बिम्ब, प्रतीक, मानवीकरण आदि के द्वारा अनुभूति और अभिव्यक्ति में अद्वैत घटित होता है, जो सृजनात्मकता का मूल आधार है। रात डसती नहीं है, किन्तु 'पिया बिनु साँपिन कारी रात' कहते ही रात साँपिन बन कर डसती हुई नज़र आने लगती है और भाषा अपने सामान्य स्तर को लांघ कर भाव में अनूठी प्रभाववत्ता भर देती है। काव्य-भाषा का सामान्य भाषा से हटकर नयी प्रभाववत्ता अर्जित करना ही शैली-विज्ञान में 'विचलन' कहलाता है। यह विचलन संज्ञा, विशेषण, क्रिया आदि सभी भाषिक स्तरों पर घटित हो सकता है। यह विचलन काव्य-भाषा का बहुत ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। अतः यह शैलीवैज्ञानिक अध्ययन का प्रमुख आधार है।

5.4.4.1. शैलीवैज्ञानिक शोध के आयाम

गत शती के आठवें और नौवें दशकों में शैलीविज्ञान समालोचकों और शोधकों की रुचि का एक महत्त्वपूर्ण विषय बनकर उभरा था। किन्तु पन्द्रह-बीस वर्षों में रुचि में आया यह ज्वार भाटे में परिवर्तित हो गया। किन्तु इससे शैलीविज्ञान की उपादेयता को अवमूल्यित नहीं किया जा सकता। आज भी इसके सैद्धान्तिक और व्यावहारिक स्वरूप को सुपरिभाषित और सुनिर्धारित करने की महती आवश्यकता है। शैलीवैज्ञानिक शोध के कतिपय महत्त्वपूर्ण आयामों का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है।

(1) अब तक शैलीविज्ञान पर या तो भाषावैज्ञानिकों ने कुछ काम किया है या फिर काव्यशास्त्रज्ञों ने। इन दोनों प्रकार के कार्यों की अपनी कुछ अतियाँ हैं।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भाषावैज्ञानिक शोधक-समालोचक ध्वनियों, ध्वनिग्रामों, रचनान्तरण-प्रक्रियाओं आदि भाषिक उपकरणों की इतनी बारीकियों में पड़ गये हैं कि सारा अध्ययन तकनीकी चिह्नों, रेखांकनों आदि में परिणत होकर इतना यान्त्रिक हो गया है कि कृति की मूल संवेदना ही लुप्त हो गयी है। इसके विपरीत काव्यशास्त्रज्ञ शोधक व्याकरणिक आधारों को औपचारिक रूप में ही ग्रहण कर पाये हैं और अलंकार, बिम्ब, प्रतीक, मानवीकरण, लय, छन्द आदि के प्रति अति आग्रह के कारण उनका अध्ययन काव्यशास्त्रीय सीमाओं में आबद्ध होकर रह गया है। वस्तुतः आज आवश्यकता है शैलीविज्ञान के व्याकरणिक और काव्यशास्त्रीय आधारों में सन्तुलित सामंजस्य स्थापित करते हुए शैलीविज्ञान की मौलिक अवधारणा को साकार रूप प्रदान करने की।

(2) अकेले विचलन (Deviation) में संज्ञा, विशेषण, क्रिया, क्रिया विशेषण आदि सभी भाषिक उपादान भी सम्मिलित रहते हैं और वक्रोक्ति, ध्वनि, प्रतीक, अलंकार, मानवीकरण आदि काव्यशास्त्रीय उपादान भी। ऐसी स्थिति में विचलन को रचनात्मक कृतियों के मूल्यांकन के एक सर्वमान्य निकष या सिद्धान्त के रूप में स्थापित किया जा सकता है और इसकी कसौटी पर प्रमुख साहित्यिक कृतियों को मूल्यांकित किया जा सकता है।

(3) भाषा के घटक हैं ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य और अर्थ। डॉ. भोलानाथ तिवारी के अनुसार इन्हीं के आधार पर प्रायोगिक शैलीविज्ञान की निम्नलिखित शाखाएँ हो सकती हैं। ध्वनीय शैलीविज्ञान, शब्दीय शैलीविज्ञान, रूपीय शैलीविज्ञान, वाक्यीय शैलीविज्ञान तथा अर्थीय शैलीविज्ञान।

(4) व्याकरणिक और काव्यशास्त्रीय उपादानों में से एक को या कुछ को या सबको आधार बनाकर विशिष्ट कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

(5) अनुभूतियाँ सन्दर्भ-सापेक्ष होती हैं। यदि सन्दर्भ-चयन और सन्दर्भ-विश्लेषण को भी शैलीविज्ञान में प्रमुखता प्रदान की जाये तो काव्य-रूपों के साथ मनोविज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र, समाजशास्त्र के आवश्यक तत्त्वों को भी विश्लेषण-विवेचन का विषय बनाया जा सकता है और शैलीवैज्ञानिक, अध्ययन को समग्रता प्रदान की जा सकती है। जिस प्रकार काव्य-रूप काव्यगत विवेचन का अंग है उसी प्रकार परिवेश और परिस्थितियाँ भी, जिनकी टकराहट से अनुभूतियाँ उदित होती हैं।

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

5.4.4.2. शैलीवैज्ञानिक शोध की प्रविधि

भाषाशास्त्रीय ज्ञान का सर्वाधिक सार्थक उपयोग शैलीवैज्ञानिक अध्ययन के रूप में ही हो सकता है। शैली वैज्ञानिक अध्ययन से किसी कृति की अनुभूतिगत ऊर्जा और ऊष्मा का तर्कसम्मत वस्तुनिष्ठ आधार पर वैज्ञानिक रीति से प्रामाणिक उद्घाटन किया जाता है। मुख्यतः शैलीवैज्ञानिक अध्ययन किसी एक ही विशिष्ट कृति पर केन्द्रित होता है। कृति-केन्द्रित होने के कारण इसमें ध्वनि, पद, पदबन्ध, वाक्य, बिम्ब, प्रतीक, विचलन, समानान्तरता आदि के नमूने प्रस्तुत करने वाली सामग्री उस सम्बन्धित कृति से ही चुननी होती है। हँ, सैद्धान्तिक पक्ष के लिए अवश्य ही शैलीविज्ञान पर लिखित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों से उपयुक्त सामग्री का चयन करना होगा। उदाहरण के लिए 'अंधायुग का शैलीवैज्ञानिक निकष पर मूल्यांकन' शोध-विषय के प्रतिपादन के लिए शैलीविज्ञान के व्याकरणिक उपादानों-ध्वनि, पद, पदबन्ध, वाक्य आदि तथा काव्यशास्त्रीय उपादानों – बिम्ब, प्रतीक, मानवीकरण आदि के सिद्धान्तपक्ष के प्रतिपादनार्थ कतिपय शास्त्रीय ग्रन्थों की आवश्यकता होगी। इनमें कुछ व्याकरण, भाषाविज्ञान, शैलीविज्ञान से सम्बन्धित होंगे और कुछ काव्यशास्त्रीय भी हो सकते हैं। इन सब उपादानों के नमूने 'अंधायुग' से ही लेने होंगे। ऐसे अध्ययन के लिए 'डायरी-पद्धति' सबसे उपयुक्त सिद्ध होती है। दो सौ या ढाई सौ पृष्ठों की डायरी को छोटे-बड़े अध्यायों के अनुमानित आकार को ध्यान में रखकर, अध्यायों की संख्या के बराबर भागों में बाँट लिया जाता है। प्रत्येक भाग पर अध्याय का शीर्षक लिख लिया जाता है। प्रथम भाग सिद्धान्त-पक्ष से सम्बन्धित सामग्री के संचयन के लिए रखा जाता है। सैद्धान्तिक ग्रन्थों की संख्या कम होने के कारण अपेक्षित सामग्री के एकत्र ग्रहण और उसके उपयोग में कोई कठिनाई नहीं आती। अन्य भागों में मूल विश्लेष्य पुस्तक अंधायुग से उद्धरण चुनकर अंकित किये जायेंगे। ये उद्धरण प्रत्येक अध्याय के उपशीर्षकों के अनुसार वर्गीकृत होने चाहिए।

यदि सैद्धान्तिक ग्रन्थों तथा विवेच्य कृतियों की संख्या अधिक हो तो कार्ड-पद्धति को ही अपनाना श्रेयस्कर रहेगा।

5.4.5. पाठानुसन्धान

पाठानुसन्धान की आवश्यकता तब पड़ती है जब कृतिकार की स्वहस्तलिखित मूल पाण्डुलिपि उपलब्ध नहीं होती तथा समकालीन या परवर्ती प्रतिलिपिकारों के द्वारा तैयार की गयी मूल पाण्डुलिपि की प्रतिलिपयाँ ही प्राप्त होती हैं। आदर्श प्रतिलिपि वही मानी जाती है, जो मूल पाण्डुलिपि की अक्षरशः शुद्ध नक़ल हो।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इसके लिए प्रतिलिपिकार को अत्यधिक सजग एवं सावधान रहना पड़ता है। सतर्कता के साथ ही प्रतिलिपिकार में भाषा और विषय की गम्भीर जानकारी भी अपेक्षित है। सजग और सुयोग्य प्रतिलिपिकार से भी कहीं न कहीं कोई भूल हो ही जाती है। फिर सभी प्रतिलिपिकारों में न तो सच्ची निष्ठा होती है, न सावधानी और न ही अपेक्षित योग्यता। ऐसी स्थिति में प्रतिलिपि-परम्परा में मूल पाठ भ्रष्ट से भ्रष्टतर होता चला जाता है। इन पाठगत विकृतियों को मोटे तौर पर दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। (1) अनिच्छित विकृतियाँ तथा (2) इच्छित विकृतियाँ।

अनिच्छित विकृतियाँ भी दो प्रकार की हैं - प्रमादजनित विकृतियाँ और अज्ञानजनित विकृतियाँ। प्रमादजनित विकृतियाँ तीन प्रकार की हो सकती हैं।

(1) **पाठ-लोप :** किसी वर्ण, शब्द, पंक्ति या अनुच्छेद का लिखने से छूक जाना पाठ-लोप कहलाता है।

(2) **पाठ-आगम :** प्रमादवश किसी शब्द, वाक्य आदि का दोबारा लिखा जाना पाठ-आगम है।

(3) **पाठ-विपर्यय :** किसी शब्द या वाक्य के स्थान पर प्रमादवश उसका कुछ उलटा-पुलटा रूप लिखा जाना पाठ-विपर्यय है, जैसे कमल के स्थान पर 'कलम' या 'कुमुद' के स्थान पर 'मुकुद' लिखा जाना। इसी प्रकार 'सोचा था भू पर उतरे, प्रियतम मिलने को मेरे' के स्थान पर 'सोचा था उतरे भूपर, मिलने को प्रियतम मेरे' लिखने से वाक्य-रचना उलट गयी है। अज्ञान के विविध रूपों के आधार पर अज्ञानजनित विकृतियाँ अनेक प्रकार की होती हैं। मोटे तौर पर इन्हें तीन वर्गों में रखा जा सकता है :

(१) वर्तनीगत अज्ञानजनित विकृतियों के उदाहरण हैं वधू के स्थान पर वधु साधु के स्थान पर साधू और कृपया के स्थान पर कृप्या लिखना।

(२) भाषागत अज्ञानजनित विकृतियाँ तो प्रचुर होती हैं। प्रतिलिपिकार प्राचीन भाषा के तद्भव रूपों को ग़लत समझ कर प्रतिलिपि में उनको तत्सम रूप में लिख देते हैं। यथा 'अंस' के स्थान पर अंश, 'हुतासन' के स्थान पर हुताशन 'उज्जल' के स्थान पर उज्ज्वल आदि।

(३) छन्द-सम्बन्धी अज्ञान के कारण भी पाठ में विकृतियाँ आ जाती हैं। जो प्रतिलिपिकार छन्द-शास्त्र का ज्ञान नहीं रखते, वे छन्द की चिन्ता किये बिना 'नहिं' के स्थान 'नहीं', 'माँहिं' के स्थान पर 'माँहीं' लिख देते हैं और यह नहीं समझते कि ऐसा करने से एक मात्रा बढ़ जाने से छन्द भ्रष्ट हो गया है। अति उत्साही और स्वयं को विशेषज्ञ मानने वाले प्रतिलिपिकार इच्छित विकृतियों की ओर प्रवृत्त होते देखे जाते हैं। इच्छित विकृतियाँ सामान्यतः

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

निम्नलिखित तीन प्रकार की होती हैं :

(क) संशोधन की प्रवृत्ति में इच्छित विकृति ही चरितार्थ होती है। कुछ प्रतिलिपिकार स्वयं को अधिकारी विद्वान् मानकर प्राचीन भाषा के रूपों में संशोधन करके उन्हें आधुनिक रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे 'रासउ' के स्थान पर 'रासो', 'देख्या' के स्थान पर 'देखा', 'कहु सो बात जेहँ होइ मिरावा' के स्थान पर 'कहु सो बात जेहँ होइ मिलावा' लिख देते हैं। वे समझते हैं कि आधुनिकीकरण की इस चेष्टा से दुर्बोधता दूर होती है, किन्तु वे यह नहीं समझते कि ऐसा करना मूल कृति के साथ अन्याय है और प्रतिलिपिकार के रूप में अनधिकार-चेष्टा है।

(ख) परिवर्तन की प्रवृत्ति तो संशोधन से भी अधिक क्षतिकारक है। कई प्रतिलिपिकार अपने पाण्डित्य के आवेश में मूल पाठ के शब्दों को ही बदल देते हैं और उनके स्थान पर स्वयं गढ़कर नये शब्द रख देते हैं। 'डूँगर' का अर्थ है छोटा पर्वत या टीला। प्रतिलिपिकार 'डूँगरपुर' के स्थान पर छन्द का ध्यान किये बिना ही 'गिरिपुर', 'सूरजमल' के स्थान पर 'सूर्यमल्ल' या 'अर्कमल्ल' का प्रयोग कर देते हैं। 'सुल्तान' के स्थान पर 'सुरत्राण' लिखना तो अर्थ का अनर्थ करना ही है। देवमूर्तियों को नष्ट करने वाले सुल्तान भला देवरक्षक कैसे हो सकते हैं।

(ग) प्रक्षेप की प्रवृत्ति तो प्रतिलिपिकार के अधिकार-क्षेत्र की सारी सीमाओं का ही अतिक्रमण कर जाती है। इस अनधिकार चेष्टा से उत्पन्न संकट की भीषणता को रेखांकित करते हुए डॉ. कृष्णचन्द्र श्रोत्रिय लिखते हैं, 'इस सम्बन्ध में मैं आप विद्वज्जनों का ध्यान पृथ्वीराज रासो तथा वीसलदेव रासो की उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ। उक्त दोनों काव्य ग्रन्थों की विभिन्न समय में निर्मित अनके हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं, जिनमें परस्पर विरोधी पाठ, परिवर्तित तथा परिवर्धित रूप, क्षेपक एवं अवान्तर कथाओं का ऐसा जमघट रहता है कि शोधकर्त्ता उनके समक्ष हतप्रभ तथा किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर मूल रूप निर्धारित करने में असमर्थ हो जाता है।' अवान्तर कथाओं या प्रसंगों के रूप में जोड़े गये इन क्षेपकों को शैलीविज्ञान के सूक्ष्म ज्ञान के आधार पर ही अलगाया जा सकता है।

पाठगत विकृतियों के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पाठानुसन्धान का कार्य बहुत ही दायित्वपूर्ण, जटिल, श्रमसाध्य है तथा इसके लिए पाठानुसन्धाता में अपार धैर्य, सन्तुलन, निष्ठा और विशेषज्ञता की आवश्यकता है। यह विशेषज्ञता कई स्तरों पर अपेक्षित है। प्राचीन पाण्डुलिपियों और प्रतिलिपियों को लिखते समय सर्वप्रथम

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आर–पार एक पूरी शिरोरेखा खींच ली जाती थी, जिसके नीचे सब शब्दों को बिना अपेक्षित अन्तराल के, मिलाकर लिखा जाता था। लिखावट की इस पद्धति से पाठ को सही रूप में ग्रहण करना दुष्कर है। एक अभ्यस्त और प्रबुद्ध शोधक ही इसे सही रूप में पढ़ पाता है। शोधक को प्राचीन भाषा के शब्द–रूपों से अवगत होना भी अनिवार्य है। भाषा–ज्ञान के साथ विषय–वस्तु का ज्ञान भी नितान्त अपेक्षित है। सन्दर्भ–बोध के बिना सही अर्थों तक पहुँचना असम्भव है। कुल मिलाकर पाठानुसन्धाता को भाषा और विषय का मर्मज्ञ, निष्ठावान् अध्येता, तथ्य और सत्य का अन्वेषी, धैर्यवान्, श्रमशील और अन्तर्दृष्टिसम्पन्न होना चाहिए।

5.4.5.1. पाठानुसन्धान के आयाम

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ. माताप्रसाद गुप्त, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डॉ. परमेश्वरी लाल गुप्त, डॉ. शिवसहाय पाठक आदि पाठानुसन्धाताओं के महत्कार्य से पाठानुसन्धान की बहुआयामी महत्ता प्रत्यक्ष रूप में उजागर हुई है। अकेले डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने अर्धकथानक, रामचरितमानस, जायसी–ग्रन्थावली, मधुमालती राउलबेल, पृथ्वीराज रासउ, छिताई वार्त्ता आदि ग्रन्थों का पाठानुसन्धान और सम्पादन किया है। पं. जगन्नाथदास रत्नाकर ने बिहारी–सतसई का पाठालोचन और सम्पादन किया। डॉ. हीरालाल जैन ने पाहुड़ दोहा, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने संदेश रासक, डॉ. पारसनाथ तिवारी ने कबीर ग्रन्थावली, डॉ. शिवसहाय पाठक ने कन्हावत का पाठालोचन और सम्पादन करके हिन्दी भाषा और साहित्य की महत्ती सेवा की है। अब भी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, अनेक मठों, मन्दिरों और रजवाड़ों के ग्रन्थागारों में अनेक मूल्यवान् ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ और प्रतिलिपियाँ अपने उद्धार की प्रतीक्षा कर रही हैं। महाराजा पटियाला के पुस्तकालय में बहुसंख्य हस्तलिखित रचनाएँ सुरक्षित हैं। पाठानुसन्धान की महत्ता और उसके विविध आयामों पर सम्यक् रीति से प्रकाश डालते हुए अपने 'शोध–साम्रगी' शीर्षक लेख में आचार्य डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, '...प्राचीन साहित्य के अध्ययन के लिए सुसम्पादित ग्रन्थों की बहुत आवश्यकता है। दुर्भाग्यवश हिन्दी के प्राचीन साहित्य के सुसम्पादित ग्रन्थ बहुत कम हैं। मुनि जिनविजयजी, डॉ. माताप्रसाद गुप्त आदि थोड़े से विद्वान् दत्तचित्त अवश्य हैं और उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य भी किये हैं – परन्तु इस दिशा में कार्य चलाने का बहुत क्षेत्र पड़ा हुआ है। हस्तलेखों का संग्रह, उनके पाठ–भेदों का संकलन, पाठ–विकृतियों के आधार पर उनका वर्गीकरण और शुद्ध पाठ का उद्धार बहुत ही महत्त्वपूर्ण विषय है। क्या ही अच्छा होता कि हिन्दी के शोध–कार्य के लिए सम्पादन को भी एक आवश्यक विषय माना जाता। विदेशों में अच्छे सम्पादित

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ग्रन्थों पर विश्वविद्यालय की सम्मानित उपाधि देने की प्रथा है। अपने देश के कुछ विश्वविद्यालयों में भी इधर कदम उठाया है, परन्तु अधिकांश विश्वविद्यालय इस कार्य के लिए विशेष उत्साह नहीं दिखाते।'

पाठानुसन्धान के अनेक आयाम हैं। इनमें से कुछ पाठानुसन्धान से प्रत्यक्ष रूप में सम्बन्धित हैं और कुछ परोक्ष रूप में। परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनों प्रकार के आयामों पर शोध-कार्य हो सकता है। प्रमुख आयाम इस प्रकार हैं :

(1) पाठानुसन्धान के विभिन्न पक्षों - पाठ-विकृतियों, पाठ-चयन, पाठ-सुधार, पाठान्तर, प्रक्षेप आदि विषयों के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक रूपों को लेकर इन पर स्वतन्त्र रूप में शोध-कार्य किये जा सकते हैं। पाठानुसन्धान के क्षेत्र में स्वयं उल्लेखनीय कार्य करने वाले डॉ. हरीश की मान्यता है कि '...पाठ-सम्बन्धी वैज्ञानिक पद्धति के जिन विभिन्न मूलभूत तत्त्वों पर मैंने ऊपर प्रकाश डाला है, वे सभी तत्त्व भी अपने आप में पीएच.डी. या डी.फिल्. और डी.लिट्. के विषय हैं। उदाहरणार्थ लखनऊ से 'प्रक्षेप' पर श्री सुधाकर शुक्ला पीएच.डी. कर रहे हैं। इसी तरह पाठ-विकृतियों, पाठ-चयन, पाठ-सुधार, पाठान्तर, पाठ-सम्बन्ध, आदि टॉपिक्स स्वतन्त्र रूप से पीएच.डी. के विषय हैं, ऐसी मेरी पुष्ट मान्यता है।'

(2) किसी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की प्रतिलिपियाँ एकत्र करके पाठानुसन्धान की प्रक्रिया द्वारा मूल पाठ निर्धारित करना, मूल पाठ का सम्पादन तथा समीक्षात्मक विश्लेषण और मूल्यांकन करना भी पीएच.डी. या डी.लिट्. का विषय हो सकता है।

(3) पाठ-शोध के उपरान्त शोधित पाठ के संवेदनागत और शैलीय गुणों के विवेचनार्थ कृति का शैलीवैज्ञानिक या काव्यशास्त्रीय अध्ययन किया जा सकता है। भाषिक स्वरूप के उद्घाटनार्थ उसका भाषावैज्ञानिक विश्लेषण किया जा सकता है।

(4) उपर्युक्त प्रत्यक्ष आयामों के अतिरिक्त कृति के रचनाकार की जीवनी, कृति के रचना-काल, कृति के प्रेरणा-स्त्रोतों, युगीन प्रभावों, उद्देश्य आदि का विवेचन परोक्ष रूप से पाठानुसन्धान से सम्बद्ध विषय हैं।

पाठानुसन्धान की महती उपादेयता को ध्यान में रख कर इलाहाबाद विश्वविद्यालय तथा पटना विश्वविद्यालय ने इसे 'पाठ-विज्ञान' नाम से एम.ए. में एक विषय के रूप में पाठ्यक्रम में निर्धारित किया है। अन्य विश्वविद्यालयों को भी इस दिशा में सकारात्मक पग उठाने की आवश्यकता है।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

5.4.5.2. पाठानुसन्धान की प्रविधि

पाठानुसन्धान की प्रविधि के मुख्यतः चार सोपान हैं – सामग्री-संकलन, पाठ-चयन, पाठ-सुधार तथा उच्चतर आलोचना। इन चारों सोपानों पर क्रमशः पृथक्-पृथक् विचार करने से पाठानुसन्धान की यह जटिल प्रक्रिया सुविधापूर्वक हृदयंगम हो सकती है।

(1) सामग्री-संकलन (Hueristics) : किसी अप्राप्त पाण्डुलिपि की यथासम्भव अधिक से अधिक प्रतिलिपियों को मठों, मन्दिरों, ग्रन्थागारों, व्यक्तिगत संग्रहालयों, शोध संस्थानों आदि से खोज कर संकलित करना सामग्री-संकलन कहलाता है। यह कार्य निश्चय ही बहुत कष्टसाध्य है। अनेक संग्रहालयों के मठाधीश अपने साम्प्रदायिक आग्रहों या अन्धविश्वासों के कारण प्रतिलिपियों को न तो दिखाते हैं और न ही उनका उपयोग करने देते हैं। कभी-कभी स्वयं उपलब्ध प्रतिलिपियों के कारण ही कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। अपूर्ण या खण्डित होने की स्थिति में प्रतिलिपियाँ स्वयं समस्या बन जाती हैं। आरम्भिक पृष्ठ लुप्त होने की स्थिति में ग्रन्थ के नाम का भी निर्धारण नहीं हो पाता है। अन्तिम पृष्ठों के लुप्त होने से ग्रन्थ के अन्त में दी गयी 'पुष्पिका' भी लुप्त हो जाती है, जिसमें ग्रन्थ के रचना-काल, लिपिकाल, ग्रन्थकार, लिपिकार आदि के विषय में अनेक उपयोगी सूचनाएँ अंकित रहती हैं। यदि कुछ प्रतिलिपियाँ पूर्ण और कुछ अपूर्ण या खण्डित भी प्राप्त हो जायें तो पाठानुसन्धाता का काम चल जाता है। केवल एक ही पूर्ण प्रतिलिपि प्राप्त होने की स्थिति में उसी के पाठ को मूल पाठ मानना पाठानुसन्धान की दृष्टि से समीचीन नहीं है।

(2) पाठ-चयन (Recension) : विभिन्न प्रतिलिपियों के पाठों के परस्पर मिलान या तुलना से पूर्व पाठानुसन्धाता को प्रतिलिपियों की बहिरंग और अन्तरंग जाँच कर लेनी चाहिए। प्रतिलिपियों के अन्त में दी गयी 'पुष्पिका' के आधार पर सभी प्रतिलिपियों को प्रतिलिपि-काल की दृष्टि से पूर्वापर क्रम में व्यवस्थित कर लेना चाहिए। सामान्यतः प्राचीनतम प्रतिलिपि मूल पाण्डुलिपि के पाठ के निकटतम मानी जाती है। किन्तु इसे सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता। कभी-कभी उपलब्ध प्राचीनतम प्रतिलिपि से बहुत बाद की ऐसी प्रतिलिपि भी प्राप्त हो जाती है, जो प्राचीनतम प्रतिलिपि की आधारभूत प्रतिलिपि से भी कहीं पुरानी किसी प्रतिलिपि की प्रतिलिपि होती है। इसलिए प्रतिलिपि की प्राचीनता को आधार न मानकर पाठ की अधिकाधिक शुद्धता या प्रामाणिकता को ही पाठ-चयन का आधार बनाना चाहिए।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यह प्रामाणिक पाठ बहुत बाद की किसी प्रतिलिपि में भी मिल सकता है, क्योंकि यह बहुत सम्भव है कि वह प्रतिलिपि मूल पाण्डुलिपि या उसकी प्रथम प्रतिलिपि से की गयी प्रतिलिपि हो तथा शेष उपलब्ध प्रतियाँ लिपि काल की दृष्टि से प्राचीन होते हुए भी मूल पाण्डुलिपि से की गयी प्रतिलिपियों की परम्परा में कई पीढ़ियों के बाद की हों।

प्रामाणिक पाठ के चयन के लिए उपलब्ध प्रतिलिपियों का सम्बन्ध-निर्धारण प्राथमिक आवश्यकता है। सम्बन्ध-निर्धारण के लिए प्राप्त प्रतिलिपियों के पाठों का सूक्ष्मता से मिलान या तुलना अपेक्षित है। पाठों की तुलना से दो बातें उभर कर आयेंगी। एक बात तो यह सामने आयेगी कि सभी प्रतिलिपियों में पाठगत बहुत-सी सामानताएँ मिलेंगी। इसे पाठ-साम्य कहा जा सकता है। यह पाठ-साम्य ही सारी प्रतिलिपियों को एक सम्बन्ध-सूत्र में जोड़ने वाला मूल सम्बन्ध है। इसी पाठ-साम्य के आधार पर मूल कृति सारी प्रतिलिपियों में अपना अस्तित्व बनाये हुए है। मूल का पाठ ही पाठ-साम्य के रूप में विभिन्न प्रतिलिपियों में विद्यमान है। अतः यह प्रामाणिक रूप में ग्राह्य है। पाठों के मिलान से दूसरी बात जो उभरेगी, वह है पाठ वैषम्य या पाठान्तर या पाठ-विकृति। वास्तव में, यह पाठ-वैषम्य भी एक प्रकार का सम्बन्ध ही है, क्योंकि यह भी मूल पाठ से ही विकार के रूप में पैदा हुआ है। हाँ, इसे गौण सम्बन्ध माना जा सकता है। इन पाठान्तरों या पाठ-विकृतियों के सूक्ष्म पर्यालोचन से मूल पाठ या शुद्ध पाठ तक पहुँचने में सहायता मिलती है। उदाहरण के रूप में पाठान्तरों के तुलनात्मक अध्ययन से यह देखा जा सकता है कि जो पाठान्तर छन्द, सन्दर्भ, भाषिक संरचना आदि की दृष्टि से सटीक सिद्ध होता है, वह निश्चय ही सही और प्रामाणिक होने के कारण ग्राह्य है। इस प्रकार पाठ-विकृतियों को भी पाठ संस्कृति में रूपान्तरित करते हुए मूल कृति के पूरे पाठ का पुनर्निर्माण या अनुसन्धान किया जा सकता है। हाँ, पाठान्तरों में से वही पाठ ग्राह्य हो सकता है जो मूल रचना या रचनाकार की अनुभूतिगत और अभिव्यक्तिगत प्रकृति के सर्वथा अनुरूप हो। सन्दर्भ, चिन्तनगत अन्विति, भाषिक संरचना या शैली के नैसर्गिक स्वरूप के प्रतिकूल पड़ने वाले पाठान्तर प्रामाणिक पाठ के रूप में स्वीकार नहीं किये जा सकते।

पाठों के साम्य-वैषम्य को आधार मानकर साम्य की सर्वाधिक और वैषम्य की न्यूनतम सम्भावनाओं वाली प्रतिलिपि के पाठ को मूल पाठ के निकटतम मान कर समूची कृति का पाठ-निर्माण किया जा सकता है। पाठान्तरों को भावी अनुसन्धाताओं के विचारार्थ नीचे पादटिप्पणियों के रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए।

सम्पादन भी पाठानुसन्धान का सहवर्ती कार्य है। अतः अनुसन्धाता को एक सुसम्पादक के रूप में विभिन्न प्रतिलिपियों के सम्यक् परिचय के साथ अपनी

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अनुसन्धान-प्रक्रिया के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कृति के प्रारम्भ में एक सारपूर्ण 'भूमिका' प्रस्तुत करनी चाहिए। कृति की विषय-वस्तु, सन्देश और महत्त्व आदि पर भी भूमिका में प्रकाश डालना उपादेय होगा। कठिन शब्दों के अर्थ भी यत्र-तत्र पाद-टिप्पणियों में दिये जा सकते हैं। समूची कृति की तत्त्वदर्शी समालोचना भी कृति के मूल पाठ के उपरान्त सबसे बाद में देने से पूरे सारस्वत प्रयास की गुणवत्ता में वृद्धि होती है। इस विषय में किंचित् और विस्तार से 'उच्चतर समालोचना' उपशीर्षक के अन्तर्गत विचार किया जायेगा।

(3) पाठ-सुधार (Emendation) : पाठानुसन्धाता का कार्य सामान्यतः तो पाठ-चयन तक ही सम्पन्न हो जाता है, किन्तु अनुसन्धाता कोरा अनुसन्धाता ही नहीं है, वह दृष्टि सम्पन्न शोधक भी है। शोधक खोजी भी होता है और सुधारक या संशोधक भी। जब कभी पाठ-निर्धारण के समय पाठानुसन्धाता को उपलब्ध प्रतिलिपियों में प्राप्त पाठान्तरों में से कोई भी पाठ न तो सन्दर्भ की दृष्टि से, न छन्द की दृष्टि से, न भाषावैज्ञानिक दृष्टि से और न ही शैलीवैज्ञानिक दृष्टि से उपयुक्त प्रतीत होता है, तो ऐसी स्थिति में वह उपलब्ध पाठान्तरों में से किसी न्यूनतम विकृत पाठ को ऐसे ढंग से सुधार कर प्रस्तुत करता है कि वह सन्दर्भ और छन्द की नैसर्गिक अपेक्षाओं पर तो खरा उतरता ही है, साथ ही रचना की भाषिक और भावात्मक प्रकृति के भी सर्वथा अनुरूप सिद्ध होता है। ऐसा लगता है कि वही पाठ मिल गया है जो मूल रचनाकार ने मूल कृति में प्रयुक्त किया होगा तथा जो किसी प्रकार प्रतिलिपिकार के प्रमाद का शिकार होकर विकराग्रस्त हो गया होगा। पाठ-सुधार सामान्य अनुसन्धाताओं की शक्ति से बाहर है। वस्तुतः इसके लिए शोधक में रचनाकार की कारयित्री प्रतिभा का होना भी नितान्त आवश्यक है। पाठ-सुधार का कार्य अत्यन्त उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है। इसमें तभी प्रवृत्त होना चाहिए, जब पाठ-निर्धारण में वास्तविक संकट उपस्थित हो गया हो। किसी रचनाकार की कृति के साथ अनधिकार चेष्टा के रूप में अनावश्यक छेड़छाड़ सर्वथा अनुचित है। यदि सही स्थान पर समीचीन पाठ-सुधार किया जा सका है तो यह निश्चय ही प्रमाद-सागर में निमग्न होते पाठ का उद्धार है।

(4) उच्चतर आलोचना (Higher criticism) : उच्चतर आलोचना पाठानुसन्धान का अनिवार्य अंग तो नहीं है, किन्तु यह वांछनीय अंग अवश्य है। यह भूमिका का अंग भी हो सकती है, भूमिका के बाद अलग स्वतन्त्र रूप में भी हो सकती है तथा कृति के पाठ की समाप्ति के उपरान्त सबसे बाद में भी हो सकती है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त के अनुसार 'रचना के मूलाधारों की खोज और लेखक ने किस

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रकार उनका उपयोग किया है, इसका विवेचन उच्चतर आलोचना है।' किन्तु उच्चतर आलोचना रचना के मूलाधारों के रूप में निहित परम्परा, प्रेरणा-स्रोतों आदि के अनुसन्धान और उनके रचनाकार द्वारा कृति में प्रयुक्त सर्जनात्मक स्वरूप के उद्‌घाटन तक ही सीमित नहीं है। इसमें कृति के युगीन परिवेश, कथावस्तु, पात्र-योजना, दर्शन, सन्देश, शैली-सौष्ठव आदि पर सारपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करना भी समाविष्ट है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र तथा स्वयं डॉ. माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित प्राचीन ग्रन्थों में प्रस्तुत कृति-केन्द्रित विवेचनों से उपर्युक्त धारणा की पुष्टि होती है।

पाठानुसन्धान का कार्य अन्य प्रकार के शोध-कार्यों से स्वरूपतः भिन्न होने के कारण शोधक में भी भिन्न प्रकार की प्रातिभ क्षमताओं की अपेक्षा करता है। यह कार्य स्थायी महत्त्व का है। यह ऐसा अनुसन्धान है, जो अनेक भावी अनुसन्धानों के लिए मूल्यवान्, शोध्य सामग्री प्रस्तुत करता है। इससे एक तिरोहित होती रचना का उद्धार होता है तथा लुप्त होता हुआ रचनाकार प्रकाश में आता है। अतः यह कार्य ऐतिहासिक महत्त्व का है।

5.4.6. लोकसाहित्यिक शोध

अशिक्षित और अप्रशिक्षित आदिम मानस के मूल नैसर्गिक लक्षण लोक-मानस में परम्परागत रूप से सुरक्षित रहते हैं। लोक-मानस ही शिक्षित तथा प्रशिक्षित (ट्रेण्ड) होकर शिष्ट या अभिजात-मानस में परिणत हो जाता है। किन्तु अभिजात-मानस में भी लोक-मानस के आदिम तत्त्व कुछ-न-कुछ अंशों में सुरक्षित रहते हैं। लोक-मानस अपने प्रकृत या नैसर्गिक रूप को सदैव बनाये रखता है। अतः ऊपरी दिखावे, शिष्टाचार, दुराव-छिपाव आदि के आवरणों से मुक्त आडम्बरहीन सहज मानस ही लोक-मानस है। शिष्ट मानस पर बौद्धिकताजनित सभ्यता की अनेक परतें चढ़ जाती हैं। ज्ञान-विज्ञान से सम्बद्ध शास्त्रीय जानकारी लोक-मानस के प्रतिकूल है। इसीलिए लोक और शास्त्र दो विपरीत ध्रुव हैं। लोक की नैसर्गिक अनुभूतियों से लोक-साहित्य का जन्म होता है तथा शास्त्र से अनुप्राणित अनुभूतियाँ शिष्ट या परिनिष्ठित साहित्य में अभिव्यक्त होती हैं। यह ध्यातव्य है कि जिस प्रकार प्रत्येक अभिजात व्यक्ति में भी कुछ आदिम तत्त्व रहते हैं, उसी प्रकार परिनिष्ठित साहित्य में भी आंतरिक ऊष्मा के रूप में कुछ लोक-तत्त्व रहते हैं। सच तो यह है कि प्रभावपूर्ण परिनिष्ठित साहित्य में लोकानुभूतियों के सम्यक् समावेश से भावोष्मा का संचार होता है। सूर, तुलसी, जायसी के उत्कर्ष में लोक-तत्त्व की महती भूमिका है। लोकानुभूति

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

से शून्य कोरा शास्त्रीय काव्य तो यान्त्रिक और रीतिबद्ध होकर रह जाता है। वस्तुतः विरोधी तत्त्वों के अपेक्षित अनुपात में सम्मिश्रण से अद्भुत उत्कर्ष उत्पन्न होता है। जिस प्रकार लोक और शास्त्र के सम्मिश्रण से तुलसी श्रेण्य (क्लैसिकल), शिष्ट साहित्यकार बन गये, उसी प्रकार सुने-सुनाये दर्शन, नीतिशास्त्र, पुराणों, महाभारत और रामायण के सहज संचित और अनुभवजन्य शास्त्र-ज्ञान और लोकानुभव की समन्विति से अनपढ़ पं. लखमीचन्द श्रेण्य लोक-कवि के रूप में प्रतिष्ठित हो गये।

लोकसाहित्यिक शोध का समारम्भ उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में उस समय हुआ, जब विद्वानों का ध्यान साधारण जनता की जीवन-विधि, संस्कृति, रीति-रिवाज, भाषा और लोक-कलाओं की ओर आकृष्ट हुआ। सर्वप्रथम इसे 'पोपुलर एण्टिक्विटीज़' नाम दिया गया, लेकिन बाद में इसके स्थान पर फ़ोकलोर (Folk-lore) शब्द का व्यवहार किया जाने लगा। हिन्दी में 'फ़ोक' के स्थान पर ग्राम, लोक, जन, जनप्रवाह आदि शब्दों को अंगीकार किया गया, किन्तु अब फ़ोक के लिए 'लोक' शब्द ही रूढ़ हो गया है। फ़ोकलोर के लिए भी 'लोक-वार्त्ता', लोकायन, लोक-संस्कृति, लोक-शास्त्र आदि शब्दों का अनुमोदन किया गया, किन्तु अब 'लोकवार्त्ता' और 'लोकतत्त्व' अधिक प्रचलित हो गये हैं।

वस्तुतः वह सम्पूर्ण अभिव्यक्ति, जिसमें लोकमानसीय तत्त्व होते हैं, लोकवार्त्ता के अन्तर्गत आती है। सोफ़िया बर्न ने 'ए हैण्डबुक ऑफ फ़ोकलोर' में लोकवार्त्ता के तीन अंग माने हैं - (1) लोक-विश्वास और रूढ़ परम्पराएँ (2) रीति-रिवाज और प्रथाएँ तथा (3) लोक-साहित्य। इस प्रकार लोक-साहित्य लोक-वार्त्ता का एक प्रमुख अंग है। लोक-मानस की नैसर्गिक अभिव्यक्ति लोक-साहित्य में होती है। वास्तव में लोक-वार्त्ता के शेष दो तत्त्व लोक-विश्वास और परम्पराएँ तथा रीति-रिवाज और प्रथाएँ भी लोकानुभूतियों में लिपट कर लोक-साहित्य में ही व्यक्त होते हैं। अतः लोक-मानस और लोक-संस्कृति के सम्यक् अनुशीलन का सर्वाधिक प्रामाणिक आधार लोक-साहित्य ही बन सकता है। लोक-साहित्य लोक-संस्कृति का अभिन्न अंग भी है और लोक-संस्कृति की अभिव्यक्ति का सजीवतम, प्रामाणिक माध्यम भी।

हिन्दी में लोकवार्त्ता और लोक-साहित्य के संग्रह और अध्ययन का कार्य जे. क्रिश्चियन, एलविन, ग्रियर्सन आदि अन्य अनेक अंग्रेज़ विद्वानों द्वारा प्रारम्भ किया गया था, किन्तु इस दिशा में प्रथम प्रयास करने वाले भारतीय विद्वानों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नाम पं. रामनरेश त्रिपाठी का है, जिन्होंने पूरी निष्ठा और समर्पण भावना के साथ अपने जीवन का अधिकांश भाग लोक-गीतों के संग्रह में व्यतीत कर दिया। उन्होंने 'कविता-कौमुदी, भाग 5, कविता-कौमुदी ग्रामगीत, हमारा ग्राम-साहित्य,

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ग्राम-साहित्य, भाग 1, 2, 3 आदि कई संग्रहों में लोकगीत संकलित किये तथा भूमिकाओं में लोक-गीतों के स्वरूप एवं विशेषताओं पर प्रकाश डाला। देवेन्द्र सत्यार्थी का योगदान भी लोक-साहित्य के संकलन और अध्ययन की दृष्टि से उल्लेखनीय है। हिन्दी की उपभाषाओं में राजस्थानी लोक-साहित्य के उद्धार की दृष्टि से देवीलाल परमार, नरोत्तम स्वामी, सूर्यकरण पारिख के नाम महत्त्वपूर्ण हैं। ब्रज लोक-संस्कृति और लोक-साहित्य के क्षेत्र में कन्हैयालाल मुन्शी, डॉ. सत्येन्द्र आदि ने विशेष कार्य किया है।

लोक-साहित्य के क्षेत्र में वैज्ञानिक दृष्टि से शोध-कार्य का समारम्भ करने वालों में डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय का नाम महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने भोजपुरी लोक-साहित्य के संकलन के साथ 'भोजपुरी लोक-साहित्य का अध्ययन' शीर्षक शोध-प्रबन्ध लिख कर लोक-साहित्य के सम्यक् विश्लेषण-विवेचन की स्वस्थ परम्परा का सूत्रपात किया। इसी प्रकार डॉ. सत्येन्द्र ने 'ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन' शीर्षक उच्चस्तरीय शोध-प्रबन्ध लिखा और 'लोक-साहित्य विज्ञान' नामक ग्रन्थ लिखकर लोक-साहित्य के विवेचन की सुदृढ़ सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि तैयार की। सैद्धान्तिक निरूपण की दृष्टि से डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय का 'लोक-साहित्य की भूमिका' ग्रन्थ भी विशेष दिशादर्शक है।

5.4.6.1. लोकसाहित्यिक शोध के आयाम

लोक-साहित्य के अनेक आयाम होने के कारण लोकसाहित्यिक शोध के भी अनेक आयाम हैं। लोक-साहित्य किसी विशिष्ट क्षेत्र या अंचल के लोकमानस की अभिव्यक्ति होता है। अतः उस अंचल की भौगोलिक, राजनीतिक, शैक्षिक, आर्थिक, धार्मिक, जातीय, पारिवारिक, सामाजिक आदि स्थितियाँ वहाँ के लोक-साहित्य में प्रतिबिम्बित होती हैं। इन्हीं परिस्थितियों से उपजी मनःस्थितियों से लोक-साहित्य का सृजन होता है। ये परिस्थितियां-मनःस्थितियाँ ही लोक-मानस से प्रसूत, लोक-परम्पराओं में ढलकर लोक-संस्कृति का पोषण और संवर्द्धन करती हैं। इस प्रकार विभिन्न परिस्थितियाँ, लोक-विश्वास, परम्पराएँ, रीति-रिवाज, व्यवसाय, धर्म, जातियां, त्योहार, मेले, उत्सव आदि के योग से लोक-संस्कृति का स्वरूप उभरता है। यह लोकमानस-प्रसूत लोक-संस्कृति ही लोक-भाषा के माध्यम से सांग (स्वांग), गीत, रागनी, लोककथा, कहावत, मुहावरे आदि के रूप में अभिव्यक्ति के विविध रूप ग्रहण करके लोक-साहित्य का आकार ग्रहण करती है। लोक-मानस से प्रसूत कुछ पद्यात्मक-गद्यात्मक लोक-साहित्य ऐसा है, जो अज्ञात काल से परम्परागत रूप में चला आ रहा है तथा जिसके रचनाकारों का कोई पता नहीं है। कुछ लोक-साहित्य

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अशिक्षित, अर्द्धशिक्षित तथा सुशिक्षित रचनाकारों द्वारा देश-काल-सापेक्ष रूप में अथवा प्राचीन ऐतिहासिक-पौराणिक आख्यानों को लेकर रचा गया है और निरन्तर रचा जा रहा है तथा जो लिखित या प्रकाशित रूप में भी प्राप्त होता है। ज्ञात रचनाकारों द्वारा रचित लोक-साहित्य को लोक-मानस-प्रसूत अज्ञात रचनाकारों द्वारा रचित लोक-साहित्य से अलगाने के लिए उसे 'जन-साहित्य' नाम से अभिहित किया जाता है। इस प्रकार जन-साहित्य लोक-साहित्य और शिष्ट-साहित्य के बीच की कड़ी है। पं. लखमीचन्द अशिक्षित थे, किन्तु उनके सभी साँग अब प्रकाशित रूप में उपलब्ध हैं। लोक-संस्कृति, लोक-साहित्य और लोक-भाषा नामक तीन प्रमुख आयामों से सम्बद्ध अन्य अनेक आयाम हैं, जो उत्साही शोधकर्त्ताओं की उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे हैं। यहाँ कुछ आयाम विचारार्थ प्रस्तुत हैं :

(1) **सैद्धान्तिक विवेचन :** डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय तथा डॉ. सत्येन्द्र की सैद्धान्तिक चिन्तन-परम्परा को विकसित करते हुए लोक-साहित्य के सैद्धान्तिक पक्ष पर और भी गम्भीर एवं सुग्राह्य शोध-कार्य करने की महती आवश्यकता है। इसके भी दो आयाम हो सकते हैं :

(क) लोक-साहित्य का सैद्धान्तिक स्वरूप

(ख) जन-साहित्य का सैद्धान्तिक स्वरूप

(2) **लोक-साहित्य का इतिहास :** प्रत्येक जनपद या अंचल या प्रदेश के लोक-सहित्य तथा जन-साहित्य का इतिहास लिखे जाने की आवश्यकता है। श्री रघुबीर सिंह मथाना तथा डॉ. बाबूराम ने 'हरियाणवी साहित्य का इतिहास' लिखकर इस दिशा में एक उदाहरण प्रस्तुत किया है।

(3) **विधागत अध्ययन :** विधागत वैशिष्ट्य को ध्यान में रखकर किसी जनपद या प्रदेश या राज्य के लोक-साहित्य का अध्ययन मूल्यवान् हो सकता है। हरियाणवी लोक-साहित्य के ये विधागत अध्ययन इस प्रकार हो सकते हैं :

(क) नाट्य-कला के निकष पर हरियाणवी साँगों का अध्ययन।

(ख) गीति-तत्त्व की दृष्टि से हरियाणवी लोक-गीतों का अध्ययन।

(ग) संवेदना और शिल्प की दृष्टि से हरियाणवी रागनियों का अध्ययन। (लखमीचन्द, माँगेराम, मेहर सिंह आदि की रागनियों का स्वतन्त्र रूप में उक्त दृष्टि से अधिक गहन अध्ययन सम्भव है।)

(घ) कथा-तत्त्व की दृष्टि से हरियाणवी लोक-कथाओं का विश्लेषण।

(4) **लोकसांस्कृतिक अध्ययन :** प्रत्येक प्रदेश के लोक-साहित्य की विविध विधाओं में उपलब्ध रचनाओं का लोकसांस्कृतिक अध्ययन बहुत ही उपादेय है। साँगों, गीतों, रागनियों, लोककथाओं का पृथक्-पृथक् भी सांस्कृतिक

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अध्ययन किया जा सकता है और संयुक्त रूप से भी।

(5) **अन्तरविद्यावर्ती शोध :** किसी भी प्रदेश की लोककथाओं, रागनियों, गीतों, साँगों आदि का मनोवैज्ञानिक, सौन्दर्यशास्त्रीय, समाजशास्त्रीय, नृतत्वशास्त्रीय, नीतिशास्त्रीय, दार्शनिक आदि दृष्टियों से पृथक्-पृथक् शोध-विषय के रूप में अध्ययन उपयोगी है।

(6) **प्रवृत्तिमूलक अध्ययन :** विभिन्न विधाओं के लोक-साहित्य का भक्ति, वीरता, व्यंग्य, प्रकृति, प्रेम, वात्सल्य, राष्ट्र-प्रेम आदि प्रवृत्तियों में से किसी एक को केन्द्र में रखकर पृथक्-पृथक् अनेक शोध-प्रबन्धों में अध्ययन किया जा सकता है।

(7) **काव्यशास्त्रीय शोध :** रस, अलंकार, वक्रोक्ति आदि के आधार पर लोक-साहित्य का विवेचन महत्त्वपूर्ण है। बिम्ब, प्रतीक, मानवीकरण की दृष्टि से भी लोक-साहित्य का अध्ययन किया जा सकता है।

(8) **शैलीवैज्ञानिक शोध :** शैलीविज्ञान के व्याकरणिक और काव्यशास्त्रीय निकषों को लागू करते हुए लोक-साहित्य की विविध विधाओं का शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण निश्चय ही बहुत मूल्यवान् सिद्ध हो सकता है। अकेले विचलन की दृष्टि से किये गये विश्लेषण भी बहुत मर्मोद्घाटक सिद्ध हो सकते हैं।

(9) **भाषावैज्ञानिक शोध :** लोकभाषा की संरचना के सौष्ठव के विवेचन-विश्लेषण में भाषा-विज्ञान भी विशेष सहायक सिद्ध हो सकता है।

(10) **कोश-निर्माण :** नीति, भक्ति, पौराणिकता, दर्शन, प्रथाओं, परम्पराओं, उत्सवों, मेलों, पर्वों, संस्कारों, व्यवसायों, विश्वासों, रूढ़ियों, धर्मों, वर्गों, जातियों आदि से सम्बन्धित शब्दावली को संचित और वर्गीकृत करके किसी प्रदेश का 'लोकसांस्कृतिक शब्दावली-कोश' निर्मित किया जा सकता है। ऐसा कोश निश्चय ही बहुत मूल्यवान् होगा। 'हरियाणवी-हिन्दी कोश' की भाँति अन्य लोकभाषाओं के भी कोश तैयार किये जा सकते हैं।

5.4.6.2. लोक-साहित्यिक शोध की प्रविधि

लोक-साहित्य पर शोध करने वाले शोधार्थी को सर्वप्रथम अपनी रूपरेखा को विषय की नैसर्गिक अपेक्षा के अनुरूप अन्तिम रूप देना चाहिए तथा तत्पश्चात् विभिन्न अध्यायों के खण्डों, उपखण्डों के अनुरूप अपेक्षित सामग्री के संचयन की दिशा में प्रवृत्त होना चाहिए। यह ध्यातव्य है कि लोक-साहित्य के अध्येता की सामग्री सम्बद्ध क्षेत्र के ग्रामवासी नर-नारियों के कण्ठों में निहित रहती है। अतः कण्ठस्थ गीतों, लोककथाओं आदि के संग्रह के लिए टेप-रिकार्डर की महती आवश्यकता है। टेप-

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

रिकार्डर की सुविधा के कारण लोक-साहित्य के शोधकों का कार्य न केवल सरल हो गया है, वरन् अत्यधिक प्रामाणिक भी हो गया है, क्योंकि टेप की सामग्री ज्यों की त्यों, शुद्ध एवं प्रामाणिक होती है। फिर उसको टेप-रिकार्डर पर आवश्यकता के अनुरूप बार-बार सुना जा सकता है। गाँवों में चौपालों पर, घरों में, खेतों में स्थान-स्थान पर जाकर लोक-गायकों से सम्पर्क करना और सामग्री को टेप-रिकार्डर में टेप करने का यह कार्य क्षेत्र-कार्य या फ़ील्ड-वर्क (field-work) कहलाता है। शोधक को क्षेत्र-कार्य में प्रवृत्त होने से पूर्व अपने क्षेत्र का मानचित्र प्राप्त कर लेना चाहिए तथा किसी एक मध्यस्थानीय ग्राम को अपने क्षेत्र-कार्य का केन्द्र निर्धारित कर लेना चाहिए। अपने निर्धारित क्षेत्र के सभी प्रमुख ग्रामों से सामग्री एकत्र करनी चाहिए। सामग्री-संकलन के समय निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना आवश्यक है -

(1) यदि सामग्री के एक ही स्थान पर अथवा अन्य स्थानों पर विभिन्न रूप मिलते हों, तो उन सभी को टेप कर लेना चाहिए तथा बाद में अवकाश के क्षणों में उस सामग्री का उपयोगार्थ चयन करना चाहिए जो सबसे अधिक पूर्ण और उपयुक्त हो।

(2) टेप की गयी सामग्री को प्रयोगार्थ ज्यों-का-त्यों लिपिबद्ध करना आवश्यक है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन, परिवर्द्धन या संशोधन उचित नहीं है।

(3) सामग्री टेप करते समय ही सामग्री प्रदान करने वाले स्रोत-व्यक्तियों (Source-persons) से सम्बद्ध सामग्री से सम्बन्धित लोकतात्त्विक, सामाजिक, सांस्कृतिक जानकारी भी प्राप्त कर लेनी चाहिए। सामग्री के निहितार्थ की व्याख्या में इस जानकारी का उपयोग किया जा सकेगा।

जैसा कि लिखा जा चुका है, लोक-गीतों, लोककथाओं आदि के विविध रूपान्तर प्राप्त होने से शोधक के सामने भारी कठिनाई उपस्थित होती है। ऐसी स्थिति में शोधक को सभी रूपान्तरों का विवेकपूर्वक तुलनात्मक अध्ययन करते हुए सर्वाधिक पूर्ण और उपयुक्ततम पाठ को ग्रहण करना चाहिए। सामग्री-संकलन के उपरान्त उसे अध्यायों के अनुरूप वर्गीकृत कर लेना चाहिए। जहाँ तक सामग्री के आधार पर विषय-प्रतिपादन का प्रश्न है, डॉ. सत्येन्द्र ने विषय-विवेचन की दो पद्धतियाँ निर्दिष्ट की हैं। एक पद्धति विवरणात्मक (Descriptive) है, तो दूसरी लोकवार्त्ताशास्त्रीय (Folkloristic) है। विवरणात्मक शोध का सम्बन्ध सतही, परिचयात्मक विषय निरूपण से समझना न्यायसंगत न होगा। डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय का 'भोजपुरी लोक-साहित्य', डॉ. सत्येन्द्र का 'ब्रजलोक-साहित्य का अध्ययन', डॉ. शंकरलाल यादव का 'हरियाणा का लोक-साहित्य' विवरणात्मक होते हुए उच्च कोटि के तत्त्वपूर्ण

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शोध-प्रबन्ध हैं। लोकवार्त्ताशास्त्रीय शोध में लोकवार्त्ता के विभिन्न तत्त्वों के आधार पर लोक-साहित्य का मन्थन किया जाता है। डॉ. सत्येन्द्र द्वारा प्रस्तुत 'मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन' लोकवार्त्ताशास्त्रीय अध्ययन का उत्तम निदर्शन माना जाता है।

'लोकसाहित्यिक शोध के आयाम' शीर्षक के अन्तर्गत दर्शाया जा चुका है, कि लोकसाहित्यिक शोध केवल उपर्युक्त दो पद्धतियों तक सीमित नहीं है। काव्यशास्त्र, शैलीविज्ञान, भाषाविज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन, नीति, भक्ति, सौन्दर्यशास्त्र आदि अनेक निकषों के आधार पर लोक-साहित्य का अध्ययन अपेक्षित है। अकेले लोक-सांस्कृतिक दृष्टि से यदि पूरे देश के विभिन्न अंचलों या राज्यों के लोक-साहित्य का विधिवत् अनुशीलन किया जाये और फिर उन अनुशीलनों का एक समग्र अनुशीलन प्रस्तुत किया जाये, तो पूरे देश की संस्कृति की अनेकता में एकता का मनोरम परिदृश्य उपस्थित किया जा सकता है। अपने तात्त्विक रूप में भारतीय संस्कृति एक वैचारिक-आचारिक अमूर्त अवधारणा है। उसका इन्द्रधनुषी मूर्त रूप विविध राज्यों के लोक साहित्य के लोकसांस्कृतिक अध्ययनों के माध्यम से सजीव एवं मूर्त रूप में उजागर किया जा सकता है। ऐसा योजनाबद्ध कार्य विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के तत्त्वावधान में सहज सम्भव है।

5.4.7. अन्तरविद्यावर्ती शोध

'अन्तरविद्यावर्ती शोध' शब्द अंग्रेज़ी के 'इण्टरडिसिप्लिनरी रिसर्च' के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता है। हिन्दी में इसके स्थान पर 'अन्तर-अनुशासनिक' और 'अन्तर-क्षेत्रीय' शब्द भी प्रयुक्त किये गये हैं, किन्तु 'अनुशासन' और 'क्षेत्र' की तुलना में 'डिसिप्लिन' के लिए 'विद्या' शब्द ही सर्वाधिक उपयुक्त है। डॉ. फ़ादर कामिल बुल्के ने अपने 'अंग्रेज़ी-हिन्दी कोश' में डिसिप्लिन' के लिए 'विद्या' शब्द दिया है। 'वर्ती' (वर्तिन्) वर्तनशीलता या व्याप्ति का द्योतक है। इस प्रकार अन्तरविद्यावर्ती शब्द अपने अभिप्रेत अर्थ के सम्प्रेषण में पूर्णतः समर्थ है।

'अन्तरविद्यावर्ती शोध' का प्रचलन लगभग तीन दशक पूर्व ही प्रारम्भ हुआ है। इससे पूर्व विश्वविद्यालयों द्वारा 'कामायनी का मनोवैज्ञानिक अध्ययन' या 'प्रेमचन्द के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अध्ययन' आदि विषय इस टिप्पणी के साथ निरस्त कर दिये जाते थे कि इन विषयों का सम्बन्ध हिन्दी-विभाग की अपेक्षा मनोविज्ञान विभाग और समाजशास्त्र विभाग से अधिक है। किन्तु अब यह स्थिति नहीं है। अन्तरविद्यावर्ती शोध की संकल्पना इस आधारभूत मान्यता पर प्रतिष्ठित है कि ज्ञान अखण्ड है, अतः

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विविध विधाओं के रूप में ज्ञात ज्ञान की विविध शाखाओं में परस्पर गहन सम्बन्ध है।

ज्ञान की यह अखण्डता जीवन और जगत् की अखण्डता पर आधारित है। ज्ञान की गति स्थूल से सूक्ष्म की ओर है। स्थूल तत्त्व भौतिक है और सूक्ष्म तत्त्व भावात्मक तथा मानवीय। जैसे-जैसे स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होते हैं, वैज्ञानिक वर्गीकरण की सम्भावना कम होती जाती है और आपसी सम्बन्धों की घनिष्ठता की सम्भावना बढ़ती जाती है।

ज्ञान की गति के क्रम में विज्ञान के विषय स्थूल भौतिकता से सम्बन्धित होने के कारण परस्पर विशेष सम्बन्धित नहीं है तथा मानविकी से सम्बन्धित समाजशास्त्र, इतिहास, मनोविज्ञान आदि शास्त्रीय विषयों और साहित्य, कला आदि से भी उनका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। विज्ञान की अपेक्षा शास्त्रीय विषय कहीं अधिक मानवीय और सूक्ष्म हैं। इसलिए इनमें वैज्ञानिक वर्गीकरण की सम्भावनाएँ कम हैं और परस्पर अन्तरावलम्बन और सम्बन्ध कहीं अधिक प्रगाढ़ है। मानवीय संवेदना की सर्वाधिक प्रागढ़ता के कारण ज्ञान की सूक्ष्मतम अवस्था के दर्शन साहित्य में होते हैं। साहित्य में वैज्ञानिक वर्गीकरण की सम्भावनाएँ अल्पतम हैं। प्रख्यात साम्यवादी विचारक कॉडवैल का कथन है कि साहित्य के क्षेत्र में वर्गीकरण से सम्बन्धित पुस्तकों को भस्म कर देना चाहिए। साहित्य में किया गया वर्गीकरण वैज्ञानिक नहीं होता, वरन् वह प्रधानता के आधार पर समझने-समझाने की दृष्टि से किया जाता है। जहाँ वैज्ञानिक और शास्त्रीय विषयों में केवल बुद्धि ही अध्ययन का आधार है, वहाँ साहित्य का आधार अनुभूति है, जिसमें बौद्धिक चिन्तन भावना और कल्पना से युक्त होकर व्यक्त होता है। चिन्तन, भावना और कल्पना के संयोजन के रूप में मानव अन्तःकरण की तीनों क्षमताओं की जैसी समग्र एवं संश्लिष्ट अभिव्यक्ति साहित्य में होती है, वह विज्ञान और शास्त्रीय विषयों में सम्भव नहीं है, क्योंकि उनमें अकेले बौद्धिक चिन्तन ही महत्त्वपूर्ण है। वहाँ भावना और कल्पना के लिए कोई अवकाश नहीं है। साहित्य की सहितता और समाहार-क्षमता का प्रमाण यह है कि साहित्य शास्त्रीय विषयों के बोध या चिन्तन-सामग्री को तो अपनी भावना और कल्पना के संचार का विषय बनाता ही है, साथ ही विज्ञान के सुप्रभावों-कुप्रभावों को भी अनुभूति का विषय बनाता है।

शास्त्रीय बोध सदैव ही साहित्यिक चिन्तन का आधार रहा है। अतः अन्तरविद्यावर्ती शोध साहित्य के शास्त्रीय आधार के सर्वथा अनुरूप है। भक्तिकालीन काव्य में वेदान्त दर्शन के विशिष्टा द्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद आदि रूपान्तरणों ने भक्ति को सुदृढ़ दार्शनिक पीठिका प्रदान की। रीतिकालीन साहित्य में कामशास्त्र, काव्यशास्त्र,

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ज्योतिष-वैद्यक, संगीत आदि शास्त्रों की विशिष्ट भूमिका रही। छायावादी कवियों ने वेदान्त से प्रेरणा ली। प्रगतिवादी कवियों के लिए साम्यवादी चिन्तन विशेष प्रेरक रहा। प्रयोगवादी कवियों ने अस्तित्ववाद, फ्रायडवाद (मनोविश्लेषणवाद), विकासवाद, आधुनिकतावाद आदि से प्रेरणा ली। सूक्ष्म युग-बोध के कारण कबीर, तुलसी, प्रेमचन्द महान् समाजशास्त्री प्रतीत होते हैं। प्रसाद चिन्तन की गहनता के कारण एक साथ ही गम्भीर दार्शनिक, मनोविज्ञानवेत्ता और सौन्दर्यशास्त्री लगते हैं।

स्पष्ट है कि साहित्यकार की केन्द्रीय जीवन-दृष्टि में दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, सौन्दर्यशास्त्रीय बोध अनायास अनुस्यूत रहते हैं। जीवनगत सभी शास्त्रीय बोध साहित्यकार की अनुभूति में समाहित रहते हैं, किन्तु साहित्यकार की संवेदना किसी निश्चित शास्त्रीय बोध तक सीमित नहीं रहती। जो कवि या साहित्यकार बोध के विविध रूपों को अपनी अनुभूति में जितने उदात्त, गहन और व्यापक स्तर पर समन्वित करने में सफल होता है, वह उतना ही प्रतिभाशाली और महान् होता है। रामायण, महाभारत, रामचरितमानस, सूरसागर, पद्मावत, कामायनी आदि श्रेण्य ग्रन्थों (क्लैसिक्स) में शास्त्रीय चिन्तन और संवेदना का उच्चस्तरीय अन्तर्गुम्फन घटित हुआ है। अन्तरविद्यावर्ती शोध साहित्यिक कृति में निहित एक या अनेक शास्त्रीय बोधों के अध्ययन के आधार पर कृति के तन्त्र के उद्घाटन की दिशा में प्रवृत्त होता है। इस अध्ययन से कृतिकार की दृष्टि और दर्शन या चिन्तन के स्वरूप के साथ ही उसमें निहित लक्ष्यों और मूल्यों का भी पता चलता है।

साहित्य में शास्त्रीय बोध दो रूपों में व्यक्त होता है : (1) अनायास या मुक्त रूप में तथा (2) सायास और संकीर्ण या प्रतिबद्ध रूप में। उदाहरण के लिए भक्तिकालीन कवियों में यह शास्त्रीय बोध भक्ति का सहज और अभिन्न अंग बनकर सरस और सुग्राह्य रूप में व्यक्त हुआ है, किन्तु रीतिकाल में रचित रीतिबद्ध काव्यों में शास्त्रीय बोध को सायास समाविष्ट किया गया है और 'शास्त्र-काव्यों' का प्रणयन किया गया है। आधुनिक काल में साम्यवादी चिन्तन के प्रति प्रतिबद्ध (कमिटेड) साहित्यकारों द्वारा रचित प्रगतिवादी काव्य तो साम्यवादी विचारधारा तक ही परिसीमित है।

रचनाकारों की भाँति शोधकों और समालोचकों को भी दो वर्गों में रखा जा सकता है : (1) वादमुक्त शोधक और समालोचक तथा (2) वादग्रस्त शोधक और समालोचक। वादमुक्त समालोचक और शोधक वादमुक्त कृतियों के साथ तो पूरा न्याय कर पाते हैं, किन्तु वादग्रस्त कृतियों की वैचारिक सीमाओं के साथ वे कोई समझौता नहीं कर पाते। इसी प्रकार वादग्रस्त शोधक और समालोचक वादग्रस्त रचनाओं की तो पूरी प्रशंसा करते हैं, किन्तु वादमुक्त कृतियों के साथ वे न्याय नहीं

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कर पाते।

5.4.7.1. अन्तरविद्यावर्ती शोध के आयाम

साहित्य के किसी क्षेत्र या कृति का किसी साहित्येतर दृष्टि या शास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन ही अन्तरविद्यावर्ती शोध है। अन्तरविद्यावर्ती शोध किसी एक शास्त्र की दृष्टि से भी किया जा सकता है और अनेक शास्त्रों की दृष्टि से भी। दो साहित्य-क्षेत्रों या कृतियों का किसी एक शास्त्रीय दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन भी किया जा सकता है। इस प्रकार अन्तरविद्यावर्ती शोध के निम्नलिखित तीन प्रमुख आयाम हैं :

(1) **एक शास्त्र-केन्द्रित अन्तरविद्यावर्ती शोध :** यों तो शास्त्रों की संख्या एक दर्जन से भी अधिक है, किन्तु सभी शास्त्र साहित्य की प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं। अन्तरविद्यावर्ती शोध के प्रमुख आधार हैं सौन्दर्यशास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास, दर्शन और समाजशास्त्र। इनमें से किसी एक शास्त्र की दृष्टि से किसी उपयुक्त कृति का अध्ययन किया जा सकता है, यथा :

(क) घनानन्द के काव्य का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन।

(ख) अज्ञेय के कथा-साहित्य का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन।

(ग) वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों का ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन।

(घ) कामायनी का दार्शनिक अध्ययन।

(ङ) गोदान का समाजशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन।

(2) **बहुशास्त्र-केन्द्रित अन्तरविद्यावर्ती शोध :** साहित्य को परखने की विशिष्ट अवधारणाएँ अपने संश्लिष्ट स्वरूप के कारण ही अन्तरविद्यावर्ती हैं, अर्थात् उनमें अनेक दृष्टियाँ समन्वित रहती हैं। उदाहरण के लिए संस्कृति की अवधारणा में नीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, पुराण, भक्ति, मनोविज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र, समाजशास्त्र आदि की मूल चेतना समाहित रहती है। 'सांस्कृतिक अध्ययन' नाम से किये गये शोध-कार्य मूलतः कृतिगत विविध बोधों और उनकी संश्लिष्टता के अनुशीलन को ही अपना लक्ष्य मानकर चले हैं। यही बात 'चिन्तन' पर भी लागू होती है। किसी कृति में निहित 'चिन्तन' का अध्ययन करने की स्थिति में शोधक को कृतिगत सभी प्रकार के चिन्तनों को अपने अध्ययन की परिधि में ग्रहण करना होगा। यथा :

(क) रामचरितमानस का सांस्कृतिक दृष्टि से अध्ययन : इस विषय के प्रतिपादन में नीति, भक्ति, दर्शन, पौराणिकता और अवतारवाद, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र आदि को आधार बनाना होगा।

(ख) कामायनी का चिन्तन-पक्ष : इस विषय के निरूपण में दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक,

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नीतिशास्त्रीय, समाजशास्त्रीय, राजनीतिशास्त्रीय, सौन्दर्यशास्त्रीय, वैज्ञानिक और भौतिकतावादी आदि चिन्तन-दृष्टियों को आधार बनाना होगा।

(3) **तुलनात्मक अन्तरविद्यावर्ती शोध :** यों तो संस्कृति और चिन्तन के आधार पर भी दो कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है, किन्तु बहुशास्त्र-केन्द्रित होने के कारण ऐसा अध्ययन शोधक के लिए बहुत भारी पड़ता है। तुलना के लिए एकशास्त्रीय दृष्टि ही पर्याप्त है। यथा :

(क) सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से उर्वशी और कनुप्रिया का तुलनात्मक अध्ययन।

(ख) समाजशास्त्रीय दृष्टि से रामचरितमानस और साकेत का तुलनात्मक अध्ययन।

5.4.7.2. अन्तरविद्यावर्ती शोध की प्रविधि

साहित्यिक शोध में किसी भी प्रविधि को यान्त्रिक रूप में लागू नहीं किया जा सकता। प्रत्येक शोध-प्रविधि अपनी नमनीयता के कारण शोधक और शोध-विषय की प्रविधि के अनुरूप ढल जाती है। अतः यहाँ अन्तरविद्यावर्ती शोध के विविध रूपों या आयामों की प्रविधि के सम्बन्ध में कुछ सामान्य निर्देशक तत्त्वों की ओर ही संक्षेप में संकेत किये जा रहे हैं।

(1) सौन्दर्य शास्त्रीय शोध : 'सौन्दर्यशास्त्र' शब्द अंग्रेज़ी के 'एस्थेटिक्स' के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। सौन्दर्यशास्त्र ललित कलाओं का दर्शन होने के कारण कलादर्शन है। अतः यह दर्शनशास्त्र की भाँति तर्कबद्ध और यान्त्रिक नहीं है। कला-दर्शन के रूप में यह साहित्य की प्रकृति के अनुरूप है। जिस प्रकार संस्कृति के साथ विकृति जुड़ी है, उसी प्रकार सुन्दरता के साथ असुन्दरता। अतः सुन्दरता के आकर्षक लक्षणों के साथ ही असुन्दर पात्रों और प्रसंगों के विकर्षक और विकृत लक्षणों पर भी शोधक का ध्यान टिका रहना चाहिए। प्रत्येक बोध की भाँति सौन्दर्य-बोध भी स्थूल से सूक्ष्म की ओर उन्मुख होता है। प्रकृति-सौन्दर्य से मानवीय सौन्दर्य और फिर कला-सौन्दर्य से अग्रसर होती हुई सौन्दर्य-साधना दिव्य सौन्दर्य में परिणत होती है। सौन्दर्य-साधक कवि-काव्य कृति के रूप में सौन्दर्य-सृष्टि करता है और उसके माध्यम से अपने भावसौन्दर्य का सम्प्रेषण करता है। अतः यह भावसौन्दर्य प्रकृति, मानव, कला और दिव्यता के सभी माध्यमों से व्यक्त होता है। कृति में समग्र सौन्दर्य-स्तरों का भाषिक सम्प्रेषण होता है। अतः सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन के योजनासूत्र के क्रमिक सूत्र निम्नलिखित हो सकते हैं, जो विभिन्न अध्यायों का रूप ग्रहण करेंगे। प्रथम अध्याय में 'सौन्दर्य' और 'सौन्दर्य-शास्त्र' के स्वरूप पर सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार करना वांछनीय है। द्वितीय अध्याय में सौन्दर्यस्रष्टा कवि के परिवेश, प्रेरणा-स्रोत, मानसिकता, कृतित्व आदि का निरूपण अपेक्षित है। तृतीय अध्याय में काव्य-

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कृति में निरूपित प्रकृति के रूप, रंग, गति, गन्ध, ध्वनि, रस आदि से सम्बन्धित ऐन्द्रिय सौन्दर्य के विश्लेषण-विवेचन के उपरान्त प्रकृति में भासित मानवीय सौन्दर्य का विवेचन वांछित है, क्योंकि कवि की भावना से रंजित प्रकृति-सौन्दर्य अपनी परिणति में संस्कृति सौन्दर्य में ढल जाता है। कवि को बगुला छल-छद्म का प्रतीक प्रतीत होता है और हंस विवेक का। चतुर्थ अध्याय में मानवीय सौन्दर्य का विवेचन करते हुए आकृति-सौन्दर्य, स्वभाव-सौन्दर्य और शील-सौन्दर्य या आचार-सौन्दर्य का निरूपण अभीष्ट है। पंचम अध्याय में मानव-सर्जित कलासौन्दर्य के विवेचन में स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होते हुए वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, काव्यकला और संगीत-कला के सौन्दर्य का विवेच्य कृति में समाहित कला-प्रसंगों के परिप्रेक्ष्य में पर्यालोचन अपेक्षित है। षष्ठ अध्याय में अलौकिक या दिव्य सौन्दर्य का विवेचन अभीष्ट है। वास्तव में दिव्य सौन्दर्य भी लौकिक अर्थात् प्राकृतिक और मानवीय सौन्दर्य का ही अलौकिकीकरण है। एक फन वाला नाग लौकिक है, किन्तु सहस्र फन वाला कल्पनाप्रसूत शेषनाग अलौकिक है। दो भुजा वाला मानव लौकिक है, किन्तु चतुर्भुज विष्णु अलौकिक हैं। अनेक बार कवि को लौकिकता में ही अलौकिकता के दर्शन होते हैं। दशरथ-पुत्र राम लौकिक हैं, किन्तु शील, शक्ति और सौन्दर्य की अनुपमता के कारण वे दिव्य प्रतीत होते हैं। परिकल्पित पौराणिक पात्रों और प्रसंगों के पीछे गूढ़ मानवीय आशय निहित होते हैं। वे तथ्याश्रित न होते हुए भी सत्याश्रित और शिवाश्रित होते हैं। मानवीय सत्यों की अभिव्यक्ति में समर्थ होने के कारण ही इन पौराणिक पात्रों और प्रसंगों को इतिहास कहा जाता है, क्योंकि इनकी सार्थकता और प्रासंगिकता कालातीत होने के कारण इतिहास से भी कहीं बढ़कर है। सप्तम अध्याय में सौन्दर्य-सम्प्रेषण के भाषिक उपादानों-सादृश्य-विधान और अलंकार, बिम्ब, मानवीयकरण, प्रतीक आदि का विवेचन वांछित है। अन्त में 'उपसंहार' में समग्र अध्ययन का सार प्रस्तुत करना चाहिए।

शोधक उपर्युक्त प्रारूप को अपनी तथा विषय की अपेक्षाओं के अनुरूप परिवर्तित-परिवर्द्धित कर सकते हैं।

(2) मनोवैज्ञानिक शोध : 'मनोविज्ञान' शब्द अंग्रेज़ी के शब्द 'साइकोलॉजी' के पर्याय के रूप में व्यवहृत होता है। 'साइकोलॉजी' शब्द साइके (psyche) तथा लोगोस (logos) से मिलकर बना है। साइके का अर्थ है मन और लोगास का अर्थ है नियम। इस प्रकार साइकोलॉजी मन की गतिविधियों और उनके प्रेरक प्रभावों का अध्ययन करने वाला विज्ञान है। 'मनोविज्ञान की ऐतिहासिक रूपरेखा' ग्रन्थ के प्रणेता डॉ. सीताराम जायसवाल के अनुसार पाश्चात्त्य देशों में साइकोलॉजी शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग सत्रहवीं शती में हुआ। आस्ट्रिया के मनोरोग-विशेषज्ञ और मनोविश्लेषण-

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शास्त्री सिगमण्ड फ्रायड (1856–1939 ई.) ने मनोविश्लेषण-शास्त्र के रूप में मनोवैज्ञानिक चिन्तन को उत्कर्ष पर पहुँचाया। फ्रायड ने मन (psyche) की तीन परतों अचेतन (unconscious), अवचेतन (sub-conscious) तथा चेतन (conscious) का निरूपण किया है। अचेतन मन असंख्य कामेच्छाओं का रहस्यमय, असंयत, उन्मुक्त भण्डार है। अवचेतन मन अचेतन और चेतन के मध्य में सीमान्त क्षेत्र है। इस पर अचेतन मन और चेतन मन – दोनों की ओर से आक्रमण होते रहते हैं। यही वह क्षेत्र है, जहाँ अचेतन की उन्मुक्त कामेच्छाएँ (sexual desires) बलपूर्वक, घुसपैठ करती हैं। यही चेतन मन उन घुसपैठ करने वाली उच्छृंखल और मनचली कामेच्छाओं पर धावा बोल देता है और उन्हें अनुशासित करके सामाजिक मर्यादा का पाठ पढ़ाता है। यदि चेतन मन अचेतन की इन असंयत कामेच्छाओं पर अधिक हावी और प्रभावी होकर उन्हें दमित कर देता है, तो ये व्यक्ति-मन में अनेक कुण्ठाओं को जन्म देती हैं और इन दमित वासनाओं के कारण व्यक्ति मनोरोगी या विक्षिप्त हो जाता है। कई बार ये हठी, चुस्त कामेच्छाएँ चेतन मन की तनिक आंखें लगते ही स्वप्न में अपने मुक्त रूप में प्रकट होती हैं। इसलिए स्वप्न-विश्लेषण (Dream-Analysis) के माध्यम से दमित कामेच्छाओं का पता लगाकर मनोरोगियों की चिकित्सा की जाती है। संकोच, लज्जा, तनाव, लोक-निन्दा से बचने के उद्देश्य से व्यक्ति अपनी दमित कामेच्छाओं को भिन्न स्तर पर रूप बदलकर कविता, कला, भक्ति, रहस्यानुभूति, चुटकले (Jokes) आदि के माध्यम से व्यक्त करने का अनूठा मार्ग खोजता है। उदाहरण के लिए अपने प्रेम-प्रसंगों को शृंगारिक कहानी या कविता लिखकर व्यक्त करना ऐसा ही परोक्ष मार्ग है। कामेच्छाओं को सामाजिक दृष्टि से स्वीकार्य रूप में भिन्न स्तर और माध्यम से व्यक्त करना उदात्तीकरण (Sublimation) कहलाता है। इस प्रकार पाश्चात्त्य मनोविज्ञान भी अपनी परिणति में मानसिक उत्थान और सामाजिक संस्कार की योजना प्रस्तुत करता है।

यह अत्यन्त खेद का विषय है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भी भारतीय विश्वविद्यालयों के मनोविज्ञान-विभागों में अब भी केवल पाश्चात्त्य मनोविज्ञान ही पढ़ाया जाता है। जबकि भारत में मनोविज्ञान की वैदिक काल से ही बड़ी पुष्ट और अखण्ड परम्परा रही है। ऋग्वेद में मनोवैज्ञानिक सामग्री इतनी प्रचुर है कि उस पर एक स्वतन्त्र शोध-प्रबन्ध लिखा जा सकता है। सांख्य दर्शन तो पूर्णतः मनोविज्ञान से ही सम्बन्धित है। योग-दर्शन में परामनोविज्ञान (Parapsychology) का गहन विवेचन है। उपनिषदों में समूचे दार्शनिक प्रतिपादन का आधार मनोवैज्ञानिक है, जिसका चरमोत्कर्ष गीता में देखा जा सकता है। गीता में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार,

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

राग, द्वेष, प्रकृति, गुण, श्रद्धा, हृदयदौर्बल्य, द्वन्द्व, द्वन्द्वातीत, हृदयग्रन्थि, स्थितप्रज्ञ, काम, क्रोध, मोह आदि प्रचुर मनोवैज्ञानिक शब्दावली का प्रयोग हुआ है। गीताकार जानता है कि सूक्ष्म से सूक्ष्म दार्शनिक तत्त्वों को मनोविज्ञान के स्तर पर ही बोधगम्य बनाया जा सकता है। भारतीय मनोविज्ञान दर्शन-शास्त्र के रूप में ही प्रतिपादित हुआ है और दर्शन मनोविज्ञान के रूप में निरूपित हुआ है। दर्शन मनोविज्ञानसम्मत है और मनोविज्ञान दर्शनसम्मत है। इससे दर्शन शुष्क सिद्धान्त न रह कर जीवन-दर्शन बन गया है और मनोविज्ञान को दार्शनिक दृष्टि के कारण आध्यात्मिक उत्कर्ष प्राप्त हुआ है। इसलिए गीता में मानव-स्वभाव को ही 'अध्यात्म' कहा गया है - स्वभावोऽध्यात्मुच्यते। भारतीय मनोविज्ञान में मन मूलतः आत्मस्वरूप में अधिष्ठित होने के कारण मुक्त और आध्यात्मिक है, किन्तु वही कुमतिप्रसूत अविद्या (माया) से ग्रस्त होने पर काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर नामक विकारों से ग्रस्त होकर सांसारिक आसक्तियों के पाश में बद्ध हो जाता है, किन्तु गुरु के ज्ञान से समुतिप्रसूत विद्या का प्रकाश प्राप्त होते ही वह अविद्या के बन्धन से मुक्त हो जाता है और जीवन्मुक्ति प्राप्त करके स्वच्छ, स्वस्थ, आनन्दपूर्ण जीवन व्यतीत करता है। गीता में पराजित मनोदशा से ग्रस्त, मोहपाश में जकड़ा हुआ अर्जुन भगवान कृष्ण के ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग के उद्‌बोधक सन्देश को सुनकर, अविद्याजनित मोहपाश से मुक्त होकर शक्ति के गाण्डीव को पुनः धारण करके जीवनयुद्ध में एक मनोबल-सम्पन्न योद्धा के रूप में कूद पड़ता है। वास्तव में यह दुर्बल और पराजित मनोदशा को दिया गया शक्ति-सन्देश है। इस प्रकार भारतीय मनोविज्ञान ज्ञान, भक्ति, कर्मयोग से युक्त होने के कारण अपनी परिणति में आध्यात्मिक, नैतिक और संस्कृतिमूलक है। यह लौकिक जीवन को ही दिव्यता का उत्कर्ष प्रदान करने में विश्वास करता है। यह बन्धनों के मध्य स्थित मनुष्य को उनसे ऊपर उठकर जीवन्मुक्त के रूप में सांस्कृतिक जीवन जीने की पावन प्रेरणा देता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भक्तिकालीन साहित्य भारतीय दर्शन और मनोविज्ञान से विशेष अनुप्राणित है। अतः उसका सही अध्ययन भारतीय मनोविज्ञान की कसौटी पर ही किया जाना चाहिए। हाँ, बीच-बीच में जहाँ अपेक्षित हो, पाश्चात्त्य मनोविज्ञान का भी सहारा लिया जा सकता है। इसी प्रकार आधुनिक कथा-साहित्य विशेषतः जैनेन्द्र और अज्ञेय की रचनाओं पर पाश्चात्त्य मनोविश्लेषण-शास्त्र का प्रचुर प्रभाव है। अतः ऐसे साहित्य का पाश्चात्त्य मनोविज्ञान के निकष पर ही परीक्षण-मूल्यांकन अपेक्षित है। यहाँ 'तुलसी काव्य में मनोविज्ञान' विषय की सांकेतिक रूपरेखा प्रस्तुत है। प्रमुख विचार बिन्दु ये हैं - (1) भारतीय मनोविज्ञान : विकास और स्वरूप (2) तुलसी : युग, व्यक्तित्व और कृतित्व (3) तुलसी की द्वन्द्वात्मक दृष्टि (सुमति-

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कुमति, धर्म-अधर्म, विकृति-संस्कृति का द्वन्द्व) (4) तुलसी-काव्य और मनोविज्ञान (क) रामचरितमानस का मनोविज्ञानसम्मत नामकरण (ख) रामचरितमानस का उद्देश्य : कलियुग के मानसिक विकारों का शमन और संस्कृति-निरूपण (5) तुलसी-काव्य में कुमति-निरूपण (क) अविद्या माया (ख) काम, क्रोध, लोभ आदि मानस-रोग (6) तुलसी-काव्य में सुमति-निरूपण (क) विद्या माया (ख) समता, सन्तोष, ज्ञान, भक्ति, सत्य आदि सनातन मूल्यों की स्थापना (ग) राम का सहज स्वभाव : स्वस्थ मन का आदर्श रूप (7) तुलसी-काव्य में मानसिक परिष्कार की प्रक्रिया (क) ज्ञान-दीप रूपक (ख) निर्देश और आत्म-निर्देश की प्रक्रिया (ग) भक्ति और आत्मिक परिष्कार (घ) ग्लानि और मानसिक परिष्कार (ङ) तुलसी का स्वप्न-सिद्धान्त (8) तुलसी की भाषा और मनोविज्ञान (क) तुलसी द्वारा व्यवहृत मनोवैज्ञानिक शब्दावली (ख) तुलसी की मनोवैज्ञानिक सूक्तियाँ (9) तुलसी का मनोवैज्ञानिक चिन्तन (उपसंहार)।

3 ऐतिहासिक शोध : 'इतिहास' शब्द इति+ह+आस से निर्मित है, जिसका अर्थ है, 'ऐसा हुआ था।' अतीत की घटनाओं को कालक्रम के अनुसार कारण-कार्य, शृंखला में गूँथ कर प्रस्तुत करना ही इतिहास है। इस प्रकार तथ्यात्मकता इतिहास का प्राण है, किन्तु प्रत्येक इतिहासकार अपने देश, धर्म, भाषा, स्वभाव, सोच से बँधा होने के कारण ऐतिहासिक तथ्यों को अपनी दृष्टि से प्रस्तुत करता है। सन् 1857 की क्रान्ति अंग्रेज़ इतिहासकारों के लिए 'गदर' या विद्रोह थी, वहीं भारतीयों के लिए प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम थी। फिर साहित्यकार तो पहले साहित्यकार होता है, बाद में इतिहासकार। वह तो इतिहास को अपनी दृष्टि से देखता, समझता और कई बार पुनर्निर्मित भी करता है। साहित्यकार की तथाकथित ऐतिहासिक रचनाओं में भी इतिहास रचनाकार की रचनात्मक जीवन-दृष्टि में ढल कर प्रस्तुत होता है। यद्यपि महाकवि चन्दबरदाई को ज्ञात था कि महाराज पृथ्वीराज की मृत्यु तरावड़ी के युद्ध में हो चुकी है, तथापि कवि को एक महान् राष्ट्र-नायक का ऐसे आकस्मिक अन्त को प्राप्त होना स्वीकार्य नहीं हुआ और उसने अपनी पौराणिक कल्पना से कथानायक द्वारा शब्द-वेधी वाण से शहाबुद्दीन गौरी का अन्त करके स्वयं जीवन-लीला समाप्त करने की कथा गढ़ डाली। इसी प्रकार गुरु गोबिन्द सिंह ने अपने काव्य 'कृष्णावतार' में कृष्ण की सेना में गजसिंह, नरसिंह, अडरसिंह, अमर सिंह, शक्ति सिंह आदि वीरों का नामोल्लेख किया है तो कंस की सेना में गैरता खाँ, शेर खाँ, मीरखाँ, झड़ाझड़ खाँ, दिलावर खाँ, जाहर खाँ, जाफर खाँ, अजाइब खाँ आदि वीरों का उल्लेख किया है। कवि को कृष्ण (गोविन्द) और कंस के युद्ध में स्वयं अपना धर्मयुद्ध दिखलायी पड़ रहा था, जो नितान्त सामयिक और स्वाभाविक था। डॉ. कशुन्तला गक्खड़ ने अपने

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पीएच.डी. के शोध-प्रबन्ध में इस ऐतिहासिक विसंगति को दोष न मानकर कवि और युगपुरुष गुरु गोबिन्द सिंह की धार्मिक और राष्ट्रीय परिस्थिति और मनःस्थिति के अनुरूप माना है, जो सर्वथा युक्तिसंगत है। वे लिखती हैं, 'हिन्दू और मुसलमान नामों की यह तालिका महाभारतकालीन वात्तावरण के लिए अटपटी-सी लगती है, जिस पर काल-दोष का आरोप सरलता से लगाया जा सकता है। परन्तु कवि – जो कवि से अधिक एक राष्ट्र-नायक है – के दृष्टिकोण और अभिप्राय को देखते हुए इन नामों की उपयोगिता नापी जा सकती है।' (उत्तर-मध्यकालीन हिन्दी – कृष्ण काव्य – परम्परा में गुरु गोबिन्द सिंह कृत कृष्णावतार, पृ. 78)। इसी प्रकार सूफी कवि जायसी ने पद्मावत में अलाउद्दीन और रत्नसेन के ऐतिहासिक प्रसंग को अपनी धार्मिक दृष्टि से प्रस्तुत किया है। काव्य के अन्त में वे लिखते हैं :

जोहर भई सब इस्तरी, पुरुष भए संग्राम।
बादसाह गढ़ चूरा, चितउर भा इसलाम॥

इससे स्पष्ट है कि कवियों ने जिस प्रकार पौराणिक प्रसंगों को आत्माभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है, उसी प्रकार इतिहास को भी। यह ही नहीं, उन्होंने इतिहास में कल्पना के सहारे पौराणिक उद्भावनाओं का भी समावेश किया है। कहीं-कहीं तो इतिहास को कल्पना से अलगाना अत्यन्त दुष्कर है। ऐसी स्थिति में शोधार्थी का कार्य बहुत ही कठिन हो जाता है। किन्तु कठिनाई से जूझने का अपना आनन्द भी है। शोधक की रणनीति में निम्नलिखित चार बिन्दु समाहित होने वांछनीय हैं –

(1) शोधक को इतिहास-ग्रन्थों तथा अन्य प्रमाणों के आधार पर मूल ऐतिहासिक इतिवृत्त का पता लगाना चाहिए।

(2) शोधक को रचनाकार द्वारा किये गये परिवर्तनों तथा उद्भावित प्रसंगों, पात्रों आदि की पृथक् सूची बनानी चाहिए।

(3) शोधक को कवि-कृत परिवर्तनों तथा उद्भावनाओं के औचित्य पर प्रकाश डालते हुए यह दर्शाना चाहिए कि सम्बन्धित पविर्तनों और उद्भावनाओं से कवि को अपने अभिप्रेत जीवन-दर्शन और उद्देश्य या सन्देश के सम्प्रेषण में किस सीमा तक सफलता प्राप्त हुई है।

(4) शोधक को कथावस्तु, पात्र और चरित्र-चित्रण, रस-योजना, मूल्य-बोध, काव्य-शिल्प और सम्प्रेषण आदि की दृष्टि से समूची कृति का समालोचन और मूल्यांकन करना चाहिए।

(4) दार्शनिक शोध : जब ज्ञान-विस्तार भाव-संचार का आधार बनता है, तो भाव में गम्भीरता, प्रौढ़ता और सार्वकालिकता का समावेश होता है। दर्शन स्वयं तो शास्त्र है, किन्तु भाव-संवलित और कल्पनावेष्टित होकर वह काव्योत्कर्ष का आधार

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

बनता है। हिन्दी कविता के समग्र इतिहास में भक्तिकाल और छायावाद युग काव्योत्कर्ष के दो शिखर रहे हैं। इन दोनों को ही भारत के राष्ट्रीय दर्शन, वेदान्त ने इतनी उच्चता और गहनता प्रदान की है। अतः दार्शनिक दृष्टि से काव्य का अध्ययन काव्य की प्रकृति के अनुरूप है। शर्त यही है कि काव्य में दर्शन अनुभूति का अंग बनकर प्रस्तुत हो, शुष्क सिद्धान्त के शास्त्रीय रूप में नहीं। कामायनी के दर्शन, रहस्य और आनन्द सर्ग, दर्शन के शास्त्रीय स्वरूप से आच्छन्न होने के कारण बहुत दुर्ग्राह्य और नीरस प्रतीत होते हैं। शेष सर्गों में दर्शन भावोष्मा में आवेष्टित होकर सरस एवं सुग्राह्य रूप में प्रस्तुत हुआ है।

शोधक को किसी कृति का दार्शनिक अध्ययन करते समय निम्नलिखित बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए :

(1) कवि अनुभूतिशील व्यक्ति है, कोई दर्शनशास्त्री नहीं, यह मानकर शोधक को सिद्धान्त-पक्ष प्रस्तुत करते समय सम्बन्धित दर्शन की बहुत सूक्ष्मताओं के विस्तार में नहीं जाना चाहिए, केवल दर्शन की व्यावहारिक रूपरेखा को ही ध्यान में रखना चाहिए।

(2) कवि के युग, प्रेरणा-स्रोत और व्यक्तित्व से सम्बन्धित अध्याय में कवि की दार्शनिक प्रेरणाओं, अभिरुचियों और चिन्तन पर प्रकाश डालना उपयोगी है।

(3) व्यावहारिक प्रतिपादन को दर्शन के (ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, मोक्ष आदि) विविध आयामों के अनुसार पृथक्-पृथक् अध्यायों में प्रस्तुत करना चाहिए।

(4) उपलब्ध तथ्यों के साक्ष्य के आधार पर ही दार्शनिक तत्त्वों का प्रतिपादन करना चाहिए, निराधार रूप में या खींचतान द्वारा किसी दार्शनिक तत्त्व का आरोपण नहीं किया जाना चाहिए।

(5) जो सिद्धान्त कृतिगत तथ्यों के आख्यान से उभर कर आये, उसे ही युक्तिसंगत रूप में प्रस्तुत करना चाहिए, फिर भले ही उसमें सम्बद्ध दर्शन के कुछ सूक्ष्म तत्त्वों का सामवेश होने से रह गया हो।

(6) जिन सूक्ष्म तत्त्वों का समावेश होने से रह गया है, उनका स्पष्ट उल्लेख कर देना चाहिए।

(7) समूचे उपलब्ध दार्शनिक तत्त्वों की जीवन और जगत् के सन्दर्भ में उपयोगिता, सार्थकता या प्रासंगिकता भली प्रकार विवेचित होनी चाहिए। समूचे दार्शनिक विवेचन से उपलब्ध जीवन-सत्यों, जीवन-मूल्यों और सांस्कृतिक संदेशों को संश्लिष्ट रूप में 'उपसंहार' के अन्तर्गत निरूपित करना चाहिए।

(5) समाजशास्त्रीय शोध : रचनाकार भी प्रकारान्तर से एक सजग समाजशास्त्री ही होता है। रचनाकार और समाजशास्त्री में दृष्टिकोण और पद्धति का

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ही अन्तर है। जहाँ समाजशास्त्री वस्तुनिष्ठ, वैज्ञानिक दृष्टि से समाज के व्यक्ति, परिवार, धर्म, जाति, शिक्षा, राजनीति, अर्थनीति, संस्कृति आदि से सम्बन्धित विभिन्न घटकों का बौद्धिक विवेचन करता है, वहाँ साहित्यकार सामाजिक सन्दर्भों और उनसे सम्बद्ध समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में घटित मूल्यात्मक विघटन की प्रतिक्रियास्वरूप सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा पर बल देता है। समाजशास्त्री व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक जीवन के वैवाहिक, शैक्षिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि पक्षों का वस्तुगत, वैज्ञानिक विवेचन करता है, इनसे जुड़ी समस्याओं का मन्थन करता है और उनके सम्भव समाधानों की ओर तर्कसंगत ढंग से संकेत करता है। साहित्य में सामाजिक जीवन का यथार्थ अपनी सारी विकृतियों और विसंगतियों के साथ प्रतिबिम्बित होता है। रचनाकार सामाजिक समस्याओं के समाधानों का विवेचन नहीं करते, वरन् उनकी ओर सांकेतिक या लाक्षणिक शैली में कलापूर्ण पद्धति से दिशा-निर्देश करते हैं। समाजशास्त्री सामाजिक जीवन के विविध पक्षों का बौद्धिक दृष्टि से विश्लेषण करते हैं, किन्तु साहित्यकार सामाजिक परिदृश्य का अनुभूति के स्तर पर भावन करते हैं और समाज के विकृत पक्षों के प्रति भावात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए संस्कृतिमूलक सकारात्मक जीवन-दृष्टि प्रस्तुत करते हैं।

समाजशास्त्रीय अध्ययन करते समय शोधक को सर्वप्रथम अपना सैद्धान्तिक आधार निर्मित करना चाहिए। समाज और समाजशास्त्र को परिभाषित करना प्रथम आवश्यकता है.। व्यक्ति को समाज का केन्द्र मानकर वर्तमान सन्दर्भ में व्यक्ति-जीवन के परिवेश तथा सम्बद्ध तनावों-दबावों का निरूपण आवश्यक है। परिवार को सामाजिक जीवन का प्रमुख घटक मानते हुए दाम्पत्य जीवन तथा अन्य पारिवारिक सम्बन्धों के स्वरूप पर विचार करना अपेक्षित है। इसके बाद सामाजिक जीवन की धर्म, जाति, वर्ग आदि से निर्मित संरचना के स्वरूप का अध्ययन भी अभीष्ट है। तत्पश्चात् आर्थिक जीवन से सम्बद्ध विविध धन्धों, व्यवसायों, उद्योग-धंधों तथा उनसे जुड़ी समस्याओं के विविध रूपों पर विचार वांछनीय है। इसके पश्चात् राजनीतिक पक्ष और उससे सम्बद्ध समस्यात्मक पक्षों को लेना प्रासंगिक है। इसके बाद शिक्षा, संस्कृति, कला, साहित्य, चलचित्र-जगत् आदि से सम्बद्ध नकारात्मक-सकारात्मक पक्षों को ग्रहण किया जा सकता है। सैद्धान्तिक अध्ययन के विभिन्न घटकों - वैयक्तिक जीवन, पारिवारिक जीवन, सामाजिक जीवन, शैक्षिक और सांस्कृतिक जीवन को केन्द्र में रखकर अध्येय कृति से तथ्यों का अध्यायगत आधार पर वर्गीकृत रूप में संकलन करना चाहिए। अध्यायों के लेखन में सम्बद्ध तथ्यों का विवेकपूर्वक विवेचन शोधक की मनीषा और अन्तर्दृष्टि पर निर्भर करेगा। मनीषा और अन्तर्दृष्टि का स्तर ही शोध-प्रबन्ध की प्रबन्धात्मकता के स्तर को निर्धारित करने

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वाला आधारभूत तत्त्व है। शोधक की उच्चस्तरीय मनीषा ही विवेच्य साहित्यिक कृति में निहित साहित्यकार की मनीषा के सूक्ष्म मन्तव्यों का सम्यक् साक्षात्कार करने में समर्थ और सफल सिद्ध होती है।

(6) सांस्कृतिक शोध : 'संस्कृति' शब्द सम् उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु में क्तिन् प्रत्यय लगने से निर्मित होता है। इसका अर्थ है संस्कार या परिष्कार की क्रिया। तन, मन और आचरण – इन तीन शब्दों में व्यक्ति और समाज का जीवन समाहित रहता है। अतः यह परिष्कार की प्रक्रिया मुख्यतः शारीरिक, मानसिक और आचारिक स्तरों पर घटित होती है। स्वस्थ मन से स्वस्थ तन को पवित्र आचरण की ओर प्रेरित करने की प्रक्रिया ही संस्कृति है। अतः तन, मन और आचरण को स्वस्थ और स्वच्छ बनाने वाली सारी चिन्तन-पद्धतियाँ और क्रिया-प्रक्रियाएँ संस्कृति की परिधि में समाहित हैं। तन की शुद्धता और नीरोगता के लिए व्यायाम, योग-पद्धति, विभिन्न चिकित्सा-पद्धतियाँ आवश्यक हैं। इस प्रकार योग और चिकित्सा-शास्त्र भी संस्कृति के विधायक अवयव हैं। मानसिक परिष्कार के लिए शिक्षा, नैतिकता, दर्शन तथा धार्मिक और पौराणिक आख्यानों की आवश्यकता है। अतः शिक्षाशास्त्र, नीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र और पुराण भी संस्कृति के विधायक उपादान हैं। तन-मन की शुद्धता से आचरण स्वतः ही शुद्ध हो जाता है। इस प्रकार सांस्कृतिक अध्ययन एक अन्तरविद्यावर्ती अनुशीलन है, जिसके प्रमुख घटक हैं योग और आरोग्यविज्ञान या चिकित्साशास्त्र, नीतिशास्त्र, दर्शन, पौराणिकता, शिक्षा-शास्त्र आदि। मनोविज्ञान, साहित्य और विविध ललित कलाएँ भी मानसिक संस्कार-परिष्कार में सहायक हैं। अतः मनोविज्ञान, साहित्य और सौन्दर्यशास्त्र को भी संस्कृति के घटकों में समाहित करना समीचीन है। राजनीति-अर्थनीति आदि को नीतिशास्त्र में ही समाहित किया जा सकता है। इस प्रकार संस्कृति में तन, मन और आचरण के परिष्कार से सम्बन्धित सभी आधारभूत एवं सारसम्पन्न, ऊर्ध्वमुखी प्रक्रियाएँ, पद्धतियाँ और गतिविधियाँ समाविष्ट हैं।

साहित्यिक कृति के सांस्कृतिक शोधक को सर्वप्रथम संस्कृति की परिभाषा और स्वरूप पर विचार करते हुए संस्कृति के विविध उपादानों – नीति, दर्शन, धर्म और पौराणिकता, शिक्षा, मनोविज्ञान, साहित्य, सौन्दर्यशास्त्र आदि को लेकर एक सैद्धान्तिक पृष्ठाधार प्रस्तुत करना चाहिए। तत्पश्चात् संस्कृति के विविध घटकों को केन्द्र में रखकर प्रत्येक घटक पर पृथक्-पृथक् अध्याय लिखने चाहिए। उदाहरणार्थ 'कामायनी का सांस्कृतिक अध्ययन' विषय के प्रतिपादनार्थ निम्नलिखित अध्याय अपेक्षित होंगे :

(1) जयशंकर प्रसाद : युग, व्यक्तित्व और कृतित्व

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(2) संस्कृति : परिभाषा और स्वरूप

(3) कामायनी में दर्शन

(4) कामायनी में नीति, राजनीति और अर्थनीति

(5) कामायनी में धार्मिक और पौराणिक तत्त्व

(6) कामायनी में मनोविज्ञान

(7) कामायनी में सौन्दर्यनिरूपण

(8) कामायनी में योग, शिक्षा, साहित्य और कलाएँ

(9) उपसंहार।

अन्तरविद्यावर्ती शोध से सम्बन्धित उपर्युक्त समग्र विवेचन से स्पष्ट है कि इस प्रकार के शोध से साहित्य की सर्वांगीणता का बोध उभरकर सामने आया है। साहित्य में ज्ञान–विज्ञान अपनी सैद्धान्तिक सीमाएँ त्याग कर भावोष्मा में विगलित हो संवेदना-संवलित रूप में कलात्मक और रसात्मक रूप में अभिव्यक्त होते हैं। अन्तरविद्यावर्ती शोध ने साहित्यिक शोध को बहुमुखी और बहुआयामीय स्वरूप प्रदान करने में महान् योग दिया है। साहित्य के अखण्ड एवं सर्वसमावेशी स्वरूप के सम्यक् उद्घाटन के लिए अन्तरविद्यावर्ती शोध निश्चय ही विशेष उपादेय और महत्त्वपूर्ण है।



CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अध्याय - 6

शोध-पद्धतियाँ

मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है। वह विवेक का सम्यक् उपयोग करते हुए एक उद्देश्यपूर्ण और सार्थक जीवन जीना चाहता है। जीवन की सार्थकता निष्क्रियता में नहीं, सक्रियता में है। निष्क्रियता अगति या दुर्गति की जननी है, सक्रियता गतिशीलता का स्रोत है। यह गतिशीलता विकास, समुन्नति या उत्कर्षोन्मुखता का ही पर्याय है। सक्रियता के लिए कर्म आवश्यक है। कर्म की लक्ष्यनिष्ठता और सफलता के लिए कर्म में कौशल या दक्षता अपेक्षित है। गीता में कर्म-कौशल को ही योग कहा गया है - 'योग : कर्मसु कौशलम्'। बुद्धि, निष्ठा और क्रिया के योग से सही और लक्ष्योन्मुख जीवन पद्धति का विकास होता है। इस प्रकार पद्धति एक ऐसा साधन, उपाय या मार्ग है, जिसके अनुसरण से साधक की बौद्धिक, नैष्ठिक एवं क्रियात्मक शक्तियाँ समन्वित होकर उसे अभीष्ट लक्ष्य या साध्य तक पहुँचा देती हैं। जिस प्रकार एक सफल और सार्थक जीवन जीने के लिए सुविचारित, सुनिश्चित जीवन-पद्धति आवश्यक है, उसी प्रकार एक सफल और सार्थक तथा उपलब्धिपूर्ण शोध के लिए एक विषयानुरूप, सही और सुनिर्धारित शोध-पद्धति की आवश्यकता है। जिस प्रकार अलग-अलग विचार, व्यवसाय और निष्ठा वाले व्यक्तियों की जीवन-पद्धति में भिन्नता स्वाभाविक है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न क्षेत्र और प्रकृति के शोध-विषयों के लिए भिन्न-भिन्न शोध-पद्धतियों के अनुसरण की आवश्यकता पड़ती है।

जिस प्रकार किसी विशेष व्यक्ति के सफल या असफल जीवन पर दृष्टिपात करने से उसकी उचित या अनुचित जीवन पद्धति का बोध हो जाता है, उसी प्रकार किसी शोध-प्रबन्ध के स्वरूप पर दृष्टिपात करते ही पता चल जाता है कि उसने

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

किसी उपयुक्त शोध-पद्धति का अनुसरण किया है अथवा नहीं। शोध-प्रबन्ध का अनियन्त्रित, अव्यवस्थित, अति विस्तृत कलेवर, असम्बद्ध, तर्कहीन, तथ्यहीन, विवेचन, मनमाने निष्कर्ष, ऊहात्मक या भावावेशपूर्ण शैली, विचारों की अस्पष्टता आदि विसंगतियों से तत्काल ज्ञात हो जाता है कि शोध-प्रबन्ध के लेखन में किसी सुविचारित पद्धति के अनुसरण के अभाव के कारण न तो शोध के गुणों का समावेश हो पाया है और न ही उसमें अन्वितिमूलक प्रबन्धात्मकता का ही गुण कहीं दिखलायी पड़ता है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि शोध-प्रविधि के अनुसरण के अभाव से असम्बद्धता, अनिश्चितता, अस्पष्टता, अप्रामाणिकता, व्यक्तिनिष्ठता, तर्कहीनता, तथ्यहीनता आदि अनेक दोष आ जाते हैं तथा शोध-प्रविधि के सम्यक् अनुसरण से सुसम्बद्धता, सुनिश्चितता, स्पष्टता, प्रामाणिकता, वस्तुनिष्ठता, युक्तियुक्तता, तत्थात्मकता आदि अनेक गुणों का सन्निवेश होता है। इससे शोध-पद्धति के उपयोग और महत्त्व को सहज ही आँका जा सकता है।

वास्तव में क्रमबद्धता से ही चिन्तन में विकासोन्मुख अन्विति या सम्बद्धता आती है। चिन्तन तथ्यों की क्रमबद्ध पटरी पर दौड़ता है। इसी से उसमें एकसूत्रता आती है। तथ्यों की क्रमबद्धता ही वैचारिक अन्विति या सूत्रबद्धता का मूल स्रोत है। अतः सामान्य शोध-प्रविधि में तथ्यों को क्रमबद्ध रूप में उद्धृत करना तथा उन पर उद्धरण की संख्या अंकित करके नीचे पादटिप्पणी में सन्दर्भोल्लेख करते चलना आवश्यक है। कलेवर में सन्दर्भ-संख्या अंकित करना और नीचे पादटिप्पणी में सन्दर्भोल्लेख करना सामान्य शोध-पद्धति की आवश्यक तकनीकें हैं। प्रविधि या पद्धति का यह तकनीकी पक्ष जितना व्यवस्थित और वस्तुनिष्ठ होगा, शोध-पद्धति उतनी ही वैज्ञानिक और युक्तिसंगत होगी। तथ्यों को उपर्युक्त तकनीकों के माध्यम से क्रमिक रूप में प्रस्तुत किया जाता है, फिर उन तथ्यों से स्थूल सूचना (विहित अर्थ) तथा सूक्ष्म भाव या विचार (निहित अर्थ) को प्राप्त करते हुए सम्यक् ज्ञान-प्राप्ति के लिए तथ्याख्यान करना भी एक तकनीक है। तथ्याख्यान सही स्थान पर उचित अध्याय के अभीष्ट उपशीर्षक के अन्तर्गत ही हो, इसके लिए तथ्यों का वर्गीकरण प्राथमिक आवश्यकता है। यह वर्गीकरण भी एक तकनीक है। इस प्रकार सामान्य शोध-पद्धति या प्रविधि में अनेक तकनीकें परस्पर गुम्फित रहती हैं। स्पष्ट है कि शोध-पद्धति परस्पर गुम्फित अनेक तकनीकों और उपतकनीकों की संश्लिष्ट व्यवस्था है, जिसके सजगतापूर्वक अनुसरण से शोध-कार्य सुसम्बद्ध और योजनाबद्ध रूप में सम्पन्न करने में शोधक को विशेष सुविधा रहती है और उसके शोध-कौशल में अद्भुत अभिवृद्धि होती है। साहित्य के सन्दर्भ में वैज्ञानिक शोध-प्रविधि का आशय है प्रविधि की व्यावहारिक युक्तियुक्तता और तर्कसंगति। श्री जी.ए. लुण्डबर्ग

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(G. A. Lundberg) के अनुसार 'व्यापक अर्थ में वैज्ञानिक प्रविधि में तथ्यों का व्यवस्थित निरीक्षण, वर्गीकरण और निर्वचन या आख्यान समाहित है। (...broadly speaking scientific method consists of systematic observation and interpretation of facts.)।

शोध का लक्ष्य है किसी निश्चित विषय से सम्बन्धित तथ्यों के आधार पर तत्त्वों या निष्कर्षों तक पहुँचना तथा भ्रान्तियों का निराकरण। इस पूरी प्रक्रिया में तथ्यों का संग्रह, तथ्यों की परख और प्रमाणीकरण, तथ्यों का वर्गीकरण, तथ्याख्यान या तत्त्वों का विश्लेषण-विवेचन, निष्कर्षण आदि स्थूल और सूक्ष्म क्रियाएँ समाविष्ट रहती हैं। विभिन्न शोध-प्रविधियाँ शोधगत इन्हीं क्रिया-प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में शोधकों की सहायता करती हैं। अपने तकनीकी स्वरूप की भिन्नता के कारण कोई प्रविधि सामग्री-संकलन या तथ्यानुसन्धान में विशेष सहायक सिद्ध होती है तो कोई अन्य प्रविधि तथ्याख्यान में विशेष उपयोगी सिद्ध होती है। किसी पद्धति का उपयुक्त व्यवहार-क्षेत्र तथ्य-संकलन है, किसी का विश्लेषण-विवेचन की दृष्टि, किसी का तथ्याख्यान की प्रणाली तो किसी का दृष्टि-निरपेक्ष अध्ययन। साहित्यिक शोध से सम्बन्धित प्रचलित पद्धतियों को उपर्युक्त आधार पर चार वर्गों में रखा जा सकता है :

(1) **सामग्री-संकलन केन्द्रित पद्धति :** इसके अन्दर 'क्षेत्रीय अध्ययन पद्धति' आती है।

(2) **तथ्याख्यान-केन्द्रित पद्धति :** इसके अन्तर्गत दो पद्धतियाँ परिगणित हैं : (क) निगमन-पद्धति तथा (ख) आगमन-पद्धति।

(3) **शोध-दृष्टि-केन्द्रित पद्धति :** इसके अन्दर तीन पद्धतियाँ समाविष्ट हैं : (क) आलोचनात्मक पद्धति (ख) समस्यामूलक पद्धति (ग) वर्गीय अध्ययन पद्धति।

(4) **दृष्टि-निरपेक्षता-केन्द्रित पद्धति :** इसके अन्दर दो पद्धतियाँ सम्मिलित हैं : (क) सर्वेक्षण-पद्धति (ख) तुलनात्मक पद्धति।

यहाँ उपर्युक्त पद्धतियों का संक्षिप्त विवेचन प्रासंगिक होगा।

6.1. क्षेत्रीय अध्ययन-पद्धति

समाजशास्त्रीय विषयों से सम्बन्धित शोध-कार्य में क्षेत्रीय अध्ययन (field-work) की विशेष आवश्यकता पड़ती है। अब इसकी उपयोगिता और महत्त्व को समझकर साहित्यिक शोध में भी इसका प्रचलन बढ़ता जा रहा है। लोक-साहित्य के

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अध्ययन के लिए तो यह सर्वोत्तम पद्धति के रूप में अपनी उपयोगिता प्रमाणित कर चुकी है। लोकगीतों, लोककथाओं, लोकोक्तियों, लोक-रीतियों, लोक-पर्वों से सम्बन्धित लोकतात्त्विक और लोकसांस्कृतिक सामग्री का संकलन तो सम्बन्धित अंचल या क्षेत्र के स्त्री-पुरुषों, लोककलाकारों आदि से प्रत्यक्ष सम्पर्क साधे बिना सम्भव ही नहीं है। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से किसी लोकभाषा या बोली की ध्वनियों, वाक्य-रचना आदि के अध्ययन के लिए क्षेत्रीय अध्ययन-पद्धति नितान्त उपयोगी है। परिनिष्ठित साहित्य के शोध-कार्य में भी इसका आनुषंगिक रूप में उपयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए किसी जीवित महाकवि या उपन्यासकार के साहित्य में सांस्कृतिक चेतना का अनुसन्धान करने वाले शोधक को उसकी दार्शनिक मान्यताओं, धार्मिक आस्थाओं, नैतिक अवधारणाओं आदि के सम्बन्ध में उपस्थित उलझनों के निराकरण के लिए उस महाकवि या उपन्यासकार से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित करने से निश्चय ही विशेष लाभ होता है। यों तो प्रत्यक्ष साक्षात्कार ही अधिक व्यावहारिक और तुष्टिकारक पद्धति है, किन्तु इसमें समय भी अधिक लगता है और व्यय भी अधिक होता है। अतः सम्पर्क-साधन के लिए अन्य वैकल्पिक विधि है पत्राचार या प्रश्नावली-पद्धति। यहाँ इन दोनों विधियों पर संक्षेप में विचार करना उपयोगी होगा।

6.1.1. साक्षात्कार विधि

क्षेत्रीय शोध के लिए साक्षात्कार-विधि सर्वाधिक अनुकूल है, क्योंकि इसमें साक्षर और निरक्षर सभी प्रकार के व्यक्तियों के मन्तव्यों को लिखित रूप में या टेप द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। साक्षात्कार से पूर्व साक्षात्कारकर्त्ता को आवश्यक तैयारी कर लेनी चाहिए। उसे ज्ञात होना चाहिए कि शोध-विषय के किन-किन पक्षों के सम्बद्ध में क्या-क्या आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त करनी हैं। उसे अनावश्यक और अप्रासंगिक वार्त्तालाप में संलिप्त होने से बचना चाहिए। इसके लिए उसे साक्षात्कार से पूर्व आवश्यक प्रश्नों की एक तालिका तैयार कर लेनी चाहिए। साक्षात्कारकर्त्ता को उत्तरदाता की सुविधा, योग्यता, मनोदशा आदि का ध्यान रखकर सौहार्दपूर्ण वातावरण में साक्षात्कार आयोजित करना चाहिए। प्रश्न-तालिका की निर्मिति में निम्नलिखित बातों का ध्यान आवश्यक है :

(1) प्रश्नों की भाषा अस्पष्ट न होकर सुबोध और स्वच्छ होनी चाहिए।
(2) प्रश्न अधिक लम्बे न होकर संक्षिप्त और विषय-केन्द्रित होने चाहिए।
(3) प्रश्नों को एक व्यवस्थित क्रम में प्रस्तुत किया जाये, जिससे उत्तरों के रूप में प्राप्त सामग्री स्वयं ही क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित होती चले।
(4) प्रश्न परस्पर सम्बन्धित होने चाहिए। वे एक-दूसरे के पूरक हों। प्रश्न में से

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रश्न निकलता चलना चाहिए।

(5) प्रश्नों के साथ अन्य उपप्रश्न भी पूछे जा सकते हैं, जिससे विषय के बारे में सारी जिज्ञासाओं का शमन हो सके।

6.1.2. प्रश्नावली पद्धति

वास्तव में प्रश्नावली-पद्धति साक्षात्कार-विधि का ही भिन्न रूप है। साक्षात्कार विधि की जटिलताओं से बचने के लिए प्रायः प्रश्नावली-पद्धति का प्रश्रय लिया जाता है। प्रश्नावली विषय की अपेक्षाओं के अनुरूप चुने गये प्रश्नों की तालिका है, जिसे डाक द्वारा या अन्य माध्यम से उत्तरदाता/उत्तरदाताओं के पास शोध-विषय से सम्बन्धित जानकारियाँ प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रेषित किया जाता है। शोधक को प्रश्नावली तैयार करने से पूर्व अपने निर्देशक तथा अन्य विशेषज्ञों से सम्यक् विचार-विमर्श कर लेना चाहिए। प्रश्नों की निर्मिति में उन सब बातों का ध्यान रखा जाना आवश्यक है, जिनका उल्लेख पहले ही साक्षात्कार-विधि में किया गया है। प्रश्न स्पष्ट, सुबोध, क्रमबद्ध, संख्या में सीमित, संक्षिप्त, विषय-केन्द्रित, परस्पर पूरक तथा विषय के सभी पक्षों को ध्यान में रखकर निर्मित किये जाने चाहिए। उत्तरदाता के प्रत्यक्ष उपस्थित न होने के कारण प्रश्नावली-पद्धति की अनेक सीमाएँ भी हैं। अपनी-अपनी परिस्थितियों - मनःस्थितियों से आबद्ध होने के कारण सभी उत्तरदाता प्रश्नों के उत्तर देने में समान उत्साह और अभिरुचि का परिचय नहीं दे पाते। अतः प्रश्नावली के साथ ऐसे शिष्टाचारपूर्ण सहगामी पत्र की महती आवश्यकता है, जो शोध-कार्य के महत्त्व और उद्देश्य की महत्ता को रेखांकित करने के साथ ही उत्तरदाताओं को पूछे गये प्रश्नों के अपेक्षा के अनुरूप सटीक उत्तर देने के लिए प्रेरित एवं प्रोत्साहित कर सके। प्रश्नों के उत्तरों के प्रारूप में समरूपता लाने के लिए सहगामी पत्र में उत्तरदाताओं के लिए संक्षिप्त दिशानिर्देश भी दिये जा सकते हैं। अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी होते हुए भी प्रश्नावली-पद्धति में निम्नलिखित दोष हैं :

(1) इस पद्धति का उपयोग अशिक्षित स्रोत-व्यक्तियों से सामग्री प्राप्त करने में नहीं किया जा सकता। सुशिक्षित व्यक्ति ही प्रश्नों के उपयुक्त उत्तर दे सकते हैं।

(2) जिस प्रकार साक्षात्कार-विधि में आवश्यकता के अनुरूप अनेक प्रश्न, उपप्रश्न पूछे जा सकते हैं तथा अस्पष्टता की स्थिति में उत्तरदाता से स्पष्टीकरण के लिए अनुरोध किया जा सकता है, वैसी सुविधा प्रश्नावली-पद्धति में सम्भव नहीं है।

(3) यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि कोई भी साहित्यकार अपने विषय में सूचना देते

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

समय पूर्णतः तटस्थ और निस्संग नहीं रह सकता। ऐसी स्थिति में उसके द्वारा दिये गये उत्तरों की प्रामाणिकता सन्देह के घेरे में आ जाती है।

(4) अधिकतर स्थितियों में उत्तरदाता उदासीन रहते हैं। वे या तो उत्तर देते ही नहीं अथवा देते भी हैं तो अत्यन्त संक्षिप्त, अस्पष्ट और उलझे हुए। कुछ का तो लेख भी सुवाच्य नहीं होता।

उपर्युक्त क्षेत्रीय अध्ययन-पद्धति मुख्यतः सामग्री-संकलन केन्द्रित है। तथ्याख्यान-केन्द्रित पद्धतियाँ दो हैं निगमन-पद्धति तथा आगमन-पद्धति।

6.2. निगमन-पद्धति (Deductive Method)

सारा ज्ञान मूर्त और अमूर्त, सगुण और निर्गुण, स्थूल और सूक्ष्म अथवा तथ्य और तत्त्व (सत्य) के मध्य संचरणशील है। तर्क-पद्धति या तो चिन्तन को तथ्यों से तत्त्व की ओर ले जाती है अथवा तत्त्व से तथ्यों की ओर। तत्त्व या सामान्य सत्य से तथ्य की ओर ले जाने वाली तर्क-पद्धति को निगमन-पद्धति कहा जाता है और तथ्यों से सामान्य तत्त्व या सत्य या निष्कर्ष की ओर ले जाने वाली तर्क-पद्धति को आगमन-पद्धति के नाम से अभिहित किया जाता है। भारत में ये दोनों पद्धतियाँ सत्यानुसन्धान के क्षेत्र में परम प्राचीन काल से प्रचलित रही हैं। वैदिक ऋषि ब्रह्मद्रष्टा या सत्यद्रष्टा के रूप में आत्मनिष्ठ (Subjective) चिन्तन की निगमात्मक-पद्धति का आश्रय लेते थे। अतः वैदिक ग्रन्थों को 'आगम-ग्रन्थ' कहा जाता है। इसकी प्रतिक्रिया में मनस्वी, प्रबुद्ध मुनियों की परम्परा विकसित हुई, जो वस्तुनिष्ठ (Objective) तर्क-पद्धति या आगमन-पद्धति में आस्था रखते थे। इसीलिए जैन और बौद्ध मुनियों के ग्रन्थों को 'आगम-ग्रन्थ' कहा जाता है।

यहाँ पहले निगमन-पद्धति के स्वरूप पर प्रकाश डालना उपयुक्त होगा। निगमन-पद्धति के द्वारा सामान्य सत्य या तत्त्व के आधार पर तर्कसम्मत ढंग से विशेष तथ्य को प्राप्त किया जाता है। इस पद्धति को सकारात्मक-नकारात्मक दोनों रूपों में समझा जा सकता है। सकारात्मक निगमन-तर्क-पद्धति का तार्किक क्रम इस प्रकार होगा :

(1) सभी मनुष्य मरणशील हैं। (आधारभूत सामान्य तत्त्व-कथन)
(2) गिरीश मनुष्य है। (विशष से सम्बन्धित उपकथन)
(3) अतः गिरीश भी मरणशील है। (निगमन)

नकारात्मक तार्किक क्रम इस प्रकार होगा :

(1) मछलियाँ अण्डे देती हैं। (आधारभूत सामान्य तत्त्व कथन)
(2) मगरमच्छी अण्डे नहीं देती। (विशेष से सम्बन्धित उपकथन)

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(3) अतः मगरमच्छी मछली नहीं है। (निगमन)

सामान्य से विशेष, सूक्ष्म से स्थूल, समष्टि से व्यष्टि, तत्त्व से तथ्य की ओर उन्मुख यह निगमन-पद्धति दार्शनिक चिन्तन के लिए सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि प्रत्येक दार्शनिक चिन्तन एक सर्वमान्य दृष्टि-बिन्दु को ही प्रस्थान-बिन्दु मानकर चलता है। वेदान्त ब्रह्म को, मार्क्सवाद अर्थ को, फ्रायडवाद काम को जीवन और जगत् का आधार मानता है। तत्त्व से तथ्य की ओर उन्मुख इस निगमन-पद्धति का साहित्यिक शोध और समालोचना में भी उपयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित वाक्यों में इसी निगमन-तर्क-पद्धति का उपयोग किया गया है :

1. भक्तिकाल के कवि दिव्य सत्ता के प्रति आस्थावान् और आध्यात्मिक हैं। (आधारभूत सामान्य तत्त्व)
2. तुलसी भक्तिकाल के कवि हैं। (विशेष से सम्बन्धित कथन)
3. अतः तुलसी भी दिव्य सत्ता के प्रति आस्थावान् और आध्यात्मिक हैं। (निगमन)

6.3. आगमन-पद्धति (Inductive Method)

निगमन-तर्क-पद्धति के विपरीत, विशेष तथ्यों के आधार पर सामान्य सिद्धान्त या निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए आगमन-पद्धति का उपयोग किया जाता है। यह पद्धति दार्शनिक न होकर पूर्णतः वस्तुनिष्ठ, तर्कसम्मत और वैज्ञानिक है। यह तथ्याश्रित है। जब अनेक तथ्यों में समान तत्त्व के दर्शन होते हैं तो सामान्यीकरण (Generalization) के आधार पर एक सिद्धान्त का निर्माण होता है। स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त अनेक तथ्यों के सूक्ष्म निरीक्षण-परीक्षण से प्राप्त निष्कर्ष होता है। उदाहरण के लिए जब महान् वैज्ञानिक न्यूटन ने अनेक पदार्थों को ऊपर से नीचे गिरते देखा तो वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि धरती की आकर्षण-शक्ति के कारण ही प्रत्येक वस्तु आकाश से धरती पर गिरती है। बाद में इसे ही उसने 'आकर्षण-शक्ति-सिद्धान्त' के रूप में स्थापित किया। फिर उसने यह भी देखा कि एक ही वस्तु को थोड़ी ऊँचाई से गिराने पर वह कम वेग से धरती पर गिरती है तथा अधिक ऊँचाई से गिराये जाने पर अधिक वेग से धरती पर गिरती है। निरीक्षण के आधार पर वह इस निष्कर्ष पर भी पहुँचा कि एक ही ऊँचाई से कम और अधिक भार वाली वस्तुएँ एक साथ गिराये जाने पर अधिक भार वाली वस्तु तीव्रतर वेग से शीघ्रतर धरती पर पहुँचती है और कम भार वाली वस्तु धीमे वेग से अधिक समय में धरती का स्पर्श करती है। इस प्रकार उसने आकर्षण-शक्ति-सिद्धान्त के कई पक्षों के विषय में उपसिद्धान्त भी स्थापित किये।

यह पद्धति वैज्ञानिक होने के कारण साहित्यिक शोध पर नितान्त वैज्ञानिक रूप

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

में तो नहीं लागू की जा सकती, किन्तु इसमें तथ्यों में निहित सत्यों तक तर्कसम्मत रूप में पहुँचने की वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया निहित है, जो साहित्य के अध्ययन में निश्चय ही अत्यन्त उपादेय है। बिहारी के दोहों में क्रियाओं के प्रयोग की बहुलता को देखकर यह सामान्य सिद्धान्त निकाला जा सकता है कि 'बिहारी क्रियाओं के कवि हैं।' इसी प्रकार धर्मवीर भारती के काव्य में अन्धकार और ज्योति के बिम्बों की बहुलता है। पन्त के काव्य में नक्षत्र-ज्योति और उसमें भी शुक्र तारे की छटा के प्रति विरल आकर्षण है। डॉ. रामेश्वर लाल खण्डेलवाल विराट् के कवि हैं। वे या तो समुद्र पर कविता लिखते हैं या आकाश पर। नीले रंग के प्रति उनकी विशेष आसक्ति है। उनके एक संग्रह का नाम ही है 'नीलाम्बरा'। तुलसी धर्म-अधर्म, सुमति-कुमति, ज्ञान-अज्ञान, हित-अहित, मंगल-अमंगल, विद्या-अविद्या, तम-प्रकाश का युगपद् द्वन्द्वात्मक निरूपण करने वाले द्वन्द्वदर्शी कवि हैं। अब एक विशद उदाहरण से आगमन-पद्धति के साहित्यिक शोध में करणीय व्यवहार के स्वरूप को समझा जा सकता है। तुलसी के रामचरितमानस से उद्धृत निम्नलिखित तीन तथ्यों को लीजिए :

(1) विधि हरि संभु नचावन हारे।

(अर्थात् ये राम ब्रह्मा, विष्णु, महेश को नचाने वाले हैं।)

(2) विधिहि विधिता हरिहि हरिता सिबहि सिबता जे दई।

(अर्थात् इन्हीं राम ने विधि को विधित्व, विष्णु को विष्णुत्व और शिव को शिवत्व प्रदान किया।)

(3) मीन कमठ सूकर नरहरी। वामन परसुराम बपु धरी।

(अर्थात् इन्हीं राम ने मत्स्य, कच्छप, शूकर, नृसिंह, वामन, परशुराम आदि विभिन्न अवतारों का आकार धारण किया।)

इन तथ्यों के वैज्ञानिक अवलोकन और परीक्षण से यह सामान्य सत्य उभर कर आता है कि तुलसी के राम ब्रह्मा, विष्णु, महेश के नियन्ता और निर्माता परात्पर ब्रह्म हैं और विष्णु के जो मत्स्य, कच्छप आदि अवतार बताये जाते हैं, वे विष्णु के नहीं, वरन् इन्हीं ब्रह्म-राम के थे।

इस प्रकार आगमन-पद्धति साहित्यिक तथ्यों में निहित सामान्य सत्य तक पहुँचने की अत्यन्त विश्वसनीय वैज्ञानिक तर्क-पद्धति है।

6.4. आलोचनात्मक पद्धति

शोध-दृष्टि-केन्द्रित पद्धतियों में आलोचनात्मक पद्धति सर्वप्रमुख है। कृति के भावात्मक एवं शैल्पिक स्वरूप के विविध आयामों को केन्द्र में रखकर सर्वांगीण

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

समालोचनात्मक अध्ययन करना आलोचनात्मक पद्धति का व्यवहार-क्षेत्र है। भाव-निरूपण और रस-योजना, सामाजिक, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक चिन्तन के मन्थन के साथ ही शब्द-योजना, अलंकार, बिम्ब, प्रतीक, मानवीकरण, छन्द आदि शैल्पिक उपादानों के विश्लेषण-विवेचन से कृति का मर्मोद्घाटन करना ही आलोचनात्मक पद्धति का मूल्य लक्ष्य है। आलोचनात्मक अध्ययन अनेक दृष्टियों से किया जा सकता है। आलोचनात्मक अध्ययन का आशय दोष-दर्शन से नहीं है। अपने मूल आशय की दृष्टि से यह निष्पक्ष, वस्तुनिष्ठ, तर्कसम्मत दृष्टि से कृति के अनुभूतिगत और अभिव्यक्तिगत आयामों का सम्यक् विवेचन और मूल्यांकन है, जिसमें गुणों के रेखांकन के साथ दोषों का भी यथा-स्थान पर्यालोचन अभीष्ट है। दृष्टि-भेद से आलोचनात्मक शोध-पद्धति के अन्दर निम्नलिखित प्रकार के अध्ययनों को परिगणित किया जा सकता है।

6.4.1. काव्यशास्त्रीय अध्ययन

भाव-निरूपण, रस-परिपाक, काव्य-रूप, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति आदि काव्यशास्त्रीय मानदण्डों के निकष पर किसी कृति का विवेचन और मूल्यांकन काव्यशास्त्रीय अध्ययन कहलाता है। इसमें सैद्धान्तिक अध्याय में काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया जाता है और फिर उनके आधार पर कृति का व्यावहारिक अध्ययन किया जाता है।

6.4.2. समाजशास्त्रीय अध्ययन

किसी साहित्यिक कृति में चित्रित सामाजिक परिवेश के व्यक्ति, परिवार, दाम्पत्य जीवन, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक स्थितियों तथा अन्य सामाजिक संस्थाओं के विवेचनात्मक अध्ययन के आधार पर समाज के अधोमुखी तथा ऊर्ध्वमुखी तत्त्वों को रेखांकित करते हुए समाज के समग्र स्वरूप का सही आकलन करना समाजशास्त्रीय अध्ययन कहलाता है। साहित्य के ऐसे समाजशास्त्रीय, अध्ययनों से साहित्य की सामाजिक प्रासंगिकता का बोध होता है और समाज को नयी अनुभूतिपरक दृष्टि से देखने और समझने की प्रेरणा मिलती है।

6.4.3. भाषावैज्ञानिक तथा शैली वैज्ञानिक पद्धतियाँ

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार 'ये पद्धतियाँ भी शास्त्रीय पद्धतियों के समकक्ष हैं। भाषा

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

और शैली की संरचना का भाषा-विज्ञान और शैली-शास्त्र की दृष्टि से विश्लेषण इनका लक्ष्य होता है।' जहाँ भाषा-विज्ञान मुख्यतः बोलचाल की गद्यात्मक भाषा का ध्वनि, अर्थ, रूप, वाक्य आदि व्याकरणिक आधारों पर विश्लेषण करता है, वहाँ शैली-विज्ञान व्याकरणिक आधारों के साथ ही सादृश्य, बिम्ब, प्रतीक, छन्द आदि काव्यशास्त्रीय आधारों के निकष पर रचनात्मक भाषा के शैलीय लालित्य का मर्मोद्‌घाटन करना अपना प्रमुख उद्‌देश्य मानता है।

6.4.4. मनोवैज्ञानिक पद्धति

साहित्य के रचनाधर्मी, सरस, ललित, भावपूर्ण स्वरूप के उद्‌घाटन के लिए मनोवैज्ञानिक पद्धति सर्वथा उपयुक्त एवं प्रभावी है। यह ध्यातव्य है कि जहाँ पाश्चात्त्य मनोविज्ञान मन की मानसिक वृत्तियों और गतिविधियों के यथार्थ स्वरूप के विश्लेषण में ही विशेष पैठ रखता है, वहाँ भारतीय मनोविज्ञान अन्तःकरण के मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार नामक आयामों के साथ ही उसके नैतिक, अध्यात्मिक और परामनोवैज्ञानिक पक्षों को भी अपनी व्यापक परिधि में समेटे हुए है। प्राचीन और मध्कालीन साहित्य के विश्लेषण के लिए भारतीय मनोविज्ञान के मानदण्डों को ही मुख्यतः व्यवहार में लाना चाहिएं। हाँ, आनुषंगिक रूप में पाश्चात्त्य मनोवैज्ञानिक प्रतिमानों को भी प्रयुक्त करना उपयोगी सिद्ध हो सकता है। अर्वाचीन कहानी, उपन्यास, नाटक आदि के मर्मोद्‌घाटन के लिए पाश्चात्त्य मनोविज्ञान विशेष सहायक सिद्ध हो सकता है। यहाँ भारतीय मनोविज्ञान का आवश्यकतानुसार आनुषंगिक रूप में उपयोग किया जा सकता है।

6.5. समस्यामूलक पद्धति

समस्या के साथ ही कोई न कोई सामाजिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, नैतिक या अन्य दृष्टि जुड़ी रहती है। अतः शोध की समस्यामूलक पद्धति भी दृष्टि-केन्द्रित पद्धति है। 'प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में वर्ग-भेद और शोषण की समस्या', अज्ञेय के कथा-साहित्य में सामाजिक वर्जनाओं और काम-कुण्ठाओं का निरूपण, तुलसी की भक्ति-भावना में शक्ति-बोध, स्वातन्त्र्य और जयैषणा, भूषण-काव्य में विद्रोह और स्वातन्त्र्य-चेतना, गुरु गोबिन्द सिंह के काव्य में धर्म-युद्ध और स्वातन्त्र्य-बोध, छायावादी काव्य में राष्ट्रीय चेतना, निराला-काव्य में सांस्कृतिक जागरण का स्वरूप आदि विषय समस्या-केन्द्रित हैं।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

6.6. वर्गीय अध्ययन पद्धति

कुछ साहित्यकार किसी विशेष जीवन-दृष्टि, विचारधारा या सम्प्रदाय से सम्बद्ध होकर साहित्य-सृजन में प्रवृत्त होते हैं। अतः ऐसे साहित्यकारों के साहित्य में व्यक्तिगत वैशिष्ट्य के साथ ही सामूहिक चिन्तन और चेतना के वैशिष्ट्य की प्रधानता रहती है। 'अष्टछाप के कवियों का वैषम्य-विरोध तथा साम्य-बोध, गुरु गोबिन्द सिंह के दरबारी कवियों की धार्मिक चेतना और स्वातन्त्र्य-बोध, प्रगतिवादी कवियों के काव्य में साम्यवादी स्वर और मुक्ति-चेतना, सूफी कवियों के धार्मिक समन्वय का स्वरूप, सन्त कवियों और वैष्णव कवियों की समन्वय साधना के पार्थक्य-बिन्दु इसी प्रकार के वर्गीय अध्ययन के उदाहरण हैं। इस प्रकार के वर्गीय अध्ययन भी दृष्टि-केन्द्रित अध्ययन के अन्तर्गत आते हैं।

6.7. सर्वेक्षण-पद्धति

सर्वेक्षण-पद्धति में समग्र साहित्य या उसके किसी कालखण्ड का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया जाता है। इसमें विहंगावलोकन ही सम्भव है, सिंहावलोकन नहीं। शोध-कार्य के प्रारम्भ के दिनों में 'हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण', 'हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय भावना', 'हिन्दी-काव्य में सौन्दर्य और प्रेम' आदि सर्वेक्षणात्मक विषय प्रचुर रूप से शोधार्थ ग्रहण किये गये। इनमें से कुछ विशेष तत्त्वपूर्ण भी रहे। वस्तुतः शोध की गुणवत्ता शोधक की गुणवत्ता पर आश्रित रहती है। किन्तु सामान्यतः व्यापक साहित्य-क्षेत्र का किसी एक या अधिक दृष्टियों से सर्वेक्षण विशेष गम्भीर नहीं हो सकता। हमारे विचार से सीमित साहित्यिक क्षेत्र का किसी एक ही सुनिश्चित शोध-दृष्टि से गहन एवं सूक्ष्म मन्थन शोध का आदर्श नमूना हो सकता है।

6.8. तुलनात्मक पद्धति

तुलना भी ज्ञान-प्राप्ति का प्रमुख आधार है। तुलना में विषमता के बिन्दुओं के साथ ही समता के बिन्दुओं पर भी ध्यान देते हुए दो कृतियों, युगों, सम्प्रदायों, विधाओं आदि का अध्ययन किया जाता है और दोनों के स्वरूप के विषय में निश्चित निष्कर्ष निकाले जाते हैं। तुलना एक दृष्टि से भी की जा सकती है और अनेक दृष्टियों से भी। तुलना में दृष्टि की निस्संगता, तटस्थता और स्वच्छता नितान्त आवश्यक है। साथ ही दो विषयों को एक साथ सम्भालना दुष्कर भी है। फिर दृष्टि की व्यक्ति-निष्ठता तर्क-पद्धति की वस्तुनिष्ठता और निष्पक्षता को कहीं न कहीं बाधित अवश्य

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

करती है, जिससे तुलनात्मक अध्ययन के निष्कर्ष अवश्य ही प्रभावित होते हैं। तुलनात्मक अध्ययन दुधारी तलवार पर चलने के समान है। इसीलिए अनेक अनुभवी विद्वानों ने तुलनात्मक अध्ययनों से बचने की सलाह दी है। फिर तुलना तुलनीय कृतियों या कवियों की ही करनी चाहिए। शेक्सपियर और कालिदास की तुलना करना व्यर्थ की खींच-खाँच ही होगी। वाल्मीकि, तुलसी, मैथिलीशरण गुप्त की तुलना में तुलनीय आधार स्पष्ट है। युगीन परिवेशों ने व्यक्तित्वों और उनके मन्तव्यों में युगानुरूप भिन्नता उत्पन्न की है, जिसका सम्यक् वैज्ञानिक विवेचन सम्भव है। परम्परा ने तीनों के साम्य-बिन्दुओं को भी सुरक्षित रखा है। अतः साम्य-वैषम्य का युक्तियुक्त विश्लेषण और निरूपण तत्त्वपूर्ण तुलनात्मक अध्ययन का विश्वसनीय आधार बन सकता है। समर्थ शोधक तुलनात्मक अध्ययन की चुनौतियों को अंगीकार करने में संकोच नहीं करते।

पद्धतियाँ अपने मूल रूप में यान्त्रिक और स्थूल होती हैं। शोधक की प्रतिभा और अन्तर्दृष्टि के संस्पर्श से वे यान्त्रिक न रहकर जीवन्त और सक्रिय हो उठती हैं और शोध चेतना के साथ एकाकार हो जाती हैं। इन पद्धतियों के इसी सक्रिय एवं जीवन्त स्वरूप के सम्पर्क से स्थूल तथ्य भी सचेत और मुखर होकर शोधक को सही सत्यों, तत्त्वों और निर्मल निष्कर्षों तक पहुँचाने लगते हैं। पद्धति की मूल्यवत्ता इसी में है कि वह स्वयं हावी न हो जाये, वरन् ज्ञान-प्राप्ति का साधन बनने में ही अपनी चरम और परम सार्थकता माने। जब पद्धति साधन न रहकर स्वयं साध्य बन जाती है, तब शोध-कार्य जड़ यान्त्रिक बौद्धिक व्यापार बनकर रह जाता है। डॉ. नगेन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'शोध और सिद्धान्त' में प्रविधियों और पद्धतियों के प्रति उत्तरोत्तर बढ़ती हुई निर्भरता के संकटों के प्रति सचेत करते हुए लिखा है, 'प्रत्येक क्षेत्र में अनुसन्धान का विधि-विज्ञान अधिकाधिक यान्त्रिक होता जा रहा है और ऐसा लगता है जैसे सभी प्रकार का ज्ञान-विज्ञान मानव-चेतना की क्रिया न होकर केवल भौतिक क्रियाओं का संघात मात्र है।' साहित्य-शोधक को यह ध्यान रखना होगा कि साहित्य अन्तर्मुखी मानव मन की सरस, सजीव, लालित्यमयी, अनूठी अभिव्यक्ति है। अतः अति यान्त्रिकता का भारी भार उसके अनुभूतिमय, मधुर, मोहक स्वरूप के सर्वथा प्रतिकूल है। फिर भी सभी पद्धतियों का अपना-अपना महत्त्व है, जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती।



CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अध्याय - 7

शोधक, शोध-निर्देशक और शोध-विषय

शोध एक क्रिया भी है और कार्य भी। इसके भी प्रत्येक कार्य या निर्मिति के समान दो कारण हैं - निमित्त कारण और उपादान कारण। निमित्त कारण वह होता है जो किसी वस्तु का निर्माण करता है, जैसे घट का निमित्त कारण है कुम्भकार। उपादान का अर्थ है सामग्री, जिससे वस्तु निर्मित होती है। जैसे कुम्भ का उपादान-कारण है मिट्टी। इसी प्रकार शोध का निमित्त कारण या निर्मितिकार है शोधक और शोध का उपादान-कारण है शोध-विषय, जिसकी सामग्री के विश्लेषण और मन्थन से शोध-प्रबन्ध अस्तित्व में आता है। प्रस्तुत प्रकरण में शोध के निमित्त और उपादान कारणों पर विचार किया जायेगा। शोध-निर्देशक पृष्ठभूमि में रहकर शोधक की सहायता करता है, अतः वह भी शोध का सहायक निमित्त कारण है। इसी प्रकार शोध-सामग्री का प्रत्यक्ष एवं प्राथमिक स्रोत तो शोध-विषय ही है अर्थात् शोधक विवेच्य सामग्री शोध्य कृति से ही ग्रहण करता है, किन्तु शोध की सुविधा प्रदान करने वाले विश्वविद्यालय तथा विविध पुस्तकालय, लेखागार आदि भी सह उपादान कारण हैं, जिनसे प्रचुर सहायक और पोषक सामग्री प्राप्त होती है।

7.1. शोधक

शोध का स्वरूप और स्तर शोधक के स्वरूप पर निर्भर होता है। शोधक ही शोध का निमित्त कारण है, जिसके बिना शोध-कार्य असम्भव है। यद्यपि प्रजातान्त्रिक मूल्य समता और स्वतन्त्रता के सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण योग्यता की आधारभूत शर्तों को पूरा करने वाले सभी प्रत्याशियों को शोधक होने का अवसर प्रदान

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

करते हैं, तथापि वास्तविकता तो यह है कि वांछित शैक्षिक योग्यताप्राप्त सभी छात्र सच्चे शोधक सिद्ध नहीं हो सकते। शोध-कार्य अब शुद्ध शोध-कार्य नहीं रह गया है। अब वह स्वयं साध्य नहीं रह गया है, वरन् पद-प्राप्ति या धनोपार्जन का साधन बन गया है। व्यावसायिक लिप्सा ने शोध-साधना के स्वरूप को पंकिल कर दिया है। अब शोध-साधना ने निष्काम कर्मयोग का सारस्वत स्तर खो दिया है। जैसे-तैसे शोध-प्रबन्ध तैयार करके उपाधि अर्जित करना और उपाधि के द्वारा नौकरी हथियाना ही अब शोध-साधना की सच्ची सिद्धि रह गयी है। लिप्सामूलक आपाधापी और अन्धी प्रतिस्पर्धा ने प्रजातान्त्रिक मूल्यों को तिकड़म तन्त्र में परिणत कर दिया है। प्रतिभाशाली समर्पित शोध-साधक की वरेण्यता का मानक ध्वस्त हो गया है। सच्चे शोधक को इन सब मायिक प्रपंचों से मुक्त होना होगा, तभी उस ज्ञान की सच्ची उपासना सम्भव होगी, जिसे परम पावन और मंगलकारी माना जाता है।

सच्चे शोधक में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है :

7.1.1. शारीरिक गुणवत्ता

शोध एक प्रातिभ क्रिया है, इसका शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है - यह एक नितान्त भ्रान्त धारणा है। सच तो यह है कि व्यक्ति की मानसिकता की वाचिक, लिखित और आचारिक अभिव्यक्ति का मौलिक माध्यम शरीर ही है। विद्युत् परम वेगमयी ऊर्जा है, किन्तु तार के बिना उसकी कोई गति नहीं। इसी प्रकार प्रातिभ और आध्यात्मिक ऊर्जा की शरीर के बिना न तो कोई गति है और न ही अस्तित्व। कालिदास के अनुसार शरीर ही सब प्रकार की साधनाओं का प्राथमिक साधन है - 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'। मानसिक स्वास्थ्य शारीरिक स्वास्थ्य पर निर्भर है। वास्तव में शारीरिक और मानिसक स्वास्थ्य में अद्धैत है। स्वस्थ मन ही स्वस्थ तन को स्वच्छ आचरण की ओर प्रेरित करता है। तन, मन और आचरण का योग ही सच्चा कर्मयोग है। शोध कर्मयोग है तो शोधक सच्चा, समर्पित कर्मयोगी। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए सात्त्विक आहार, विहार, व्यायाम आदि अनिवार्य हैं। तामसिक भोजन, चिन्तन, आचरण शोधक के लिए सर्वथा त्याज्य हैं। शोध एक आध्यत्मिक साधना है। रुग्ण तन-मन वाला व्यक्ति शोध नहीं कर सकता। 'स्व' में स्थित चित्तवृत्ति वाला स्थितप्रज्ञ ही 'स्वस्थ' कहलाता है।

7.1.2. स्वाभाविक गुणवत्ता

स्वाभाविक गुणवत्ता का अर्थ है 'स्वभाव' से सम्बन्धित विशेषताएं। गीता में

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नैसर्गिक रूप में सात्त्विक स्वभाव को ही अध्यात्म कहा गया है – 'स्वभावोऽध्यात्मुच्यते'। शोधक को सच्चे साधक की भाँति स्वभाव की सात्त्विकता को सुरक्षित रखना चाहिए तथा विकृति के तामसिक मार्ग से मुक्त रहना चाहिए। स्वभाव या प्रकति की विकृत्ति पर विजय प्राप्त करना ही संस्कृति है। शोधक को कुमति की विकृतियों से विमुख रहकर समुति जनित संस्कृति की ओर सतत उन्मुख रहना चाहिए। स्वभाव के जिन गुणों का शोध-कार्य से गहरा सम्बन्ध है वे इस प्रकार हैं :

(क) वस्तुनिष्ठता और तटस्थता : तथ्यों के चयन, विश्लेषण, विवेचन, निष्कर्षण आदि में जिस विशेषता की सर्वाधिक आवश्यकता है, वह है वस्तुनिष्ठता और तटस्थता। वस्तुनिष्ठता का आशय है शुद्ध तथ्यों को आधार मानकर तर्कों के सहारे सही निष्कर्षों तक पहुँचना। इसी वस्तुनिष्ठता से शोध में तटस्थता या निष्पक्षता का गुण समाहित होता है। अपनी व्यक्तिगत संकीर्ण, साम्प्रदायिक मान्यताओं या किसी बाहरी मत या वाद के प्रति अतिरिक्त आसक्ति या अन्धलिप्सा शोध के स्वरूप और निष्कर्षों पर दूषित प्रभाव डालती है। अतः शोधक को व्यक्तिगत दुराग्रहों से मुक्त रहना चाहिए।

(ख) विद्वानों तथा शोध-निर्देशक के प्रति सम्मान-भावना : गीता में कहा गया है कि श्रद्धावान् ही ज्ञान प्राप्त करता है। विषय के मर्मज्ञ विद्वानों तथा अपने शोध-निर्देशक के प्रति सच्ची श्रद्धा शोधक की ज्ञान के प्रति निष्ठा की द्योतक है। सच्चा ज्ञानानुरागी शोधक ही गुरु और ज्ञानियों के गौरव को भली प्रकार हृदयंगम करके श्रद्धा से अभिभूत हो उठता है। श्रद्धा से शोधक में आत्म-विस्तार और आत्मोत्कर्ष का संचार होता है और शोध के सन्मार्ग पर सतत अग्रसर होने की पुनीत प्रेरणा और शक्ति मिलती है। श्रद्धालु शोधक को निर्देशक केवल निर्देशित ही नहीं करता, वरन् एक शुभैषी के रूप में प्रेरित एवं प्रोत्साहित भी करता है। प्रबोधन और प्रोत्साहन से निर्देशन की गुणवत्ता में अपार अभिवृद्धि होती है। सच्चा श्रद्धालु ही ज्ञान का सत्पात्र होता है।

(ग) अध्ययनशीलता और अध्यवसाय : शोधक स्वभाव से ही अध्ययनशील और परिश्रमी हो, तो उसकी प्रतिभा के पूर्ण प्रकाशन में भारी सहायता मिलती है। उपनिषद् में कहा गया है कि व्यक्ति को स्वाध्याय में प्रमाद नहीं करना चाहिए – 'स्वाध्यायान्मा प्रमदितव्यम्'। सैमुअल स्माइल्स ने अपनी पुस्तक सैल्फ-हैल्प (self-help) में लिखा है, "What is put in to us from without is far less ours and what we achieve ourselves is a property of our own." अर्थात् शिक्षक द्वारा जो ज्ञान हमारे अन्दर बाहर से ठूँसा जाता है, वह बहुत कम अंश में ही हमारा बन पाता है तथा जो ज्ञान हम स्वयं प्राप्त करते हैं, वह तो

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हमारी निजी सम्पत्ति है। अध्ययनशील स्वभाव तथा सतत स्वाध्याय से शोधक में गहरी सूझ-बूझ, मौलिक चिन्तन और नवीन उद्भावनाओं की क्षमता का उदय होता है। परिश्रम चिन्तन, मनन और उद्भावना से संयुक्त होकर साधना का स्तर अर्जित कर लेता है। पूरी निष्ठा, सूझ-बूझ और समझ के साथ किया गया परिश्रम प्रतिभा को सक्रियता की पराकाष्ठा पर पहुँचा देता है। परिश्रम से प्रदीप्त प्रतिभा ही उच्च कोटि के शोध-प्रबन्ध को जन्म देती है।

(घ) धैर्यशीलता : शोध-मार्ग में कई बार अनेक व्यवधान भी आते हैं। व्यवधानों से विचलित न होना और अविचल भाव से अपने निर्धारित लक्ष्य की ओर उन्मुख और अग्रसर रहना ही धैर्यशीलता है। भर्तृहरि ने कहा है कि सामान्य श्रेणी के व्यक्ति विघ्नों की आशंका से ही कार्य प्रारम्भ नहीं करते। मध्यम श्रेणी के लोग कार्य प्रारम्भ तो कर देते हैं, किन्तु विघ्नों से बाधित होने पर उसे बीच में अधूरा ही छोड़ देते हैं। उत्तम कोटि के व्यक्ति विघ्नों से बार-बार बाधित होते हुए भी प्रारम्भ किये हुए कार्य को पूरा करके ही छोड़ते हैं :

विघ्नैः पुनःपुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य चोत्तमजनाः न परित्यजन्ति।

7.1.3. प्रातिभ गुणवत्ता

शोध का मूल निमित्त कारण तो शोधक की पारदर्शी प्रतिभा ही है। परिश्रम, निष्ठा, उत्साह आदि गुण तो प्रतिभा के ही प्रेरक तत्त्व हैं। शोधक की भूमिका बहुआयामी हैं। मूलतः उसका कार्य तथ्यों का सही वर्गीकरण और विश्लेषण है। इसीलिए वह वैज्ञानिक न होते हुए भी साहित्य के संश्लिष्ट स्वरूप का वैज्ञानिक विश्लेषण करता है और उसे बोधगम्य रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। वैज्ञानिक की वस्तुनिष्ठ आगमन-पद्धति के साथ ही उसे दार्शनिक की भूमिका में उतर कर कहीं-कहीं निगमन-पद्धति का सहारा लेते हुए सामान्य सिद्धान्त से विशेष तथ्य तक पहुँचना होता है। साहित्य की प्रकृति सृजनात्मक होने के कारण वह वैज्ञानिक विवेचन की सीमा में नहीं समा पाती। अतः साहित्य-शोधक में सृजनात्मक प्रतिभा का होना भी नितान्त आवश्यक है। तभी वह साहित्य के सृजनात्मक, संश्लिष्ट स्वरूप का काव्यशास्त्रीय या सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से विवेचन करने में सफल हो सकता है। इस प्रकार शोधक में बहुआयामी प्रतिभा का होना आवश्यक है। यहाँ शोधक के कतिपय प्रातिभ गुणों का निरूपण प्रासंगिक है।

(क) जिज्ञासा : जानने की सतत लालसा ही जिज्ञासा है। जिज्ञासा ही सारे

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ज्ञान-विज्ञान की जननी है। जिज्ञासा ज्ञान की अदम्य आकांक्षा है, जो शोधक की शोध-साधना का सनातन सम्बल है। जिस शोधक में जानने की उत्कण्ठा या उत्सुकता नहीं, उसकी साधना जड़ यान्त्रिकता मात्र बनकर रह जाती है। उसके शोध-कार्य में अन्तर्दृष्टि से उद्भूत अन्विति, अखण्डता और सातत्य का अभाव रहता है। जिज्ञासा सतत फलदायी होने के कारण साधना और सिद्धि का भेद मिटा देती है और शोधक को कभी थकने नहीं देती। नित्य नयी वैचारिक उपलब्धियों से उसका श्रम-परिहार करती चलती है। जिज्ञासा की नित्य नयी कोंपलों से शोध-विटप निरन्तर विकसित होता चलता है। जिज्ञासा ज्ञान के उद्भव और विकास का अमोघ स्रोत है। जिज्ञासा ज्ञान में चिर चैतन्य का संचार सकती है, उसे जड़, निष्प्राण और यान्त्रिक नहीं होने देती।

(ख) वैज्ञानिक विश्लेषण की क्षमता : शोध-दृष्टि और शोध-पद्धति की मूल प्रेरणा वैज्ञानिकता है। साहित्य विज्ञान नहीं है, फिर भी शोधक उसके भावनात्मक, कलात्मक, रसात्मक, रहस्यमय स्वरूप को यथासम्भव बोधगम्य बनाने के लिए वैज्ञानिक दृष्टि और पद्धति का प्रश्रय ग्रहण करता है। अतः शोधक में विषय के विविध पक्षों, उपपक्षों के अनुसार संकलित तथ्यों को विभिन्न वर्गों-उपवर्गों में विभाजित करने और फिर उनका वैज्ञानिक दृष्टि और वस्तुनिष्ठ तर्क-पद्धति से सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण करने की बौद्धिक क्षमता का होना अनिवार्य है। वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए उसे आगमनात्मक पद्धति (Deductive method) के उपयोग में दक्षता प्राप्त करनी होगी।

(ग) दार्शनिक चिन्तन की क्षमता : जिस प्रकार शोध की प्रकृति के अनुरूप शोधक में वैज्ञानिक विश्लेषण की क्षमता की महती आवश्यकता है, उसी प्रकार साहित्य की दर्शनोन्मुख प्रकृति के अनुरूप शोधक में दार्शनिक चिन्तन और निगमन तर्क-पद्धति के सम्यक् निर्वाह की क्षमता का होना भी परम आवश्यक है। क्रमशः विशेष से सामान्य तत्त्व और सामान्य तत्त्व या सिद्धान्त से विशेष तथ्यों की ओर उन्मुख आगमन-तर्क-पद्धति और निगमन-तर्क-पद्धति - दोनों के ही आवश्यकतानुसार उपयोग से शोध में आद्योपान्त बौद्धिक एकसूत्रता या अन्विति का उदय होता है। ज्ञान की गति द्विमुखी है। ज्ञान स्थूल से सूक्ष्म की ओर भी उन्मुख होता है और सूक्ष्म से स्थूल की ओर भी। स्थूलता तथ्य है, तो सूक्ष्मता सत्य या तत्त्व।

7.1.4. भाषिक या अभिव्यक्तिगत गुणवत्ता

भाषा का गठन और स्तर व्यक्ति के मानसिक गठन और स्तर का द्योतक होता

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

है। चिन्तन, भावन और उद्भावन भाषा में ही जन्म लेते और आकार ग्रहण करते हैं। भाषा के बिना न चिन्तन सम्भव है, न भाषण, न लेखन। जो शोधक जितने सार्थक एवं उत्तम रूप में व्यक्त होता है, वह उतना ही सार्थक और उत्तम व्यक्ति है। अभिव्यक्ति का स्वरूप और स्तर व्यक्ति के व्यक्तित्व के स्वरूप और स्तर का निर्धारक है। अशक्त भाषा अशक्त, असम्बद्ध और स्तरहीन चिन्तन की द्योतक है। शोध की शुद्धता भाषिक शुद्धता पर आश्रित है। भाषिक शुद्धता के कतिपय आयाम इस प्रकार हैं :

(क) वर्तनी की शुद्धता : जो शोधक बोलने में उच्चारण की त्रुटियाँ करते हैं, वे ही लेखन में वर्तनी की अशुद्धियाँ करते हैं। वर्तनी की अशुद्धियाँ शोध-प्रबन्ध को स्तरहीन बना देती हैं। वर्तनी की त्रुटियों की भरमार वाले शोध-प्रबन्धों को स्वीकृत करना न्यायसंगत नहीं है।

(ख) वाक्य-रचना की शुद्धता : वाक्य भाषा की भी लघुतम इकाई है और चिन्तन की भी। सच तो यह है कि चिन्तन की लघुतम इकाई होने के कारण ही वाक्य भाषा की भी लघुतम इकाई है। वाक्यगत गठन चिन्तनगत सुसम्बद्धता और गठन का द्योतक है। चिन्तन की गहनता के कारण कई वाक्य सूत्र-वाक्य, आर्ष-वचन या मन्त्र बनने की क्षमता रखते हैं। वाक्य-रचना की शिथिलता चिन्तनगत शैथिल्य की सूचक है। जो शोधक शुद्ध वाक्य नहीं बना पाते वे शोध-कार्य के सत्पात्र नहीं सिद्ध हो सकते। शुद्ध और सुसंगत वाक्यों की क्रमबद्ध योजना से ही शोधक युक्तियुक्त चिन्तन प्रस्तुत कर सकता है। अशुद्ध और असम्बद्ध वाक्य चिन्तन को न तो शक्ति या प्रभाववत्ता प्रदान कर पाते हैं और न ही कोई दिशा या दृष्टि। छोटे और कसे हुए वाक्य गम्भीरतम चिन्तन की प्रभावपूर्ण प्रस्तुति के शक्तिशाली माध्यम बनने की क्षमता रखते हैं। लम्बे और उलझे हुए वाक्य वैचारिक भ्रान्ति और भटकन को जन्म देते हैं। जो शोधक व्याकरण में पटु और चिन्तन में निष्णात हैं, वे ही सुगठित और सारपूर्ण वाक्यों की रचना में समर्थ होते हैं।

(ग) पारिभाषिक शब्दावली का सटीक व्यवहार : पारिभाषिक शब्दावली वह है जो किसी विशेष शास्त्र के अनुसार निश्चित अर्थ में प्रयुक्त होती है। शास्त्र वह है जो अर्थ को अपने निश्चित स्वरूप द्वारा शासित या व्यवस्थित करता है। उच्च कोटि की सृजनात्मक कृतियों में शास्त्रीय ज्ञान संवेदना-संवलित रूप में प्रयुक्त होता है और कृति को चिन्तनगत उत्कर्ष प्रदान करता है। उदाहरण के लिए कामायनी में शैव दर्शन और मनोविज्ञान से सम्बद्ध सामग्री और उसकी निरूपक शब्दावली का प्रचुरता से उपयोग हुआ है। अतः शोध-विषयों में शास्त्रीय दृष्टि के समावेश की परम्परा रही है। 'कामायनी में शैव दर्शन' या 'कामायनी में समरसतावाद' या 'कामायनी का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन' विषयों के प्रतिपादन के लिए शोधक से अपेक्षा की

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जाती है कि वह सम्बद्ध शास्त्र और उसकी पारिभाषिक शब्दावली का विश्वसनीय ज्ञान अर्जित करे। गम्भीर शास्त्रीय ज्ञान से ही वह पारिभाषिक शब्दावली का सही उपयोग कर सकता है। शास्त्र-ज्ञान के अभाव में वह विषय के साथ न्याय नहीं कर सकता।

7.1.5. आचारिक गुणवत्ता

शोध की वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक दृष्टि और पद्धति केवल विषय-प्रतिपादन की दृष्टि या पद्धति ही नहीं है, वरन् यह एक सन्तुलित वस्तुनिष्ठ, वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि और जीवन-पद्धति के रूप में भी ग्राह्य एवं श्रेयस्कर है। सच्चा शोधक एक दुराग्रहमुक्त, तर्कसम्मत, वस्तुनिष्ठ, सन्तुलित जीवन-दृष्टि और जीवन-पद्धति में दीक्षित हो सकता है। वह व्यक्तिगत मत-वादों, भेदभावों आसक्तियों, पक्षपातों से मुक्त होकर तटस्थ, निस्संग, निर्लिप्त, सन्तुलित, विवेकसम्मत जीवन जीता है और संकीर्णता से उत्पन्न संकटों की आशंका से मुक्त रहता है। वह एक कर्त्तव्यनिष्ठ कर्मयोगी के रूप में स्वस्थ और समरसतापूर्ण सात्त्विक जीवन जीता है। वह भ्रान्तियों रो मुक्त रहकर वस्तुनिष्ठ दृष्टि से सही निर्णय लेता है तथा अपने तथा दूसरों के साथ न्याय करता है। शोधक के लिए शोध-पद्धति और जीवन-पद्धति में ऐक्य आवश्यक और मंगल-विधायक है।

7.2. शोध-निर्देशक

शोध-कार्य में शोध-निर्देशक की भूमिका भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। किन्तु मूल्यात्मक विघटन के वर्तमान युग में महत्त्वपूर्ण से महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ भी सन्दिग्ध हो गयी हैं। यह तथ्य तो स्वीकार करना ही होगा कि जिस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में व्याप्त पतन के लिए विद्यार्थियों की अपेक्षा शिक्षक अधिक उत्तरदायी हैं, उसी प्रकार शोध के क्षेत्र में व्याप्त पतन के लिए शोधकों की अपेक्षा शोध-निर्देशक ही अधिक उत्तरदायी हैं। पंजीकरण, शोध-प्रबन्ध-लेखन, मौखिकी-आयोजन, उपाधि-वितरण तक किस-किस प्रकार की पतन-प्रक्रियाएँ प्रचलित हैं, उन सबका लेखा-जोखा तो एक स्वतन्त्र शोध-प्रबन्ध का विषय है। यहाँ तो इतना उल्लेख करना ही पर्याप्त है कि कुछ इने-गिने अपवादों को छोड़कर अधिकतर शोध-निर्देशक निर्धारित मानदण्डों की कसौटी पर खरे नहीं उतरते दिखलायी पड़ते। बहुत कुछ स्थिति ऐसी होती जा रही है, जिसका निरूपण कबीरदास ने अपने युग में किया था :

जाका गुरु भी आँधरा, चेला खरा निरन्ध।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अन्धे अन्धा ठेलिया, दोऊ कूप परन्त॥

इस स्थिति से मुक्ति पाने का उपाय है सुधार की दिशा में कठोर पग उठाना। निर्धारित मानदण्डों के अनुसार शोध-निर्देशक में जिन गुणों का होना वांछनीय है, उनका उल्लेख यहाँ प्रासंगिक होगा।

7.2.1. निर्देशन-क्षमता

शोध-निर्देशक का सबसे बड़ा गुण तो उसकी निर्देशन-क्षमता ही है। निर्देशन के तीन आयाम हैं - (क) शोध-प्रविधि का शिक्षण, (ख) शोध-विषयगत निर्देशन तथा (ग) संशोधन।

(क) शोध-प्रविधि का शिक्षण : शोध निर्देशक को शोध-प्रविधि का गम्भीर ज्ञान होना चाहिए, जिससे कि वह अपने शोध-छात्रों को शोध-प्रविधि में भली प्रकार दीक्षित कर सके। शोध-प्रविधि के सम्यक् ज्ञान के अभाव के कारण ही अनेक ऐसे शोध-प्रबन्ध तैयार हो रहे हैं, जिनमें आद्योपान्त किसी सुनिर्धारित प्रविधि का निर्वाह नहीं किया गया है। हिन्दी साहित्यिक शोध का यह चिन्ताजनक पक्ष है। न तो पादटिप्पणियों में एकरूपता पायी जाती है, न ही सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची अकारादि क्रम से व्यवस्थित और अपेक्षित सूचनाओं से युक्त होती है। नामों और विषयों की अनुक्रमणिका देने की तो हिन्दी के शोध-प्रबन्धों में कोई परम्परा ही विकसित नहीं हो पायी है। इसके कुछ विरल अपवाद ही देखने को मिलते हैं।

(ख) शोध-विषयगत निर्देशन : निर्देशक को अपनी विशेषज्ञता के क्षेत्र में पारंगत होना चाहिए। इसके लिए सतत अध्ययन, चिन्तन, मनन सर्वथा अपेक्षित है। वांछनीय तो यह है कि प्रत्येक शोध-निर्देशक का अपना सद्ग्रन्थसम्पन्न पुस्तकालय होना चाहिए। निर्देशक को शोध-विषय अपनी विशेषज्ञता के क्षेत्र से ही देने चाहिए। ऐसे विषय नहीं देने चाहिए, जिनके विषय में निर्देशक को गहन ज्ञान नहीं है। ऐसा करने पर शोधक को तो निराशा होती ही है, निर्देशक को भी भारी आत्म-ग्लानि होती है। धीरे-धीरे शोधकों का विश्वास ऐसे निर्देशक पर से उठता चला जाता है। अतः निर्देशक को अपने अध्ययन-क्षेत्र अथवा उससे निकटता से सम्बद्ध शोध-क्षेत्रों से ही अपने शोधकों को विषय देने चाहिए। निर्देशक को निरन्तर अध्ययनरत रह कर अपनी अध्ययन-परिधि को धीरे-धीरे विस्तृत करते जाना चाहिए और उसमें ही नयी दृष्टि से विचार करते हुए नयी सम्भावनाएँ खोजते रहना चाहिए। उसे नये शोध्य विषयों की तालिका बनाते चलना चाहिए।

विषयगत निर्देशन विषय-चयन, रूपरेखा-निर्माण, सामग्री-संकलन, तथ्यों का

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वर्गीकरण, तथ्याख्यान, संश्लेषण और निष्कर्षण, उपसंहार-लेखन, परिशिष्ट-निर्माण, सारांश-लेखन तक की सारी स्थितियों से सम्बन्धित समस्याओं के समाधान तक व्याप्त है। निर्देशक को अपने गुरु-गम्भीर दायित्व के स्वरूप को ध्यान में रखकर शोधकों की शंकाओं का सन्तोषप्रद समाधान करना चाहिए। शोधकों की सन्तुष्टि से निर्देशक को जिस आत्म-तृप्ति और सन्तोष की अनुभूति होती है, वह किसी भी प्रकार के आध्यात्मिक आनन्द से किसी भी प्रकार कम नहीं होती।

(ग) संशोधन : विषयगत निर्देशन के साथ ही शोधक द्वारा लिखित अध्यायों का क्रमिक रूप में संशोधन भी निर्देशक के निर्देशन-क्षेत्र से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण पक्ष है, जिसकी अवहेलना से शोध-प्रबन्ध में वर्तनियों, वाक्यों, उद्धरणों, विराम-चिह्नों, पाद-टिप्पणियों, विषय-प्रतिपादन से सम्बन्धित अन्विति और व्यवस्था आदि की अनेकाअनेक त्रुटियाँ रह जाती हैं, जो शोधक और निर्देशक दोनों के लिए अपयश का कारण सिद्ध होती हैं। अतः निर्देशक को सफल और धैर्यवान् संशोधक की भूमिका भी पूरी निष्ठा और कर्त्तव्य-भावना के साथ निभानी चाहिए। स्पष्ट है कि संशोधन के भी दो स्तर हैं - भाषिक और विषयगत। विषय-प्रतिपादन में अधिक व्यतिक्रम, भ्रान्तियाँ और असंगतियाँ होने की स्थिति में निर्देशक शोधक को पूरा अध्याय या उसका कोई अंश दोबारा लिखने का निर्देश भी दे सकता है। निर्देशन में ममता के साथ-साथ कर्त्तव्यपालन की दृष्टि से कभी-कभी निर्ममता भी श्रेयस्कर ही सिद्ध होती है।

7.2.2. सद्भाव और सदाशयता

मानवता से बड़ा न कोई धर्म है, न दर्शन और न ज्ञान या विज्ञान। मानवीय सद्भाव और सदाशयता से शून्य बड़े से बड़ा दार्शनिक, ज्ञानी, विज्ञानी भी आदरास्पद नहीं हो सकता। सद्भाव से ही मनुष्य का भाव (मूल्य) बढ़ता है और वह श्रद्धेय या पूज्य हो जाता है। सद्भाव-सुवासित ज्ञान ही मनुष्य को गुरु का गौरव या गुरुत्व प्रदान करता है। सच्चा शोध-निर्देशक शोधक का सद्भावी अभिभावक भी होता है। निर्देशक के रूप में वह सूचित, शिक्षित, प्रशिक्षित, निर्देशित ही नहीं करता, वरन् प्रेरित, प्रोत्साहित, उद्बोधित और उन्मेषित भी करता है। ऐसा करने में ही उसे अपने आत्मस्वरूप का सही साक्षात्कार होता है और वह धन्य हो उठता है। दम्भ-दग्ध, स्वार्थ-संचालित, विकृति-विमोहित तथाकथित निर्देशक निश्चय ही अपयश के भागी बनते हैं। सदाशयी, विवेकी, मुक्तहृदय निर्देशक यदि कभी भूल से या अज्ञानतावश अनुपयुक्त निर्देश दे भी देते हैं, तो बाद में स्वतः ध्यान आने पर या सजग शोधक द्वारा ध्यान आकृष्ट किये जाने पर वे अपने मन्तव्य में संशोधन करने में तनिक भी देर नहीं

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

लगाते। वे शोधक पर अपनी निजी विचारधारा या आग्रह आरोपित नहीं करते। वे जानते हैं कि किसी भी विचारधारा के प्रति अन्धी आसक्ति साम्प्रदायिकता से भी अधिक घातक है और सत्य के मुक्त स्वरूप के सर्वथा प्रतिकूल है। वैमत्य की स्थिति में जब वे समझ लेते हैं कि उनके तर्कों की अपेक्षा उनके शोधार्थी के तर्कों में अधिक दम है, तो वे शोधार्थी के मत को खुले हृदय से स्वीकार करके अपनी सत्यनिष्ठा प्रमाणित करते हैं और अपने शोधार्थी को ऐसे वस्तुनिष्ठ, युक्तिसंगत चिन्तन के लिए साधुवाद देने में संकोच नहीं करते। वे सत्यनिष्ठा और सत्यानुसन्धान को ही अपनी साधना की चरम सिद्धि मानते हैं। सत्यानुसन्धान की यह पावन प्रेरणा ही शोधक और शोध-निर्देशक की मानसिकता को सत्यनिष्ठा के एक ही पावन सूत्र में गूँथे रखती है। अपनी सद्भावना और साधना को अपने शोधार्थी की साधना की सफलता के पावन लक्ष्य के प्रति समर्पित करते चलना निश्चय ही उच्चकोटि की साधना है।

भावनात्मक और साधनात्मक समन्वय के स्तर पर पहुँचकर शोधक निर्देशक के परिवार का ही एक सदस्य बन जाता है और आत्मविस्तार तथा ज्ञान-विस्तार के इस क्रम में निर्देशक के निर्देशन की परिधि शोध-प्रबन्ध की सीमाओं को लाँघती हुई जीवनगत विभिन्न समस्याओं के समाधानों की ओर भी उन्मुख होती चली जाती है।

7.2.3. निर्देशनार्थ समय एवं योजना का निर्धारण

निर्देशन-कार्य को सार्थक और सुनियोजित रूप प्रदान करने के लिए निर्देशनार्थ समय एवं योजना का निर्धारण आवश्यक है। इसके अभाव में कई बार तो लम्बे अन्तराल तक निर्देशक से सम्पर्क ही नहीं सध पाता है। अतः विभागीय स्तर पर अथवा निर्देशकीय स्तर पर एक स्पष्ट निर्देशन-नीति और योजना का निर्धारण आवश्यक है। ऐसी नीति और योजना से निर्देशक और शोधार्थी दोनों ही दायित्व की मर्यादा की एक डोर में आबद्ध हो जाते हैं और दोनों के लिए ही कर्त्तव्य-निर्वाह में सुविधा रहती है। निर्देशन के लिए विभाग में ही रिक्त घण्टिका (खाली पीरियड) को शोध-निर्देशन के लिए निर्धारित किया जा सकता है। यदि सभी शोधार्थियों की व्यवस्था विभाग में न हो सके तो शेष के लिए आवास पर समय निर्धारित किया जा सकता है। समय के सदुपयोग के लिए, यदि सम्भव हो तो, शोध-प्रविधि का प्रशिक्षण एक साथ पंजीकृत होने वाले शोधार्थियों को सामूहिक रूप से एक साथ ही दिया जा सकता है। समय-समय पर इस प्रशिक्षण की आवृत्ति आवश्यक है। विषयगत निर्देशन तो प्रत्येक शोधक को पृथक्-पृथक् ही देना सम्भव है। नीति-निर्धारण से निर्देशन अधिक सार्थक, दृष्टि-सम्पन्न, नियमित और फलदायी सिद्ध होता है। शोध के सभी सोपानों पर शोधक को निर्देशन की आवश्यकता पड़ती है। निर्देशन से शोधक की प्रतिभा,

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शोध-निष्ठा और श्रम को सही दिशा मिलती चलती है और परिणाम उत्तम उपलब्धि के रूप में सामने आता है।

7.2.4. ज्ञान-प्रसार से जीवन्त सम्पर्क

ज्ञान स्वरूपतः जड़ नहीं, गतिमय है। जो निर्देशक अपनी सीमित ज्ञान-राशि को ही अपार पाण्डित्य-पुंज मानकर दर्प-दीप्त हो गुरुडम बघारने लगते हैं, वे धीरे-धीरे पढ़ने-लिखने, सोचने-समझने की प्रक्रिया से विमुक्त होकर ज्ञान के गत्वर जीवन्त प्रवाह से ही विच्छिन्न हो जाते हैं। उनका निर्देशन भी निष्प्रभ और निष्प्राण होकर एक ढर्रे में बँधकर रूढ़िग्रस्त हो जाता है।

निर्देशन को सार्थक बनाये रखने के लिए निर्देशक को चाहिए कि वह ज्ञान के गतिमय स्वरूप से निरन्तर जीवन्त सम्पर्क साधे रखे। इसके लिए उसे अध्ययनरत तो रहना ही चाहिए, साथ ही विभिन्न शोध-संस्थानों, विश्वविद्यालयों आदि द्वारा समय-समय पर आयोजित शोध-गोष्ठियों में अपने शोध-पत्र प्रस्तुत करने चाहिए तथा स्तरीय शोध-पत्रिकाओं में अपने शोध-लेख प्रकाशित कराते रहना चाहिए। अपने शोध-क्षेत्र के विषय में नयी से नयी शोध-सामग्री का निरन्तर अध्ययन करते रहना विशेष उपयोगी है। निर्देशक को कभी भी यह दम्भ नहीं पालना चाहिए कि वह अमुक क्षेत्र का अधिकारी विद्वान् है। ज्ञान अथाह और असीम है, उस पर पूर्ण अधिकार सम्भव नहीं है। ज्ञान-प्राप्ति की दिशा में बड़े से बड़े प्रयास भी अपूर्ण और अधूरे हैं। यह सोचकर ही सत्य के शोधक को सदैव अकिंचन और विनम्र बने रहना चाहिए। विनम्रता गहराई और सहजता की द्योतक है। दम्भ खोखलेपन, दिखावे या आडम्बर का सूचक है।

7.3. शोध-विषय

शोध-प्रक्रिया में शोध-विषय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शोध-विषय के बिना शोध असम्भव है। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, शोधक और निर्देशक संयुक्त रूप में शोध-कार्य के निमित्त कारण हैं तथा शोध-विषय शोध का उपादान कारण है, क्योंकि शोध्य सामग्री शोध-विषय से ही प्राप्त होती है। विषय को संस्कृत में 'प्रमेय' भी कहा जाता है, क्योंकि प्रमाता (ज्ञाता) के प्रमा (ज्ञान) का स्रोत या आधार वही है, जिसके व्यापक क्षेत्र के भीतर से प्रमाता अपने प्रमा या ज्ञान की पुष्टि के लिए अनेक प्रमाण (तथ्य, साक्ष्य) प्रस्तुत करता है। इसलिए ज्ञान के पोषक तथ्यों

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

या साक्ष्यों को ही प्रमाण कहा गया है – 'प्रमाकरणं प्रमाणम्'। उपर्युक्त विवेचन के आलोक में शोध-विषय की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहा जा सकता है कि शोध-विषय शोधक की प्रतिभा का वह संचार-क्षेत्र है, जिसमें से संकलित तथ्यों के वर्गीकरण, विश्लेषण और मन्थन के आधार पर शोधक कतिपय प्रामाणिक निष्कर्षों या स्थापनाओं तक पहुँचता है। स्पष्ट है कि शोधक की प्रतिभा और शोध-विषय के सम्पर्क से विश्लेषण-विवेचन और निष्कर्षण के रूप में शोध का उदय होता है। शोधक की प्रतिभा जितनी तीव्र होगी तथा शोध-विषय जितना नवीन सम्भावनाओं से युक्त सामग्री से भरपूर होगा, शोध-कार्य उतना ही अधिक सारपूर्ण एवं स्तरीय होगा।

7.3.1. शोध-विषय का स्वरूप

शोध का विषय शोध के क्षेत्र और शोध की दृष्टि के योग से निर्मित होता है। शोध-विषय में शोध का क्षेत्र भी निर्धारित होता है और शोध की दृष्टि भी। निबन्ध की भाँति केवल क्षेत्र को केन्द्र में रखकर शोध-विषय स्वीकृत नहीं किये जाते। उदाहरण के लिए 'गोस्वामी तुलसीदास' निबन्ध का विषय तो हो सकता है, किन्तु शोध का नहीं। शोध के लिए विषय का दृष्टियुक्त होना आवश्यक है। अतः तुलसीदास पर दृष्टियुक्त विषय का उदाहरण होगा 'निगमागम परम्पराओं की दृष्टि से तुलसी-काव्य का विवेचन'। निगम ऋषियों की वैदिक परम्परा है और आगम मुनियों (बौद्ध और जैन) की अवैदिक परम्परा। यह विषय नया और महत्त्वपूर्ण है, किन्तु इसके लिए भारतीय संस्कृति की परम्परा का गहन ज्ञान अपेक्षित है। सामान्य शोधक इस विषय के साथ न्याय नहीं कर पायेगा। इससे मिलता-जुलता विषय है 'सन्त और वैष्णव भक्तिधाराओं के समन्वय की दृष्टि से तुलसी-काव्य का अध्ययन'। ये दोनों विषय सम्भावनाओं से युक्त होते हुए भी व्यावहारिक प्रतिपादन की दृष्टि से जटिल है, क्योंकि इनमें दुहरी दृष्टियाँ निहित हैं। शोध के विषयों की सबसे बड़ी स्वरूपगत पहचान यही है कि उनका क्षेत्र सीमित हो और उस क्षेत्र के मन्थन की दृष्टि इकहरी और सुपरिभाषित हो। विषय की निर्मिति स्पष्ट और सीमित शब्दों में होनी चाहिए।

शोध के क्षेत्र और दृष्टि के संयोजन के आधार पर शोध-विषय मोटे तौर पर चार प्रकार के हो सकते हैं :

(1) व्यापक क्षेत्र और व्यापक दृष्टि से युक्त विषय - इस प्रकार के विषय का उदाहरण है 'कृष्ण भक्ति-काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन'। कृष्ण-भक्ति

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

काव्य में केवल दो-चार काव्य नहीं है, इसमें अनेक कवियों के काव्य समाहित हैं। इसी प्रकार सांस्कृतिक दृष्टि में नैतिक, दार्शनिक, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, सौन्दर्यशास्त्रीय आदि अनेक दृष्टियाँ गुम्फित हैं।

(2) दूसरे प्रकार के विषय हैं 'व्यापक क्षेत्र और सीमित दृष्टि से युक्त विषय'। इस प्रकार के विषय का उदाहरण है - 'सन्त-काव्य-परम्परा में गुरु-महिमा का स्वरूप'। क्षेत्र व्यापक होते हुए भी यह विषय दृष्टि की स्पष्टता, सीमितता के कारण दुस्साध्य नहीं है।

(3) तीसरे प्रकार के विषय हैं 'सीमित क्षेत्र और व्यापक दृष्टि से युक्त विषय'। इसका सुन्दर उदाहरण है 'रामचरितमानस का सांस्कृतिक दृष्टि से अनुशीलन'। 'चिन्तन-पक्ष' में भी अनेक चिन्तन-दृष्टियाँ समाहित रहती हैं। अतः इसका दूसरा उत्तम उदाहरण है' कामायनी का चिन्तन-पक्ष'।

(4) चौथे प्रकार के विषय हैं 'सीमित क्षेत्र और सीमित दृष्टि से युक्त विषय'। रामचरितमानस या साकेत या प्रियप्रवास या कामायनी का मनोवैज्ञानिक या सौन्दर्यशास्त्रीय या शैलीवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन, इस प्रकार के विषय के उदाहरण हो सकते हैं। तथ्यों के सहारे चिन्तन को पराकाष्ठा पर पहुँचाने वाले प्रतिभाशाली, लक्ष्यनिष्ठ, मनस्वी शोध-छात्रों के लिए ऐसे सीमित विषय बहुत ही उपलब्धिपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं। इसमें शोधक की दृष्टि शोध-प्रबन्ध के कलेवर की स्थूलता पर न जाकर चिन्तन की गहनता और सूक्ष्मता पर केन्द्रित रहती है। विषय-प्रतिपादन की गुणवत्ता का उत्कर्ष ही उत्तम शोध की कसौटी है।

7.3.2. परिकल्पना और शोध-दृष्टि

हिन्दी में शोध-दृष्टि के लिए परिकल्पना का प्रयोग होने लगा है, जो मूलतः विज्ञानों और समाजविज्ञानों से सम्बद्ध शोध के सन्दर्भ में प्रयुक्त हाइपॉथेसिस (Hypothesis) के पर्याय के रूप में प्रचलित हुआ है। वास्तव में विज्ञान, समाजविज्ञान और साहित्य तीनों भिन्न प्रकृति की ज्ञानात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं। विज्ञान पूर्णतः भौतिक और तथ्यात्मक है; साहित्य मूलतः भावना, कल्पना और चिन्तन पर आधारित होने के कारण अधिकांशतः सूक्ष्म और अनुभूतिगत है; समाजविज्ञान जितने बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर हैं, उतने ही भीतरी मनःस्थितियों या मानसिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं पर भी आश्रित हैं। विज्ञान और समाजविज्ञान के सारे तथ्य शोधक के समक्ष नहीं होते। वैज्ञानिक को प्रयोगशाला में और समाजविज्ञानी को सामाजिक

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सर्वेक्षण या क्षेत्र-कार्य (फ़ील्ड-वर्क) के द्वारा अपने तथ्यों का संकलन और परीक्षण करना होता है। साहित्य-शोधक की स्थिति इनसे काफ़ी भिन्न है। 'गोदान' पर शोध करने वाले शोधक को अपने सारे तथ्य गोदान में प्राप्त हैं। वह गोदान के एक-दो बार के अध्ययन से ही गोदान में निरूपित सामाजिक समस्याओं के स्वरूप के बारे में पर्याप्त विश्वसनीय जानकारी प्राप्त कर सकता है। वह समाजशास्त्रीय दृष्टि के आधार पर गोदान में निरूपित सामाजिक समस्याओं का अध्ययन अपने शोध का विषय चुन सकता है। अतः साहित्यिक शोध की 'दृष्टि' विज्ञान और समाजविज्ञान की 'परिकल्पना' की अवधारणा से कहीं अधिक साधार, स्पष्ट, विश्वसनीय और पुष्ट है। शोध-दृष्टि के निरस्त होने की कोई आशंका नहीं है, किन्तु एक सम्भावित शोध-दृष्टि के रूप में परिकल्पना या हाइपॉथेसिस तो होती ही कामचलाऊ (tentative) है, जो अधिकतर स्थितियों में प्रमाणित हो जाती है, किन्तु कुछ स्थितियों में निरस्त भी हो जाती है। समाज-विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् जी.ए. लुण्डबर्ग (G.A. Lundberg) का परिकल्पना की अवधारणा के सम्बन्ध में स्पष्ट अभिमत है कि परिकल्पना एक कामचलाऊ सामान्यीकरण है, जिसकी सत्यता की परीक्षा अभी होनी शेष है। नितान्त प्रारम्भिक सोपानों पर परिकल्पना कोई भी अटकलपच्चू अनुमान, काल्पनिक विचार, अन्तर्ज्ञान या अन्य कुछ भी हो सकता है, जो शोध-कार्य या अनुसन्धान का आधार बन जाता है। लुण्डबर्ग की मूल परिभाषा इस प्रकार है, "An hypothesis is a tentative generalization, the validity of which remains to be tested. In its most elementary stages, the hypothesis may be any hunch guess, imaginative idea or intuition whatsoever, which becomes the basis of action or investigation."

वास्तव में विज्ञानों और समाजविज्ञानों में परिकल्पना कार्यारम्भ के लिए एक सम्भावनायुक्त या अनुमानाश्रित कामचलाऊ दृष्टि का काम करती है। कार्य आगे बढ़ाने पर जब तथ्य परिकल्पना के विरुद्ध जाते प्रतीत होते हैं, तो वैज्ञानिक या समाज-वैज्ञानिक को उस कामचलाऊ परिकल्पना में परिवर्तन करना पड़ता है। इसीलिए शोध-कार्य के प्रारम्भ से पूर्व परिकल्पना का निर्माण आवश्यक है या नहीं - विद्वानों में इस पर मतभेद है। मार्गरेट स्टेसी शोध-कार्य के प्रारम्भ से पूर्व परिकल्पना के निर्माण के विरुद्ध हैं। उन्होंने कई ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जिनमें शोध-कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व कोई परिकल्पना निर्मित नहीं की गयी और जब विषय से सम्बद्ध प्रचुर सामग्री संकलित हो गयी, तब परिकल्पनाएँ निर्मित की गयीं तथा सिद्धान्त स्थापित किये गये। गुडे और हट्ट शोध-कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व परिकल्पना निर्मित

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

करना आवश्यक मानते हैं। परिकल्पना के सम्बन्ध में ऐसी अनिश्चयात्मक स्थिति में डॉ. रवीन्द्रनाथ मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'सामाजिक शोध व सांख्यकी' में परिकल्पना के खतरों के सम्बन्ध में सचेत करते हुए लिखा है, 'पर इसमें यह ख़तरा होता है कि कभी-कभी अनुसन्धानकर्त्ता प्राक्कल्पना को ही अपने अध्ययन का वास्तविक निष्कर्ष मान लेने की ग़लती करता है और उस अवस्था में वह तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर इस प्रकार एकत्रित व प्रस्तुत करता है, जिससे कि प्राक्कल्पना की सत्यता ही प्रमाणित हो।' इसी सन्दर्भ में वे आगे लिखते हैं, 'वैज्ञानिक निष्कर्ष का आधार कामचलाऊ विचारों द्वारा निर्मित प्राक्कल्पना नहीं, अपितु प्रत्यक्ष होने वाले वास्तविक तथ्य ही हैं – इस सत्य को भूल जाना वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिए आवश्यक ख़तरे को मोल लेना ही होता है।' श्री वेस्टावे (Westaway) के अनुसार परिकल्पनाएँ वे लोरियाँ हैं जो असावधान (शोधक) को बहला कर सुला देती हैं।' (Hypotheses are the cradle songs which lull the unwary to sleep) सामाजिक विज्ञानों में अधिक विश्वसनीय परिकल्पना निर्मित करना निम्नलिखित सम्भाव्य कारणों से काफ़ी कठिन है। – (1) आधुनिक समाज की संरचना की जटिलता (2) परिवेशगत परिवर्तनों की तीव्रता (3) सांस्कृतिक सम्मिश्रण (4) अनुसन्धाता की पक्षपातपूर्ण दृष्टि (5) सूचनादाता (informer) की पक्षपातपूर्ण दृष्टि (6) समाज में व्याप्त जातिगत, धर्मगत पक्षपात आदि।

स्पष्ट है कि शोध-दृष्टि के विषय में इतनी शंका-आशंकाएँ नहीं हैं। शोध-दृष्टि शोध्य ग्रन्थ के अध्ययन के आधार पर ग्रहण की जाती है और अध्ययन के आधारभूत तथ्य शोध्य ग्रन्थ में सुलभ रहते हैं। द्विविध या त्रिविध सम्भावनाओं से युक्त दृष्टियाँ भी निरापद् रूप में ग्राह्य हो सकती हैं। विद्यापति की पदावली में राधा-कृष्ण का शृंगार भक्ति के स्तर पर निरूपित होने के कारण उसमें मधुरा भक्ति या शृंगारमूला भक्ति का निरूपण हुआ है। ऐसी स्थितिं में पदावली का अध्ययन तीनों दृष्टियों से किया जा सकता है –

(1) विद्यापति पदावली में शृंगार-निरूपण
(2) विद्यापति पदावली में भक्ति-रूपण
(3) विद्यापति पदावली में मधुरा भक्ति का स्वरूप

शोध-दृष्टि ठोस सम्भावनाओं और तथ्यों पर आधारित होने के कारण न तो निरस्त होती है, न ही परिवर्तित या संशोधित करनी पड़ती है और न ही त्यागनी पड़ती है। शोध-दृष्टि के सम्बन्ध में आपत्तिजनक स्थितिं तब उत्पन्न होती है, जब शोधक स्वयं या निर्देशक के निर्देशानुसार किसी साहित्यिक कृति पर अपनी पूर्वनिर्धारित दृष्टि या विचारधारा आरोपित करता है और उस कृति को असफल या सफल अथवा

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

निकृष्ट या उत्कृष्ट सिद्ध करने का प्रयास करता है। यह संकट तब अपने उत्कर्ष पर दिखलायी पड़ता है जब कोई विशिष्ट विचारधारा विश्वविद्यालयीय विभागों का राष्ट्र-धर्म की भाँति शोध-धर्म बन जाती है।

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में कहा जा सकता है कि साहित्यिक शोध के सन्दर्भ में 'परिकल्पना' के स्थान पर 'शोध-दृष्टि' का प्रयोग ही अधिक संगत है। 'परिकल्पना' अपने मूल रूप में ही संदेहास्पद है, जबकि शोध-दृष्टि निश्चित, असन्दिग्ध और निरापद् है। वैसे भी 'शोध-विषय' के निर्धारण में शोध का क्षेत्र जितना सुनिर्धारित होगा तथा शोध-दृष्टि जितनी स्पष्ट और सुनिर्धारित होगी, शोध-विषय उतना ही स्पष्ट एवं सुग्राह्य होगा। शोध एक शास्त्र या दर्शन है, जो दृष्टि की स्पष्टता, स्वच्छता, गम्भीरता पर आधारित है। 'दृष्टि' शब्द अत्यन्त व्यापक है, जो सभी प्रकार की समस्यात्मक चिन्तना, प्रश्न, मुद्दे, वैचारिक आयाम को अपनी परिधि में समाहित किये हुए है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक शोध-विषय के शीर्षक में 'दृष्टि' शब्द का प्रयोग करणीय ही हो। प्रत्येक विषय में एक विचार्य मुद्दा, प्रश्न या विचार-बिन्दु निहित रहता है, जो उस विषय के विवेचन की केंद्रीय दृष्टि बनता है। उदाहरण के लिए 'मैथिली भाषा की रूपरचना' में रूपरचना की दृष्टि से मैथिली भाषा का विश्लेषण-विवेचन अभिप्रेत है। 'कामायनी का सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन' विषय में दृष्टि का मूल आधार तो कामायनी में उपलब्ध सौन्दर्यात्मक सामग्री ही है, किन्तु उसके सम्यक् एवं सर्वांगीण विश्लेषण-विवेचन के लिए सौन्दर्यशास्त्रीय प्रतिमानों का आश्रय लेना नितान्त उपयोगी है। इस प्रकार दृष्टि में बाहरी-भीतरी, शास्त्रीय और कृतिगत दृष्टियों का सामंजस्य निहित रहता है, जो अध्ययन को अधिकाधिक विश्वसनीयता और समग्रता प्रदान करता है।

7.3.3. विषय-चयन

शोध-कार्य में विषय-चयन का विशेष महत्त्व है। अतः इस सम्बन्ध में बहुत सतर्कता अपेक्षित है। शोधार्थी को बिना सोचे-समझे ऐसा कोई विषय शोधार्थ नहीं चुन लेना चाहिए, जो कालान्तर में रुचि, योग्यता और व्यावहारिक जीवन के अनुरूप सिद्ध न हो। विषय-चयन में यह नकारात्मक पक्ष बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। विषय दुर्ग्राह्य, अनिश्चित, अनुपयोगी न सिद्ध हो, इस सम्बन्ध में बहुत अधिक सतर्कता आवश्यक है। एक बार अनुपयुक्त या असंगत विषय चुन लेने पर फिर उससे मुक्त होने के लिए अनेक विश्वविद्यालयीय औपचारिकताओं से गुज़रना पड़ता है और फिर नया विषय चुनने और उसे विविध स्तरों पर स्वीकृत कराने में उतना ही समय लगता

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

है। विषय-चयन का भी एक दर्शन है, जिसका ज्ञान शोधार्थी के लिए अनिवार्य है।

(क) विषय-चयन की दृष्टि : प्रत्येक शोधार्थी का प्राथमिक लक्ष्य आत्मोद्धार ही होता है, शुद्ध साहित्योद्धार नहीं। हाँ, शोधक साहित्योद्धार के माध्यम से आत्मोद्धार चाहता है। आज के आर्थिक संकट के युग में 'शोध शोध के लिए' का सिद्धान्त अपनाना और उसका निरापद् रूप में निर्वाह करना दुष्कर है। अतः प्रत्येक शोधक चाहता है कि किसी उपयुक्त विषय पर शोध-कार्य द्वारा उपाधि अर्जित करके कहीं किसी महाविद्यालय में प्राध्यापक-पद प्राप्त कर ले और एक सुखद, सार्थक जीवन यापन करे। चयन को अधिकाधिक उपयोगी, सार्थक और आत्मानुरूप बनाने के लिए शोधक को सर्वप्रथम अपनी सीमाओं और शक्तियों का तटस्थ रूप में सम्यक् आकलन करना होगा। विषय-चयन के लिए अपनी रुचियों और प्रातिभ क्षमताओं का बोध आवश्यक है। आत्मानुकूल विषय ही आत्माभिव्यक्ति का प्रभावशाली माध्यम बन सकता है।

इतिहास स्वयं बड़ा विवेकपूर्ण चयनकर्त्ता है। वह निरर्थक और अप्रासंगिक तत्त्वों को त्यागता चलता है और सार्थक और प्रासंगिक को सुरक्षित रखता है। मिश्र बन्धुओं ने अपने 'मिश्र बन्धु विनोद' में पाँच हज़ार कवियों का जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया था, किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उनमें से एक हज़ार प्रतिनिधि कवियों को ही चुनकर अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में स्थान दिया। अतः अब इतिहास द्वारा परित्यक्त रचनाकारों के जन्मकाल, जीवन-परिचय, साहित्यिक मूल्यांकन आदि पर शोध-कार्य करने में कोई तुक नहीं है। ऐसे विषयों की अब न ऐतिहासिक महत्ता है और न ही शोधगत उपयोगिता। अज्ञात, स्तरहीन, गौण कवियों के उद्धार से न तो साहित्योद्धार सम्भव है और न आत्माभिव्यक्ति की सार्थकता ही सिद्ध होती है। महत्त्वपूर्ण रचनाकार की प्रभावपूर्ण रचना ही शोधक की शोध-प्रतिभा के प्रकाशन का समर्थ माध्यम हो सकती है। अतः निष्प्राण, नीरस, शिल्पहीन पाण्डुलिपियों को भी शुद्ध उद्धार की भावना से शोध का विषय बनाना न तो साहित्य के साथ न्याय है और न ही स्वयं अपने साथ। ऐसे शोधक को अपनी त्रुटि का बोध तब होता है, जब साक्षात्कार के समय उससे कोई विद्वान् कोई प्रश्न ही नहीं पूछ पाता।

आत्माभिव्यक्ति की दृष्टि से तो शोधक के लिए सबसे अधिक उपयोगी शोध-विषय वही है, जिस पर व्याख्यान देने के लिए उसे विविध संस्थाओं द्वारा समय-समय पर आमन्त्रित किया जाये, जिस पर वह अनेक शोध-पत्र प्रकाशित कर सके, जिसका ज्ञान उसके अध्यापन और दिन-प्रतिदिन के सम्भाषण में भी सहायक और उपयोगी सिद्ध हो सके। शोध-विषय आत्मोद्धार तभी कर सकता है, जब वह आत्मा का अभिन्न अंग बन जाये।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जिस प्रकार शोधकों की रुचियों, अनुभव, अध्ययन, योग्यता और प्रतिभा में स्वरूपगत अन्तर है, उसी प्रकार साहित्य के विभिन्न कालों, रचनाकारों, विधाओं, धाराओं आदि में भी स्वरूपगत अन्तर है। भले ही इसे सिद्धान्त-रूप में ग्रहण न किया जाये, किन्तु सामान्यतः यह सही है कि जिन व्यक्तियों की गद्य में गति है, उनकी कविता में उतनी अभिरुचि नहीं पायी जाती। इसी प्रकार कविता-प्रेमी व्यक्ति गद्य-विधाओं में कम ही रुचि ले पाते हैं। यह भी सच है कि कविता को आचार्य शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. रामविलास शर्मा आदि जैसे उत्कृष्ट समालोचक-शोधक प्राप्त हुए हैं, वैसे गद्य-विधाओं को नहीं मिल सके। वस्तुतः कविता की उदात्त अनुभूति और उत्तम शिल्प के लिए उच्चस्तरीय प्रतिभा की ही आवश्यकता है। कवि की भाँति काव्य-शोधक की मानसिकता गद्यकार और गद्य-शोधक से भिन्न होती है। काव्यशास्त्रीय, भाषावैज्ञानिक, शैलीवैज्ञानिक अध्ययन के लिए वैज्ञानिक के अनुरूप बौद्धिकता की आवश्यकता है। लोकसाहित्यिक शोध के लिए विशिष्ट प्रकार के संस्कारों की आवश्यकता है। यही प्रतिभा-भेद कालों पर भी लागू होता है। भक्तिकाल के संस्कारों में ढला हुआ शोधक आधुनिकता और आधुनिकता-बोध से दूर ही रहता है। छायावादी संस्कारों में ढला-पला शोधक प्रगतिवादी कविता के साथ न्याय नहीं कर सकता।

यहाँ शोध-विषयों की सापेक्ष मूल्यवत्ता पर विचार करना भी प्रासंगिक होगा। यों तो सभी शोध-विषय अपने-अपने स्थान पर मूल्यवान् हैं, किन्तु मानव-जीवन, समाज, राष्ट्र तथा सामाजिक समस्याओं से सीधे सम्बद्ध विषय शास्त्रीय, भाषिक, तकनीकी विषयों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् हैं। उदाहरण के लिए 'तुलसी काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन' विषय 'तुलसी की अलंकार-योजना' या 'तुलसी-काव्य में पदबन्ध-प्रयोग' से कहीं अधिक उपयोगी और व्यावहारिक है। तुलसी का काव्य और सांस्कृतिक दृष्टि – दोनों ही शोधक के जीवन के प्रत्येक व्यवहार क्षेत्र में पग-पग पर काम आते हैं और शोधक के जीवन को सच्ची सार्थकता प्रदान करते हैं।

(ख) विषय-चयन की तैयारी : विषय-चयन की गम्भीरता को ध्यान में रखते हुए शोधक को पूरी तत्परता से प्रयासरत रहना चाहिए। सर्वप्रथम उसे अब तक सम्पन्न हुए विविध विषयक शोध-प्रबन्धों की जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। इस जानकारी के लिए उसे डॉ. उदयभानु सिंह के ग्रन्थ 'हिन्दी में प्रकाशित शोध-प्रबन्ध' की सहायता लेनी चाहिए। डॉ. गिरिराजशरण अग्रवाल ने हिन्दी में सम्पन्न शोध-प्रबन्धों का विवरण 'शोध सन्दर्भ-एक', 'शोध सन्दर्भ-दो' तथा 'शोध सन्दर्भ-तीन' में प्रस्तुत किया है। सम्पन्न शोध-प्रबन्धों की जानकारी से हिन्दी-शोध के क्षेत्रों तथा विविध दृष्टियों के बारे में अपेक्षित ज्ञान प्राप्त होता है तथा अभी तक अछूते क्षेत्रों तथा

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

दृष्टियों का पता चलता है। विभाग में शोधरत वरिष्ठ शोधकों तथा शोध-निर्देशकों से सम्पर्क करने से भी सम्यक् दिशा और दृष्टि प्राप्त होती है। शोधार्थी को चाहिए कि वह अपनी रुचि और पैठ के अनुसार शोध के क्षेत्रों और दृष्टियों को अपने ध्यानार्थ डायरी में अंकित करता चले। विषय-चयन का मार्ग अनिश्चयों से निश्चय और विकल्पों से संकल्प की ओर जाता है। अतः पहले वैकल्पिक विषयों की सूची तैयार करना उपयोगी है। ये वैकल्पिक विषय भी शोधक की रुचि, अध्ययन, अनुभव, योग्यता, प्रतिभा की परिधि में पड़ने वाले विषय ही होते हैं। अनिश्चयों से निश्चय की ओर जाने वाली बुद्धि को निश्चयात्मिका बुद्धि कहा जाता है। कुछ समय तक विकल्पों पर गहरायी से विचार करके तथा विद्वानों और निदेशक से बार-बार विचार-विमर्श करके गहन आत्म-मन्थन और आत्म-चिन्तन से गुज़रना विषय-चयन की तैयारी का ही मनोवैज्ञानिक पक्ष है। सुविचारित विकल्प ही सुनिश्चित संकल्प के सोपान सिद्ध होते हैं।

(ग) विषय का चयन और स्वरूप-निर्धारण : कुल मिलाकर तो शोधार्थी को अन्त में किसी एक विषय को शोधार्थ चुनना होता है। विषय के अन्तिम निर्णय तक पहुँचने के तीन मार्ग सम्भव हैं। प्रथम मार्ग तो यह है कि विषय-चयन की तैयारी के दौरान विशेष चिन्तन-मनन से गुज़रा हुआ सुयोग्य, प्रतिभाशाली शोधक अपनी रुचि, क्षमता और लक्ष्य के अनुरूप विषय स्वयं ही चुन लेता है। निर्देशक शोधार्थी द्वारा प्रस्तावित विषय को या तो ज्यों-का-त्यों ही अथवा किंचित् परिवर्तन के साथ स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार शोधार्थी द्वारा चुने हुए विषय पर निर्देशक की सहमति और स्वीकृति की मोहर भी लग जाती है, जो व्यावहारिक दृष्टि से भी बहुत आवश्यक है। यदि शोधार्थी स्वयं समर्थ नहीं है, तो दूसरा मार्ग अपनाना पड़ता है। ऐसी स्थिति में निर्देशक शोधार्थी की रुचि, योग्यता आदि के अनुरूप दो-चार विषय प्रस्तावित करता है, जिनमें से शोधार्थी अपने लिए सर्वाधिक अनुकूल विषय को चुन लेता है। तीसरा मार्ग समन्वयवादी है। शोधक और निर्देशक दोनों ही अपनी ओर से कुछ वैकल्पिक विषय प्रस्तावित करते हैं, जिनमें से किसी एक पर दोनों की सहमति हो जाती है।

स्पष्ट है कि विषय-चयन में शोधार्थी के साथ निर्देशक की भूमिका भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं निर्णायक है। निर्देशक की प्रतिभा, अनुभव आदि का पूरा लाभ शोधार्थी को प्राप्त होता है। निर्देशक विषय निर्धारित करते समय स्वयं आश्वस्त होता है कि चुना हुआ विषय शोध की नयी सम्भावनाओं से युक्त है तथा उसके रूप में किसी घिसे-पिटे पुराने विषय की आवृत्ति नहीं हुई है। इसी प्रकार शोधार्थी भी आश्वस्त होता है कि शोध का क्षेत्र, कृतिकार, कृति, विधा, शोध-दृष्टि आदि सभी उसकी

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

रुचि और प्रतिभा के सर्वथा अनुरूप हैं तथा वह इस विषय में निहित ज्ञान-विस्तार की सारी सम्भावनाओं को सफलतापूर्वक उजागर कर सकेगा। सच्चा निर्देशक अपने शोधार्थी पर कोई विषय थोपता नहीं है। सहमति से चुना हुआ विषय शोधक की शोध-क्षमता के उत्कर्ष का साक्षात्कार कराता है और निर्देशक की निर्देशन-प्रतिभा के प्रकर्ष को उजागर करता है।

उपाधि के स्तर के अनुरूप विषय का स्तर भी उच्चतर होता चला जाता है। एम.फिल. के लिए 100-150 पृष्ठों में लिखे जाने वाली शोध-प्रबन्धिका का क्षेत्र भी सीमित होता है और दृष्टि भी सीमित। पीएच.डी. उपाधि के लिए 250-300 पृष्ठों में लिखे जाने वाले शोध-प्रबन्ध का क्षेत्र अपेक्षाकृत विस्तृत होता है और दृष्टि भी गहनतर और सूक्ष्मतर। डी.लिट्. के 400-500 पृष्ठों में लिखे जाने वाले शोध-प्रबन्ध में चिन्तन-पक्ष या सिद्धान्त-निरूपण पर विशेष बल रहता है। विभिन्न उपाधियों के लिए चुने गये विषयों के स्वरूप में यह अन्तर उतना स्पष्ट रूप में भासित नहीं होता, जितना विषय-निरूपण के स्तर में प्रकट होता है। किन्तु कई बार पीएच.डी. के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध गुणवत्ता की दृष्टि से डी.लिट्. के शोध-प्रबन्ध को भी पीछे छोड़ देते हैं। कुल मिलाकर शोध का स्तर शोधक की प्रतिभा, निष्ठा और परिश्रम पर निर्भर होता है।

चुने हुए विषय का स्वरूप सुनिर्धारित करने के लिए क्षेत्र और दृष्टि से सम्बन्धित शब्दों का स्पष्ट उल्लेख आवश्यक है, यथा 'साकेत का सांस्कृतिक दृष्टि से अध्ययन'।



CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अध्याय – 8

रूपरेखा–निर्माण

विषय–चयन के उपरान्त शोध–कार्य में विधिवत् प्रवृत्त होने के लिए एक रूपरेखा अपेक्षित है। रूपरेखा के बिना न तो शोध–कार्य को दिशा और दृष्टि मिलती है और न ही अन्वितिमूलक व्यवस्था और क्रमबद्धता।

8.1. रूपरेखा : अर्थ और परिभाषा

रूपरेखा का शाब्दिक अर्थ है रूप की रेखाएँ। रूप स्थूल भी हो सकता है और आत्मायुक्त, सजीव, सचेतन आकार भी। अतः रूप की रेखाएँ उस रूप में जड़ या चेतन स्वरूप पर निर्भर होती हैं। एक भवन एक शोध–प्रबन्ध की अपेक्षा स्वरूप की दृष्टि से कहीं अधिक स्थूल है, यद्यपि उसमें भी उपयोगितापरक, सौन्दर्यमूलक मानवीय चेतना अनुस्यूत है। भवन–निर्माता भवन को जो रूप देना चाहता है, उसकी सुचिन्तित परिकल्पना के आधार पर वह भवन की रूपरेखा तैयार करता है, जिसे 'मकान का नक्शा' कहा जाता है। शोध–कार्य पर आश्रित शोध–प्रबन्ध का रूप दो सौ–तीन सौ पृष्ठों के स्थूल आकार तक ही सीमित नहीं है, वरन् उस आकार में शोधक का बौद्धिक कर्म–कौशल भी निहित है। शोध–प्रबन्ध में शोधक का बौद्धिक क्रिया–व्यापार साकार होता है। शोध और शोध–प्रबन्ध के सन्दर्भ में 'रूप' शब्द प्रबन्ध के कलेवर में साकार तथ्याश्रित एवं तर्कसम्मत चिन्तन के सुनियोजित स्वरूप का द्योतक है। रूप के समान ही यहाँ रेखाओं का अर्थ भी लाक्षणिक है। यहाँ रेखाएँ स्थूल और सपाट नहीं हैं, वरन् चिन्तन को आकार देने वाले अध्यायों, उन अध्यायों में समाहित शीर्षकों–उपशीर्षकों के रूप में प्रस्तुत योजना–सूत्रों का आकार ग्रहण कर

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

लेती है। इस प्रकार रूपरेखा शोध-प्रबन्ध के सूक्ष्म बौद्धिक स्वरूप को नियोजित करने वाली योजना के सूत्रों की सुविचारित संरचना है। शोध-प्रबन्ध की रूपरेखा में ऐसी व्यवस्था रहती है, जिसके आधार पर वर्गीकृत तथ्यों के विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्षों को प्रबन्ध के कलेवर में यथास्थान क्रमबद्ध रूप में संजोया जा सके। रूपरेखा शोध के बोध-पक्ष को प्रबन्धात्मक या क्रमबद्ध रूप में सूत्रबद्ध करती है। रूपरेखा में शोध-प्रबन्ध की शोधात्मकता भी निरूपित होती है और प्रबन्धात्मकता भी।

हिन्दी में 'रूपरेखा' शब्द अंग्रेजी के सिनॉप्सिस (Synopsis) के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता है। 'सिनॉप्सिस' शब्द का कोशगत अर्थ है समरी (summary) अथवा सार-संग्रह। इस प्रकार सिनॉप्सिस शोध-प्रबन्ध की वह सारभूत बुनियादी वैचारिक सामग्री है, जिसके आधार पर समूचे शोध-प्रबन्ध का सर्वांगीण विकास होता है। यद्यपि रूपरेखा शब्द अंग्रेज़ी के 'सिनॉप्सिस' के अर्थों में रूढ़ हो गया है, तथापि यह सिनॉप्सिस का सही पर्याय नहीं है। 'सिनॉप्सिस' की भाँति रूपरेखा शोध-प्रबन्ध का सार मात्र नहीं है, वरन् वह विषय-प्रतिपादन के युक्तिसंगत विकास को ध्यान में रखकर बनाया गया समूची शोध-क्रिया का वैचारिक ढाँचा है। 'सिनॉप्सिस' में शोध की आत्मा तो निवास करती है, किन्तु उसके कलेवर की प्रबन्धात्मकता या गठन की ओर कोई संकेत नहीं है। रूपरेखा रूप के साथ ही उस रूप में निहित आत्मा का भी बोध कराती है।

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में यहाँ रूपरेखा की परिभाषा प्रस्तुत की जा सकती है। रूपरेखा शोध-विषय के तथ्यात्मक एवं तर्कसंगत प्रतिपादन का वह सुविचारित योजनासूत्र है, जिसके अनुसरण से समूचा शोध-बोध सुव्यवस्थित या प्रबन्धात्मक रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

8.2. रूपरेखा का महत्त्व

रूपरेखा का महत्त्व उस स्थिति में तुरन्त समझ में आ जाता है, जब हम नकारात्मक दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करें कि यदि रूपरेखा बनायी ही न जाये, तो क्या हानि होगी? जो शोधार्थी बिना किसी रूपरेखा के अथवा यों ही शीघ्रता में बनायी या बनवायी हुई उलझनपूर्ण, असम्बद्ध, अव्यवस्थित तथाकथित रूपरेखा के आधार पर सामग्री-संकलन तथा प्रबन्ध-लेखन में जुट जाते हैं, वे न तो शोध-ग्रन्थ से योजनाब्द्ध रूप में सामग्री संकलित कर पाते हैं और न संकलित सामग्री का वर्गीकृत रूप में सही स्थान पर सही विश्लेषण-विवेचन ही कर पाते हैं। निश्चित पूर्व योजना के अभाव में उनके सारे प्रयत्न दिशाशून्य, अन्तहीन भटकन का रूप ग्रहण करते हैं। वे

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

न तो अध्यायों का सही विभाजन कर पाते हैं और न अध्यायों में उपयुक्त शीर्षकों-उपशीर्षकों की योजना कर पाते हैं। छठे अध्याय की सामग्री चौथे में और दूसरे की आठवें में विवेचित होने के कारण समूचा शोध-प्रबन्ध असम्बद्ध सामग्री का अराजकतापूर्ण परिदृश्य प्रस्तुत करता है। कई बार विषय-प्रवेश ही 'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता' की भाँति बढ़ता चला जाता है और विषय-विवेचन के अनुपात को गड़बड़ा देता है। ऐसे तथाकथित शोध-प्रबन्धों में घोर अव्यवस्था और अराजकता की स्थिति व्याप्त रहती है।

रूपरेखा शोध-विषय की समग्र सम्भावनाओं को ध्यान में रखकर समूचे शोध-प्रबन्ध का अन्वितिमूलक ताना-बाना प्रस्तुत करती है। यह शोध-विषय के मूल विचार सूत्रों को वर्गीकृत एवं क्रमबद्ध रूप में अपने लघु आकार में समेटे रहती है, जिनमें बीज-रूप में विषय का सम्पूर्ण विस्तार अपने सभी आयामों के साथ समाहित रहता है। रूपरेखा के माध्यम से केन्द्रीय विचार-सूत्र अथवा दृष्टि-बिन्दु व्यापक होकर शोध-प्रबन्ध के बहुआयामी विस्तार में परिणत हो जाता है और शोध-प्रबन्ध का समूचा विस्तार केन्द्रीय तत्त्व-चिन्तन से अन्वित रहता है। रूपरेखा विषय के केन्द्र को परिधि तक फैला देती है और परिधि को केन्द्र से सम्बद्ध रखती है। समूची शोध-प्रक्रिया गहनता से विस्तार की ओर और विस्तार से गहनता की ओर उन्मुख रहती है।

शोध-कार्य एक दृष्टि-सम्पन्न, अनुशासित कार्य है। रूपरेखा स्वयं शोधक द्वारा आत्म-निर्देशन के लिए आत्म-विवेक से निर्मित अनुशासन है, जो शोध-प्रबन्ध को अन्तर्बाह्य रूप में एक साथ व्यवस्थित और विकसित करता है। रूपरेखा कोई बाहर से आरोपित शासन नहीं है, वरन् यह तो स्वेच्छा से स्वहित के लिए अपनाया हुआ आत्मानुशासन है। यदि शोध-प्रबन्ध लेखन एक नियन्त्रित, योजनाबद्ध कार्य है, तो रूपरेखा दृष्टि-सम्पन्न, आधारभूत योजना-सूत्र है, जो स्वयं शोधक को दिशा, दृष्टि और गति प्रदान करता है। रूपरेखा का महत्त्व इसी तथ्य में निहित है कि शोध-विषय का क्रमबद्ध निर्वाह सुनिर्मित रूपरेखा पर ही आश्रित रहता है।

8.3. रूपरेखा के निर्धारक तत्त्व

शोध-विषय और शोधक के सम्पर्क से शोध-प्रबन्ध का उदय होता है। जैसा कि पहले भी लिखा जा चुका है, शोध-विषय और उससे सम्बद्ध सहायक सामग्री शोध-कार्य के उपादान कारण हैं और शोधक उसका निमित्त कारण है। निर्देशक शोधक का उपकारक तथा सहायक होने के कारण निमित्त कारण के अन्तर्गत ही

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परिगणित है। निमित्त कारण सचेतन और सक्रिय हैं तथा उपादान कारण अचेतन और निष्क्रिय हैं। यद्यपि अचेतन सामग्री में भी चेतन तत्त्व भावों, विचारों, कल्पनाओं के रूप में अनुस्यूत रहता है। वास्तव में शोध सचेतन शोधक और निर्देशक द्वारा अचेतन शोध-सामग्री में निहित उस चेतन तत्त्व की युक्तिसंगत खोज ही है। शोधक अचेतन में निहित चेतन तत्त्व (विचार, भाव और कल्पना) का अनुसन्धाता होता है। इस प्रकार शोध-कार्य के स्वरूप को निर्धारित करने वाले निमित्त और उपादान कारण ही रूपरेखा के स्वरूप के निर्धारक तत्त्व हैं। निमित्त कारणों में शोधक और निर्देशक सम्मिलित हैं तो उपादान कारणों में शोध-विषय और सहायक सामग्री।

रूपरेखा सुलझाने वाली होगी या उलझाने वाली, दिशा-दर्शक होगी या भ्रामक – इसका प्रथम निर्धारक तत्त्व तो स्वयं शोधक ही है। शोध-विषय की रूपरेखा कितनी सूक्ष्म, सर्वांगीण, दिशादर्शी और व्यवस्थित होगी, यह शोधार्थी की प्रतिभा, अनुभव, अध्ययन आदि पर निर्भर है। सच्चा शोधनिष्ठ शोधार्थी अपनी प्रतिभा का पूरा सदुपयोग करते हुए पहले शोध्य सामग्री का बारीकी से अध्ययन करता है और विषय की सारी सम्भावनाओं और आयामों का सतर्कतापूर्वक आकलन करता है। सामग्री के सम्यक् परीक्षण के आधार पर वह पहले अध्यायों का निर्धारण करता है और फिर उन अध्यायों के अन्तर्गत आने वाले शीर्षकों-उपशीर्षकों का निर्धारण करता है। यदि शोधक प्रबुद्ध है, परिश्रमी है, लक्ष्यनिष्ठ है तो वह स्वावलम्बन के बल पर ही एक सही और सर्वसमावेशी रूपरेखा तैयार कर सकता है। वास्तव में ज्ञान का मार्ग आत्मनिर्भरता, स्वावलम्बन और स्वातन्त्र्य का ही मार्ग है। तभी तो कहा गया है कि विद्या वही है जो स्वातन्त्र्य प्रदान करती है – 'सा विद्या या विमुक्तये'। प्रतिभाहीन, पराश्रित शोधार्थी तो पहले ही आत्मविश्वास खो बैठता है। उसके द्वारा जैसे-तैसे जोड़-तोड़ कर बनायी हुई रूपरेखा में तो आड़ी-तिरछी रेखाएँ ही होती हैं, रूप तो कहीं उभरता ही नहीं।

रूपरेखा के स्वरूप को निर्धारित करने वाला दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है शोध निर्देशक। शोध-निर्देशक शोधार्थी और शोध-विषय के मध्य संगति स्थापित करने वाला सम्पर्क-सेतु है। वह एक ओर शोध-विषय में निहित सम्भावनाओं पर दृष्टि गड़ाये रखता है तथा दूसरी ओर शोधार्थी की प्रतिभा और अध्ययन-निष्ठा पर। वह शोधार्थी की प्रतिभा और अध्ययन-निष्ठा को इस ढंग से प्रेरित, प्रोत्साहित एवं निर्देशित करता है कि विषय में निहित सारी सम्भावनाएँ शोधार्थी की पकड़ में आ जायें तथा विषय के साथ अधिकाधिक न्याय हो सके। यदि शोधार्थी प्रबुद्ध और परिश्रमी है तो उसके द्वारा स्वयं तैयार की गयी रूपरेखा ही निर्देशक के लिए तृप्तिदायक और स्वीकार्य होती है तथा वह उसमें कहीं-कहीं यथोचित संशोधन-

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परिवर्द्धन कर देता है। यदि शोधार्थी प्रबुद्ध नहीं है, तो वह जो भी रूपरेखा बनायेगा, उसका अव्यवस्थित होना निश्चित है। ऐसी स्थिति में पूरी रूपरेखा निर्देशक को ही बनानी पड़ सकती है तथा यह निश्चित है कि निर्देशक द्वारा निर्मित रूपरेखा भी शोधक की बुद्धि की पहुँच से बाहर रहेगी और वह पग-पग पर निर्देशक पर ही आश्रित रहेगा। अतः शोधार्थी का सक्षम होना शोध की प्राथमिक आवश्यकता है। रूपरेखा-निर्माण की सही प्रक्रिया यही है कि शोधार्थी अपने अध्ययन और प्रतिभा के बल पर रूपरेखा का अपनी ओर से एक ढाँचा तैयार करे तथा निर्देशक उसमें अपेक्षित काट-छाँट करके उसे सुव्यवस्थित स्वरूप प्रदान करे। यह रूपरेखा विषय-विवेचन के सारे आयामों और सम्भावनाओं से युक्त होगी। फिर भी इसे अन्तिम (final) रूपरेखा नहीं माना जा सकता। वास्तव में, शोध एक विकसनशील प्रक्रिया है। शोध करते-करते कई अन्य नयी सम्भावनाएँ शोधार्थी या निर्देशक की दृष्टि में आ सकती हैं, जिनका समावेश विषय-विवेचन की पूर्णता के लिए आवश्यक प्रतीत हो। ऐसी स्थिति में किसी भी स्तर पर पूर्वनिर्धारित रूपरेखा में यथास्थान संशोधन-परिवर्द्धन किया जा सकता है। अच्छा तो यही है कि प्रथम बार ही शोधक और निर्देशक सब पक्षों पर गहराई से विचार करके एक विश्वसनीय और सर्वांगीण रूपरेखा तैयार करें, किन्तु सुधार के द्वार तो सदैव खुले रखने ही चाहिए। वास्तव में व्यावहारिक दृष्टि से तो रूपरेखा भी उसी दिन पूरी होती है, जिस दिन शोध-प्रबन्ध-लेखन पूरा होता है।

रूपरेखा की निर्मिति को प्रभावित और निर्धारित करने वाला तीसरा तत्त्व है शोध-विषय। स्पष्ट और व्यवस्थित रूपरेखा निर्मित करने के लिए सर्वप्रथम यह नितान्त आवश्यक है कि निर्वाचित विषय का स्वरूप स्पष्ट एवं असन्दिग्ध हो। अनेक बार शोधार्थी अनुभव के अभाव के कारण ऐसे विषय चुन लेते हैं, जिनका कोई सिर-पैर नहीं होता। उदाहरणार्थ एक शोधार्थी ने विषय चुना 'संस्कृत-साहित्य में सत्यं, शिवं, सुंदरम्'। यह विषय अनेक दृष्टियों से भ्रामक और संकटपूर्ण है। प्रथम तो संस्कृत साहित्य किन्हीं दो-चार कृतियों तक सीमित नहीं है, फिर इस विषय की कोई काल-सीमा भी निर्धारित नहीं की गयी है; तीसरी संकटास्पद स्थिति यह है कि सत्यं, शिवं, सुन्दरम् नामक जिन तीन अवधारणाओं के आधार पर प्रस्तुत विषय का विवेचन वांछित है, वे भी पारिभाषिक स्तर पर बहुत स्पष्ट नहीं हैं, फिर उनकी संख्या भी अधिक है। ऐसे विषयों की रूपरेखा बनाना दुष्कर है। शोध-विषय में क्षेत्र निश्चित और सीमित हो तथा उस क्षेत्र का मन्थन एक ही दृष्टि से करणीय होना चाहिए। इस दृष्टि से 'रामचरितमानस का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन' शोध के आदर्श विषय का नमूना है, क्योंकि इसका क्षेत्र (रामचरितमानस) सीमित और निश्चित है तथा अध्ययन की एक ही दृष्टि है, जो सुनिश्चित है। ऐसे विषयों की

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

रूपरेखा भी स्पष्ट, क्रमबद्ध और विकासोन्मुख होती है।

रूपरेखा का निर्धारक चौथा तत्त्व है उपलब्ध समग्र सामग्री। यह सामग्री प्राय: तीन प्रकार की होती है –

(1) शोध-क्षेत्र की मूल सामग्री।

(2) मूल सामग्री से सम्बन्धित शोध-ग्रन्थ तथा समालोचना-ग्रन्थ।

(3) शोध-दृष्टि से सम्बन्धित सैद्धान्तिक अथवा शास्त्रीय ग्रन्थ।

उदाहरणार्थ 'रामचरितमानस का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन' विषय को लें, तो रामचरितमानस से संकलित विविध तथ्य शोध-क्षेत्र की मूल सामग्री है। रामचरितमानस के सम्बन्ध में अन्य शोधकर्त्ताओं तथा समालोचकों द्वारा लिख़ित शोध-प्रबन्ध तथा समालोचना-ग्रन्थ दूसरे वर्ग के अन्तर्गत आने वाली सामग्री है। शोधार्थी को मनोविज्ञान से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थों का अध्ययन करके अपने विषय की सैद्धान्ति-पीठिका भी प्रस्तुत करनी होती है। शोध-दृष्टि या सैद्धान्तिक पक्ष से सम्बन्धित ये ग्रन्थ तीसरे वर्ग में आते हैं। यह तीनों प्रकार की सामग्री रूपरेखा के निर्माण को निर्धारित करती है :

(1) शोध-दृष्टि के विविध पक्षों को लेकर एक अध्याय सैद्धान्तिक पक्ष पर लिखा जाता है, जो सैद्धान्तिक ग्रन्थों पर आधारित रहता है। इस अध्याय की रूपरेखा के बिन्दु इन्हीं से लिये जाते हैं।

(2) कवि और कृति के परिवेश को केन्द्र में रखकर युगीन परिस्थितियों के निरूपण से सम्बन्धित अध्याय दूसरे वर्ग के ग्रन्थों के आधार पर लिखा जाता है और रूपरेखा में उसके प्रमुख विचार-बिन्दु इन्हीं से ग्रहण किये जाते हैं।

(3) सैद्धान्ति-दृष्टि के विविध आयामों को लागू करते हुए लिखे जाने वाले व्यावहारिक निरूपण से सम्बन्धित विविध अध्यायों की सारी सामग्री मूल क्षेत्र (शोध्य ग्रन्थ) से ग्रहण की जाती है।

(4) यदि बाद में किसी सहायक ग्रन्थ में ऐसा विचार-बिन्दु मिल जाता है, जिसका समावेश रूपरेखा में आवश्यक है, तो उसे भी यथास्थान जोड़ लिया जाता है।

(5) अन्त में 'परिशिष्ट' का निर्माण भी विवेच्य ग्रन्थ या ग्रन्थों और अन्य सभी सहायक ग्रन्थों के विवरण से होता है।

8.4. रूपरेखा-निर्माण की वैज्ञानिक प्रविधि

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में रूपरेखा के विशिष्ट और संश्लिष्ट रूप को भली भाँति समझा जा सकता है। जैसे पुष्प अपने समग्र और संश्लिष्ट (synthetic)

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

रूप में एक सुविकसित फूल है, किन्तु विश्लिष्ट (analylic) स्तर पर वह डण्ठल, पंखुरियों, पराग, मधु, गन्ध आदि घटकों के रूप में पृथक्-पृथक् देखा-परखा और समझा जा सकता है। इसी प्रकार रूपरेखा समूचे शोध-प्रबन्ध के अन्तर्बाह्य तत्त्वों का समन्वित या संश्लिष्ट रूप प्रस्तुत करती है, किन्तु विश्लिष्ट रूप में उसके विधायक घटकों को पृथक्-पृथक् देखा-परखा जा सकता है। ऊपर किये गये विवेचन के आलोक में रूपरेखा के प्रमुख घटक निम्नलिखित हैं :

(1) प्रस्तावना-भाग
(2) कृतिकार, कृति तथा युगीन परिवेश
(3) सैद्धान्तिक पक्ष या शोध-दृष्टि
(4) सिद्धान्त-निरूपण के आधार पर व्यावहारिक प्रतिपादन
(5) उपसंहार
(6) परिशिष्ट।

रूपरेखा का यह घटकीय ढाँचा ही शोध-प्रबन्ध की आत्मा (चिन्तन पक्ष) का आवास है। इसमें ही आत्मा का सन्निवेश चेतन तत्त्व या निमित्त कारण के रूप में अवस्थित शोधक और निर्देशक के चिन्तन-मनन और अध्ययन के आधार पर होता है। अतः शोधक को उपर्युक्त सभी प्रकार की सामग्री का गम्भीरता से अध्ययन करने के उपरान्त ही रूपरेखा-निर्माण में प्रवृत्त होना चाहिए। रूपरेखा-निर्माण से पूर्व की इस तैयारी की महत्ता को रेखांकित करते हुए डॉ. सत्येन्द्र ने अपने 'अनुसन्धान' शीर्षक ग्रन्थ में लिखा है, 'रूपरेखा ठीक-ठीक तब तक तैयार नहीं की जा सकती, जब तक कि अनुसन्धाता अपने विषय और तत्सम्बन्धी प्रायः समस्त सामग्री से पूरी तरह परिचित नहीं हो जाता। दूसरे शब्दों में उसे अपने अनुसन्धान की प्रारम्भिक अवस्था सम्पन्न कर लेने के बाद ही रूपरेखा प्रस्तुत करनी चाहिए।' उदाहरणार्थ 'कामायनी का सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन' विषय पर शोध करने वाले शोधार्थी को कामायनी का विविधत् गहन अध्ययन करना चाहिए। कृतिकार जयशंकर प्रसाद के युग, जीवन, व्यक्तित्व, प्रेरणा-स्रोत, सौन्दर्य-दृष्टि आदि के विषय में सम्यक् जानकारी के लिए शोधक को विशेषतः कामायनी पर और सामान्यतः प्रसाद के समग्र साहित्य पर लिखित शोध-प्रबन्धों और समालोचनाओं का अध्ययन करके उनसे उपयोगी सामग्री भी संकलित करनी चाहिए। सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि की समझ के लिए उसे सौन्दर्यशास्त्र से सम्बन्धित प्रमुख ग्रन्थों का पारायण करना चाहिए।

यहाँ हम रूपरेखा के उल्लिखित घटकों को ध्यान में रखते हुए नमूने के रूप में 'कामायनी का सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन' विषय पर एक रूपरेखा का संक्षिप्त प्रारूप प्रस्तुत करके अपनी बात को और भी स्पष्ट कर सकते हैं :

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रस्तावना-भाग

1. प्रस्तुत विषय पर अब तक किये गये शोध-कार्य का विवरण।
2. प्रस्तुत विषय का महत्त्व और सम्भावित योगदान।

प्रथम अध्याय – जयशंकर प्रसाद : युग, जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व

1.1. प्रसाद का युग
1.2. प्रसाद का जीवन-वृत्त और सौन्दर्य-चेतना
1.3. प्रेरणा-स्रोत
1.4. व्यक्तित्व
1.5. कृतित्व
1.5.1. कामायनी
1.5.2. अन्य कृतियाँ

द्वितीय अध्याय – सौन्दर्य और सौन्दयरशास्त्र

2.1. सौन्दर्य : अर्थ, परिभाषा और स्वरूप
2.2. सौन्दर्यशास्त्र : अर्थ, परिभाषा और स्वरूप
2.3. सौन्दर्यशास्त्र के आयाम
2.3.1. सौन्दर्य-द्रष्टा
2.3.2. सुन्दर वस्तु और सौन्दर्य
2.3.2.1. प्राकृतिक सौन्दर्य
2.3.2.2. मानवीय सौन्दर्य
2.3.2.3. कला-सौन्दर्य
2.3.2.4. दिव्य सौन्दर्य
2.4. असुन्दरता-सुन्दरता का द्वन्द्व और सौन्दर्यानुभूति
2.5. सौन्दर्यानुभूति का सांस्कृतिक पक्ष
2.6. सौन्दर्य : सृजन और सम्प्रेषण

तृतीय अध्याय – कामायनी में प्राकृतिक सौन्दर्य

3.1. प्रसाद का प्रकृति-पर्यवेक्षण
3.2. कामायनी में प्राकृतिक सौन्दर्य के विविध रूप
3.2.1. कामायनी में स्थलीय सौन्दर्य
3.2.1.1. पर्वतीय सौन्दर्य
3.2.1.2. पर्वतेतर स्थलीय सौन्दर्य
3.2.2. कामायनी में जलीय सौन्दर्य
3.2.2.1. सागरीय सौन्दर्य

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha



CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अध्याय – 9

सामग्री–संकलन

शोध का प्राथमिक आधार वे तथ्य हैं, जिनके विश्लेषण–विवेचन से शोधक वस्तुनिष्ठ एवं प्रामाणिक निष्कर्षों तक पहुँचता है। ये तथ्य ही शोध की वस्तु या सामग्री हैं। इन्हें ही शोध के सन्दर्भ में प्राप्त निष्कर्षों या निर्णयों का प्रमाण या साक्ष्य भी कहा जाता है। शोध का समूचा ढाँचा तथ्यों पर ही आधारित है। ये तथ्य ही शोध के उपादान कारण हैं। इसलिए इन्हें 'सामग्री' भी कहा जाता है। तथ्य ही शोध की आधारभूत सामग्री या उपादान हैं, जिनसे शोध–प्रबन्ध की निर्मिति सम्भव है। स्पष्ट है कि यहाँ सामग्री–संकलन का अर्थ है शोधोपयोगी तथ्यों का संचयन।

9.1. शोध–सामग्री के प्रकार

शोध–सामग्री को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

(1) विषय–क्षेत्र से संग्राह्य सामग्री

(2) शोध–दृष्टि से सम्बन्धित ग्रन्थों से संग्राह्य सामग्री

(3) अन्य स्रोतों से संग्राह्य सामग्री।

9.1.1. विषय–क्षेत्र से संग्राह्य सामग्री

शोध की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं वे तथ्य जो सीधे विषय–क्षेत्र से ग्रहण किये जाते हैं। उदाहरण के लिए 'कामायनी का सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन' विषय के सन्दर्भ में 'कामायनी' शोध–क्षेत्र या विषय–क्षेत्र से सम्बन्धित

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मूल ग्रन्थ है। अतः शोधक सौन्दर्य के विविध प्रकारों - प्राकृतिक, मानवीय, दिव्य आदि - के सम्बन्ध में विवेचन के लिए कामायनी से ही उपयुक्त तथ्यों का चयन करेगा। स्पष्ट है कि यह सामग्री-संचयन शोध-विषय की पूर्व निर्धारित रूपरेखा के अध्यायों के शीर्षकों-उपशीर्षकों को ध्यान में रखकर ही किया जाता है। शोधक को रूपरेखा के अध्यायों और उनमें अंकित विविध शीर्षकों-उपशीर्षकों को ध्यान में रखकर कामायनी का बहुत ही ध्यान से अध्ययन करना होगा और उन शीर्षकों-उपशीर्षकों से सम्बन्धित तथ्यों को अपनी फ़ाइल में या नोट-बुक में उचित स्थान पर संकलित करना होगा, जिससे कि लिखते समय उस सामग्री के उपयोग में सुविधा रहे। प्रसाद के अन्य काव्य-ग्रन्थों से भी कुछ पोषक तथ्य चुने जा सकते हैं।

9.1.2. शोध-दृष्टि से सम्बन्धित ग्रन्थों से संग्राह्य सामग्री

शोध-दृष्टि का सम्बन्ध विषय के सैद्धान्तिक पक्ष से है। 'कामायनी का सौन्दर्य शास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन' विषय में शोध-दृष्टि का सम्बन्ध सौन्दर्यशास्त्र से है। अतः रूपरेखा को ध्यान में रखकर 'सौन्दर्य और सौन्दर्यशास्त्र' अध्याय में अंकित विविध शीर्षकों-उपशीर्षकों के लिए अपेक्षित सामग्री संकलित करने के लिए शोधक को हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत आदि के सौन्दर्यशास्त्रीय ग्रन्थों का अध्ययन करना होगा। अधिक ग्रन्थों की अपेक्षा प्रमुख स्तरीय ग्रन्थों का सहारा लेना ही विशेष श्रेयस्कर रहता है। शोध-दृष्टि जितनी स्पष्ट होगी, व्यावहारिक विवेचन उतना ही सुग्राह्य होगा।

9.1.3. अन्य स्त्रोतों से संग्राह्य सामग्री

शोधक को अपने मतों की पुष्टि तथा विरोधी मतों के खण्डन के लिए अन्य सहायक ग्रन्थों की सामग्री का भी आश्रय लेना पड़ता है। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं शोध-विषय से सम्बन्धित शोध-प्रबन्ध और समालोचना-ग्रन्थ। कृतिकार के युग और कृतित्व के सम्बन्ध में इतिहास और साहित्येतिहास से सम्बन्धित ग्रन्थ भी विशेष उपयोगी सिद्ध होते हैं। बीच-बीच में अनेक विचारों, अवधारणाओं, पारिभाषिक शब्दों के स्पष्टीकरण के लिए विविध कोशों, विश्वकोशों, आकर-ग्रन्थों की आवश्यकता पड़ती है।

प्राचीन साहित्य से सम्बन्ध शोध-विषयों के प्रतिपादनार्थ कहीं-कहीं प्राचीन शिला-लेखों, खोज-रिपोर्टों, जीवन-चरितों, सरकारी गज़टों आदि की भी आवश्यकता पड़ सकती है। आधुनिक साहित्य से सम्बन्धित शोध-विषयों के प्रतिपादन के लिए

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

बहुत-सी सार्थक सामग्री समसामयिक पत्र-पत्रिकाओं, अभिनन्दन-ग्रन्थों, आत्मकथाओं, संस्मरणों आदि में उपलब्ध हो जाती है। शोधक अपने विषय के निरूपणार्थ प्रकाशित ग्रन्थों के अतिरिक्त अप्रकाशित पाण्डुलिपियों से भी उपयोगी सामग्री का संचयन कर सकता है। जीवित रचनाकार पर शोध करने वाला शोधक साक्षात्कार या पत्र व्यवहार के माध्यम से भी वांछित सामग्री संचित कर लेता है।

9.2 सामग्री-संचयन के साधन

सामग्री-संचयन का मुख्य साधन तो पुस्तकालय ही है, किन्तु किसी समकालीन जीवित साहित्यकार पर शोध करने वाला शोधक सीधे उस साहित्यकार से सम्पर्क स्थापित करके भी अपेक्षित जानकारियाँ प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार मुख्यतः सामग्री-संचयन के दो साधन हैं –

(1) साहित्यकार से सम्पर्क

(2) पुस्तकालय

9.2.1. साहित्यकार से सम्पर्क

साहित्यकार से सम्पर्क की प्रमुख विधियाँ हैं : (क) पत्राचार (ख) प्रश्नावली-पद्धति (ग) फैक्स, ई-मेल सहित इंटरनेट (अन्तरताने), (घ) साक्षात्कार-विधि।

(क) पत्राचार-पद्धति : छोटी-मोटी सूचना या समस्या के समाधान की प्राप्ति के लिए पत्राचार पद्धति सर्वथा सुविधाजनक एवं उपयुक्त है। किसी भ्रान्ति का निराकरण भी पत्र द्वारा सहज सम्भव है। पत्र के माध्यम से किसी अधिक उलझी हुई समस्या का सम्यक् समाधान सम्भव नही है। दो-तीन से अधिक शंकाओं का समाधान पत्रांचार द्वारा दुष्कर है। संक्षिप्त, साधारण समस्या के समाधान तक ही पत्राचार-पद्धति की क्षमता सीमित है। फिर बहुत-कुछ उत्तरदाता पर निर्भर है। यदि उत्तरदाता अनुकूल है तो वह लम्बे पत्रों के भी सन्तोषजनक उत्तर दे सकता है और पत्राचार के क्रम को लम्बी अवधि तक चलने दे सकता है।

(ख) प्रश्नावली-पद्धति : पत्राचार-पद्धति का ही विकसित एवं वृहत् रूप है प्रश्नावली-पद्धति। प्रश्नावली चुने हुए प्रश्नों की वह तालिका है, जिसे शोधक डाक द्वारा उत्तरदाता के पास भेजता है। शोधक को प्रश्नावली-निर्माण में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए :

(1) प्रश्न सीधे, निर्भ्रम और संक्षिप्त हों।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(2) प्रश्नों में विषय के सभी प्रमुख पक्षों को सम्मिलित किया जाये।
(3) प्रश्नों की संख्या बहुत अधिक न हो।
(4) प्रश्न स्वरूपतः इकहरे हों अर्थात् एक प्रश्न के अन्दर कई प्रश्न न पूछे जायें।
(5) प्रश्न बिन्दु-केन्द्रित (to the point) हों, जिससे उनके संक्षिप्त एवं सारपूर्ण उत्तर दिये जा सकें।
(6) प्रश्नों को क्रमबद्ध रूप में पूछा जाये, जिससे उत्तरों के रूप में दी गयी सामग्री भी व्यवस्थित रूप में प्राप्त की जा सके।

इस पद्धति की अनेक सीमाएँ भी हैं। सभी उत्तरदाता प्रश्नों के उत्तर देने में उत्साह नहीं दिखा पाते। वे कई बार तो औपचारिकता की पूर्ति के लिए प्रश्नों के कामचलाऊ उत्तर ही लिख कर भेज देते हैं। अतः शोधक को अपनी प्रश्नावली के साथ एक शिष्टाचारपूर्ण सहगामी पत्र अवश्य भेजना चाहिए, जिसमें उत्तरदाता से उत्तर देने के लिए सविनय अनुरोध किया गया हो। इस पद्धति की सीमाओं का विवेचन 'शोध-पद्धतियां' शीर्षक अध्याय में 6.1.2 के अन्तर्गत किया जा चुका है।

(ग) फ़ैक्स, ई-मेल सहित इण्टरनेट (अन्तरताने) : आधुनिक युग में विकसित वैज्ञानिक एवं तकनीकी संचार-माध्यमों के कारण किसी भी निकटवर्ती अथवा दूरस्थ व्यक्ति से सम्पर्क साधने में आशातीत सुविधा हो गयी है। सम्बद्ध साहित्यकार या साहित्यकारों से वांछित जानकारी प्राप्त करने में अब इन वैज्ञानिक साधनों से विशेष सहायता ली जा सकती है। कोरियर के माध्यम से आप अपना पत्र या प्रश्नावली विश्व के किसी भी कोने में अत्यन्त सीमित समय में पहुँचा सकते हैं और इसी प्रकार उत्तरदाता से अविलम्ब उत्तर भी प्राप्त कर सकते हैं। इसी प्रकार फैक्स के माध्यम से भी प्रश्न भेजे और उत्तर प्राप्त किये जा सकते हैं। जो जानकारी अपने निकटस्थ पुस्तकालय में सुलभ न हो, उसकी प्राप्ति के लिए इंटरनेट या अन्तरताने की सेवाओं का उपयोग किया जा सकता है। अन्तरताने में अनेक नेटवर्क परस्पर सम्बद्ध रहत हैं, इसलिए इण्टरनेट या अन्तरताने को अनेक नेटवर्कों का नेटवर्क (A network of networks) कहा जाता है। अनेक नेटवर्क एक विशाल नेटवर्क में जुड़कर संयुक्त रूप में सूचनाओं का भण्डारण भी करते हैं और उनका सम्प्रेषण भी करते हैं। इस प्रकार यह इंटरनेट-सर्विस भण्डारण एवं अग्रप्रेषण (store and forward) के सिद्धान्त का अनुसरण करती है। ई-मेल के माध्यम से सन्देश एक कम्प्यूटर से दूसरे कम्प्यूटर तक भेजा जाता है। इन दोनों के बीच में और भी अनेक कम्प्यूटर होते हैं, जो सन्देश को आगे पहुँचाने में सहायक होते हैं। ई-मेल भेजते समय पहले से व्यवस्थित रूप में लिखी हुई सूचना या सामग्री तथा प्राप्तकर्त्ता के पते को कम्प्यूटर में भर दिया जाता है। पहला कम्प्यूटर भण्डारित सूचना को दूसरे,

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

दूसरा तीसरे के क्रम में आगे भेजता हुआ गन्तव्य कम्प्यूटर तक पहुँचा देता है, जहाँ से सूचना प्राप्तकर्त्ता के ई-मेल बॉक्स में पहुँच जाती है। सन्देश भेजने की यह पद्धति बहुत ही सुरक्षित और विश्वसनीय है। अनेक इंटरनेट सर्विसों में बहुत-सी ज्ञान-विज्ञान के विषयों से सम्बन्धित बहुमूल्य शोधपरक सामग्री भी भण्डारित रहती है। शोधक सीधे इण्टरनेट सर्विस से सम्पर्क स्थापित करके अपने ई-मेल बॉक्स में सारी वांछित सामग्री घर बैठे ही प्राप्त कर सकता है।

(घ) साक्षात्कार-पद्धति : साक्षात्कार-पद्धति का प्रसंगवश पहले भी 'शोध-पद्धतियाँ' शीर्षक अध्याय के अन्तर्गत प्रतिपादन किया जा चुका है। कुछ कठिनाइयाँ होते हुए भी पत्राचार तथा ई-मेल, फ़ैक्स आदि वैज्ञानिक साधनों के माध्यम से स्थापित सम्पर्क की अपेक्षा प्रत्यक्ष सम्पर्क कहीं अधिक आश्वासनकारी एवं तृप्तिदायक है। शोधक को अपनी जिज्ञासाओं, शंकाओं, समस्याओं, प्रश्नों को पहले ही क्रमबद्ध रूप में अंकित कर लेना चाहिए। शोधक को अपनी जिज्ञासाओं और प्रश्नों के विषय में पूर्णतः स्पष्ट होना चाहिए। प्रश्न संक्षिप्त, स्पष्ट, बिन्दु-केन्द्रित, क्रमबद्ध, परस्पर पूरक, इकहरे, निर्भ्रान्त, लक्ष्यभेदी होने चाहिए। जिज्ञासा तथा विषय की अपेक्षाओं के अनुरूप पूरक प्रश्न भी पूछे जा सकते हैं। उत्तरों की टीप (नोट्स) सही हो तथा उस पर पुष्टि के लिए उत्तरदाता के हस्ताक्षर भी करा लिये जाएँ।

9.2.2. पुस्तकालय

सच्चे शोध-साधक के लिए साधनों की अब कोई कमी नहीं है। बस सच्ची निष्ठा और साधना अपेक्षित है। सामग्री-संकलन सम्बद्ध साहित्यकार या साहित्यकारों के अतिरिक्त शोध-विषय से सम्बद्ध बहुविध ग्रन्थों से भी किया जाता है। सभी उपयोगी ग्रन्थ न तो व्यक्तिगत रूप से ख़रीदे जा सकते हैं और न ही किसी निश्चित पुस्तकालय में प्राप्त होते हैं। ऐसी स्थिति में शोधक को कुछ विद्वानों के व्यक्तिगत पुस्तकालयों, विश्वविद्यालयीय पुस्तकालयों तथा अन्य ग्रन्थागारों में जाकर सामग्री संचित करनी होती है। साहित्य अकादमी पुस्तकालय, दिल्ली, लोकसभा पुस्तकालय, दिल्ली, राष्ट्रीय पुस्तकालय, कोलकाता, ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट पुस्तकालय, पूना, काशी नागरी प्रचारिणी सभा पुस्तकालय, बनारस आदि ऐसे समृद्ध पुस्तकालय हैं, जहाँ शोधक को अपने काम की प्रचुर सामग्री मिल सकती है।

पुस्तकालय के समुचित उपयोग के लिए पुस्तकालय की इण्डैक्स-प्रणाली का ज्ञान आवश्यक है। पुस्तकालय में उपन्यास, नाटक, शोध, समालोचना आदि विभिन्न विधाओं की पुस्तकों के लिए पृथक्-पृथक् वर्गीकृत इण्डैक्स अकारादि क्रम से तैयार किये जाते हैं। शोधक इण्डैक्स की सहायता से अपने उपयोग की पुस्तकें किसी

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पुस्तकालयीय कर्मचारी की सहायता के बिना स्वयं ही आसानी से प्राप्त कर सकता है। इससे समय की भी बचत होती है और शोधक में स्वतन्त्रता और स्वावलम्बन की भावनाओं का उदय होता है।

9.3. सामग्री-संकलन का माध्यम : टीप-ग्रहण

सामग्री-संकलन का कार्य टीप-ग्रहण अथवा नोट्स लेने के माध्यम से किया जाता है। साक्षात्कार के समय टेप की गयी सामग्री को भी बाद में नोट्स के रूप में लिपिबद्ध कर लिया जाता है। टीप अथवा नोट्स के रूप में कितनी सामग्री संचित की जाये, उसका रूप क्या हो अर्थात् तथ्य के रूप में गृहीत उद्धरण कितने छोटे या बड़े हों, ज्यों के त्यों उद्धरण-चिह्नों के अन्तर्गत लिये जाएँ अथवा आवश्यकतानुसार सार-रूप में – इन सब प्रश्नों पर टीप-ग्रहण से पूर्व ही विचार करना आवश्यक है।

कई शोधक शोध्य ग्रन्थ से भी लम्बे-लम्बे उद्धरण उतार लेते हैं तथा सहायक ग्रन्थों से पृष्ठ के पृष्ठ उतारते चले जाते हैं। किसी दृष्टि और विवेक के बिना आवश्यक के साथ अनावश्यक सामग्री का ढूह लगाते चलना अपने लिए ही उलझनें उत्पन्न करना है। बाद में यही अनियन्त्रित सामग्री शोधक के जी का जंजाल बन जाती है। शोध एक नितान्त बौद्धिक क्रिया है, अतः सामग्री-संकलन भी प्रबुद्धतापूर्वक रूपरेखा के अनुसार सुनियोजित रूप में किया जाना चाहिए। जो भवन-निर्माता पूर्व निर्मित नक्शे के अनुसार बिल्कुल नपी-तुली सामग्री – ईंटें, पत्थर, सीमेंट, लकड़ी आदि – मँगवाता है, उसका उसी सामग्री में मनोवांछित भवन बनकर तैयार हो जाता है तथा न सामग्री कम पड़ती है और न ही बच कर व्यर्थ जाती है। यही आदर्श शोधक के लिए भी अवधार्य है। अतः टीप-ग्रहण के लिए अपेक्षित विवेक-दृष्टि की महती आवश्यकता है।

9.3.1. टीप-ग्रहण के लिए अपेक्षित विवेक दृष्टि

जिस प्रकार उत्तम सामग्री के चयन और संयोजन से उत्तम भवन का निर्माण होता है, उसी प्रकार उत्तम सामग्री उत्तम शोध की प्राथमिक आवश्यकता है। प्रचुर विकीर्ण सामग्री में से केवल उपयोगी और उत्तम ही चुनने तथा अनावश्यक, अनुपयुक्त, गौण सामग्री को त्यागते चलने के लिए गहरी विवेक-दृष्टि की आवश्यकता है।

चुनी हुई नितान्त उपयोगी और तत्त्वपूर्ण सामग्री को ही शोध-प्रबन्ध के कलेवर में स्थान दिया जाना चाहिए। स्तरहीन, द्वितीय-तृतीय श्रेणी की सामग्री से

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शोध का स्तर गिरता है। अतः घटिया या स्तरहीन सामग्री को संकलित करने से सतर्कतापूर्वक बचना चाहिए। थीसिस एण्ड प्रोजैक्ट वर्क (thesis and project-work) नामक ग्रन्थ में श्री सी.जे. पारसन्स (C. J. Parsons) ने इस सम्बन्ध में सचेत करते हुए लिखा है कि एक स्थापना पर गहराई से तर्क करना चाहिए और किसी अप्रासंगिक सामग्री को केवल इसलिए नहीं सुरक्षित रखना चाहिए, क्योंकि उसको संकलित कर लिया गया है। उनके शब्दों में, "A thesis must be closely argued and no irrelevent material should be retained simply because it has been collected."

उत्तम के ग्रहण और स्तरहीन के त्याग पर केन्द्रित यह विवेक-दृष्टि शोध-क्षेत्र और शोध-दृष्टि से सम्बन्धित सामग्री के साथ ही अन्य सहायक सामग्री के संकलन पर भी समान रूप में लागू होती है। अतः यहाँ उक्त तीनों प्रकार की सामग्री के चयन के सम्बन्ध में विवेक-दृष्टि से सम्बन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण विचार बिन्दु प्रस्तुत हैं।

(क) शोध-क्षेत्र से सम्बन्धित सामग्री के चयन में निम्नलिखित बातें ध्यातव्य हैं :

(१) शोध-क्षेत्र की विविध अध्यायों से सम्बन्धित सामग्री को उपर्युक्त विवेक-दृष्टि के आलोक में उत्तम, मध्यम और सामान्य नामक तीन कोटियों के अन्तर्गत संकलित करना चाहिए। उत्तम कोटि के वे तथ्य या उद्धरण हैं, जो किसी वैचारिक इकाई के प्रतिनिधि होने के कारण किसी अध्याय के किसी शीर्षक या उपशीर्षक से सम्बन्धित हैं तथा जिनके महत्त्व को स्वीकारते हुए शोधक उन्हें शोध-प्रबन्ध के मूल कलेवर में सूक्ष्मता और विस्तार के साथ विवेचित करता है। मध्यम कोटि के वे तथ्य हैं, जो उपर्युक्त तथ्यों की पुष्टि तो करते हैं, किन्तु उनसे कुछ कम महत्त्वपूर्ण हैं। शोधक ऐसे तथ्यों का उल्लेख शोध-प्रबन्ध के पाद-टिप्पणी से सम्बन्धित भाग में यथावत् रूप में करता है। सामान्य कोटि के तथ्यों का कलेवर में केवल सन्दर्भ दिया जाता है और नीचे पाद-टिप्पणी के रूप में उनका सन्दर्भोल्लेख मात्र कर दिया जाता है।

(२) यदि किसी वैचारिक इकाई से सम्बन्धित तथ्यों की संख्या काफ़ी अधिक है तथा उनमें अर्थ-छवि की दृष्टि से समरूपता है, तो वरीयता की दृष्टि से उनमें से प्रतिनिधि या प्रमुख तथ्यों को ही चुना जाता है, शेष को नीरस पिष्ट-पेषण से बचने के लिए छोड़ दिया जाता है।

(ख) शोध-दृष्टि के विषय में सामग्री-संकलित करते समय निम्नलिखित बातें ध्यातव्य हैं :

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(१) किसी भी शास्त्र से सम्बन्धित शोध-दृष्टि को साहित्यिक कृति पर शास्त्र की सूक्ष्म यान्त्रिक सीमाओं तक लागू करने का दुराग्रह पालना न्यायसंगत नहीं है। साहित्यिक कृति में शास्त्र के जीवनोपयोगी पक्ष ही सजीव रूप में मूर्त होते हैं। अतः सामग्री-संकलन करते समय साहित्य-शोधक को प्रमुख शास्त्रीय ग्रन्थों के बहुत ही प्रमुख अंश उद्धरणार्थ ग्रहण करने चाहिए। सूक्ष्म विस्तारों से सम्बन्धित अति पारिभाषिक या तकनीकी पक्षों से सम्बद्ध तथ्यों का टीप ग्रहण करना उपयुक्त न होगा।

(२) शोध-दृष्टि से सम्बन्धित सामग्री ही संकलित करनी चाहिए। मध्यकालीन कृष्ण-भक्तों की समतामूलक, माधुर्य-भाव की भक्ति अध्ययन पुष्टिमार्गीय दृष्टि से करते समय उस पर फ्रायडवादी या साम्यवादी दृष्टियों का आरोपण नितान्त अनैतिहासिक, अवांछित और असंगत होगा। अतः पहले ही इस प्रकार की सामग्री के मोह से मुक्त रहना चाहिए। अवान्तर, असम्बद्ध सामग्री घपला ही उत्पन्न करती है और शोध की शुद्धता को प्रदूषित करती है।

(ग) अन्य सहायक सामग्री के संकलन में निम्नलिखित सतर्कताएँ अपेक्षित हैं :

(१) 'सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची' में सन्दर्भित ग्रन्थों की संख्या में वृद्धि करके व्यापक अध्ययन और पाण्डित्य की छाप छोड़ने के उद्देश्य से अनेक अपरिपक्व शोधक अवांछित, असम्बद्ध पुस्तकों से भी एक-दो उद्धरण दे देते हैं। ऐसी सामग्री भरती की होती है और शोध की दिशा और दृष्टि को धूमिल करने के साथ ही शोध-प्रबन्ध के कलेवर में भी अनावश्यक वृद्धि करती है। अतः सहायक सामग्री के संग्रह और उपयोग में भारी सावधानी की आवश्यकता है।

(२) कुछ शोधक द्वितीय-तृतीय श्रेणी के लेखकों द्वारा लिखित तथाकथित साहित्येतिहास-ग्रन्थों, समालोचना-ग्रन्थों आदि से भी सामग्री टीप लेते हैं और उसके उपयोग द्वारा अपने शोध-प्रबन्ध को अप्रामाणिकता और स्तरहीनता के गर्त में धकेल देते हैं। शोधक को चाहिए कि वह प्रथम श्रेणी के लेखकों की प्रामाणिक पुस्तकों से ही सामग्री संकलित करे।

(३) शोध-प्रबन्ध में स्वमन्तव्यों और निष्कर्षों की पुष्टि और विरोधी मतों के खण्डन के लिए प्रयुक्त सामग्री का कुल अनुपात सामान्य स्थिति में पंद्रह-बीस प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए। शोधक द्वारा किया गया तथ्यान्वेषण, तथ्य-मन्थन और तत्त्वान्वेषण ही शोध-प्रबन्ध की आधारभूत आत्मा और जीवनी शक्ति है।

कुल मिलाकर टीप-ग्रहण का मूल मन्त्र है आवश्यक और स्तरीय सामग्री का

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

संचयन और अनावश्यक और स्तरहीन सामग्री का त्याग। फिर टीप ली गयी टिप्पणियाँ संक्षिप्त और सारपूर्ण होनी चाहिए, अन्यथा लिखते समय उनके विस्तृत आकार में से सारपूर्ण पंक्तियाँ चुनने में समय व्यर्थ जाता है। संक्षिप्तता और सार-संचय बुद्धिमत्ता की कसौटी है। शोधार्थी को विवेकी होना चाहिए। सारपूर्ण के ग्रहण और निस्सार के परित्याग में ही सच्चा विवेक चरितार्थ होता है। सारवान् सामग्री के विवेकपूर्ण चयन और युक्तियुक्त संयोजन पर शोध-प्रबन्ध की प्रबन्धात्मकता निर्भर रहती है।

9.3.2. टीप-ग्रहण की प्रमुख पद्धतियाँ

टीप-ग्रहण की कई पद्धतियाँ प्रचलित हैं। प्रबुद्ध और अनुभवी शोधक अपनी रुचि और आवश्यकता के अनुसार अपनी मौलिक पद्धति भी विकसित कर लेते हैं। महत्त्व पद्धति का नहीं है, महत्त्व है प्रामाणिक, तत्त्वपूर्ण, उपयोगी सामग्री का। फिर उसे भले ही किसी भी पद्धति से संकलित किया जाये। पद्धति तो साधन मात्र है, साध्य है शोधोपयोगी, मूल्यवान्, सही सामग्री। सामग्री-संकलन की प्रचलित पद्धतियों में तीन पद्धतियाँ अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुई हैं। –

(1) नोटबुक-पद्धति

(2) फाइल-पद्धति

(3) कार्ड-पद्धति

(1) नोटबुक-पद्धति : आवश्यकता के अनुसार 350-400 पृष्ठों की नोटबुक या डायरी टीप-ग्रहण के लिए उत्तम रहती है। इसे सुविधापूर्वक पुस्तकालय आदि सामग्री-स्रोत-स्थलों तक ले जाया जा सकता है। विषय की अपेक्षाओं के अनुसार और भी बड़े आकार की नोटबुक तैयार करायी जा सकती है। नोटबुक के प्रारम्भ में आठ-दस पृष्ठ विषय-सूची के लिए छोड़ने चाहिए। इसी प्रकार नोटबुक के अन्त में 15-20 पृष्ठ सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची के लिए निर्धारित करना आवश्यक है। रूपरेखा के अनुसार पहले सारी नोटबुक को अध्यायों के अनुसार विभाजित कर लेना चाहिए। अनुमानित सामग्री के अनुसार किसी अध्याय के लिए चालीस, किसी के लिए पचास, किसी के लिए साठ पृष्ठ निर्धारित कर लेने चाहिए। यह ध्यान रखना चाहिए कि निर्धारित किया गया स्थान किसी अध्याय के लिए बाद में कम न पड़ जाये। सभी अध्यायों के शीर्षक निर्धारित स्थान के प्रारम्भ में अंकित कर लिये जाते हैं। फिर सभी अध्यायों को भी रूपरेखा में दिये गये शीर्षकों-उपशीर्षकों में विभाजित कर लिया जाता है और यथास्थान सारे शीर्षक-उपशीर्षक अंकित कर लिये जाते हैं। इस प्रकार पूरी रूपरेखा के सभी बड़े-छोटे घटक शीर्षकों के रूप में नोटबुट में आ जाते हैं।

किसी ग्रन्थ से टीप ग्रहण करने से पूर्व ग्रन्थकार का नाम, ग्रन्थ का नाम, प्रकाशन-स्थान, प्रकाशन का सन् या संवत् तथा संस्करण का उल्लेख नोटबुक के अन्त

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

में 'सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची' के लिए छोड़े गये स्थान में अवश्य अंकित कर लेना चाहिए। ऐसा करने से टीप ग्रहण के समय प्रत्येक उद्धरण के साथ इन सारी सूचनाओं को बार-बार अंकित करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। टीपी गयी सामग्री या पंक्तियों के अन्त में केवल ग्रन्थ के नाम का उल्लेख सांकेतिक रूप में करना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि हम डॉ. नगेन्द्र की पुस्तक 'रस-सिद्धान्त' से पाँच पंक्तियाँ टीपते हैं, तो टीपित पंक्तियों के पश्चात् र.सि. पृ. 156 लिखना पर्याप्त होगा। ग्रन्थ के बारे में शेष सूचनाएँ हम पहले ही नोटबुक के अन्त में अंकित कर चुके हैं।

नोटबुट-पद्धति पर्याप्त सुविधाजनक है। यदि इसमें कोई कठिनाई है तो यही कि टीप ग्रहण के क्रम में आगे चलकर किसी शीर्षक या उपशीर्षक के लिए पहले निर्धारित किया हुआ स्थान कम पड़ सकता है। इस समस्या का समाधान दो-चार पन्ने यथास्थान जोड़कर भी किया जा सकता है या शेषांश को नोटबुट में किसी अध्याय के अन्तर्गत रिक्त पड़े स्थान पर अंकित किया जा सकता है और यथास्थान इस प्रावधान का संकेत किया जा सकता है।

(2) फाइल-पद्धति : यह नोटबुक-पद्धति का कुछ विकसित रूप है। इसमें प्रत्येक अध्याय के लिए एक पृथक् फाइल निर्धारित कर ली जाती है। प्रत्येक अध्याय में अपेक्षित सामग्री के अनुमानित परिमाण के अनुसार फाइल में कागज़ों की संख्या कम या अधिक रखी जा सकती है। यदि किसी अध्याय के अन्तर्गत किसी शीर्षक या उपशीर्षक से सम्बन्धित सामग्री के लिए स्थान कम पड़ता है तो बीच में सुविधापूर्वक कुछ और कागज़ जोड़े जा सकते हैं। इस पद्धति में आवश्यकता पड़ने पर रूपरेखा में भी जहाँ-तहाँ कुछ परिवर्द्धन-संशोधन करने की सुविधा रहती है। यदि कहीं कोई नया शीर्षक या उपशीर्षक जोड़ना हो तो आवश्यकतानुसार किन्हीं भी दो शीर्षकों या उपशीर्षकों के बीच कुछ नये कागज़ जोड़कर नये शीर्षक या उपशीर्षक को स्थान दिया जा सकता है। फाइल में, रूपरेखा के अनुसार प्रत्येक उपशीर्षक नयी शीट से प्रारम्भ होने के कारण इस पद्धति में उपशीर्षकों के क्रम को भी आवश्यकतानुसार बदलने की सुविधा रहती है। स्पष्ट है कि इस प्रणाली में एक फाइल में एक ही अध्याय के शीर्षकों-उपशीर्षकों को रूपरेखा के अनुसार इस ढंग से अंकित किया जाता है कि प्रत्येक शीर्षक या उपशीर्षक नये कागज़ (शीट) से ही प्रारम्भ हो। इस व्यवस्था के कारण जहाँ नयी सामग्री को यथास्थान जोड़ने की सुविधा है, वहीं भूल से संकलित अवांछित सामग्री को निकाल कर बाहर करने की भी आसानी है।

यह तो ठीक है कि इस पद्धति में नोटबुक-पद्धति के कुछ दोषों का परिहार सम्भव है, किन्तु इसकी भी कुछ सीमाएँ तो हैं ही। यह नोटबुक-पद्धति के समान पुस्तकालय आदि में ले जाने और लाने की दृष्टि से सुविधाजनक नहीं है।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(3) कार्ड-पद्धति : शोध की प्रकृति वर्गीकरण और विश्लेषण की है। बाद में विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्षों को ही संश्लेषण द्वारा समन्वित रूप में 'उपसंहार' में प्रस्तुत किया जाता है। वर्गीकरण और विश्लेषण की आवश्यकता के अनुरूप सर्वथा उपयुक्त टीप-ग्रहण-पद्धति है कार्ड-पद्धति। वस्तुतः यह पद्धति नोटबुक-पद्धति और फाइल-पद्धति का ही विकसित और वैज्ञानिक रूप है। इसमें विभिन्न स्रोतों में बिखरी हुई सामग्री को रूपरेखा के अनुरूप वैज्ञानिक रीति से विभिन्न समाकारीय कार्डों में अंकित करने की सुविधा रहती है। यह पद्धति कोश-निर्माण तथा धर्म, दर्शन, संस्कृति, कृषि, व्यवसाय आदि से सम्बन्धित शब्दावली के संग्रह के लिए सर्वथा उपयुक्त है। यह भाषावैज्ञानिक, शैली-वैज्ञानिक, काव्यशास्त्रीय अध्ययन के लिए भी अत्यन्त उपादेय है।

कार्ड-प्रणाली के लिए समान आकार (सामान्यतः 6 गुणा 4 इंच) के कार्डों की आवश्यकता होती है। मोटे कागज़ के दस्ते खरीद कर उनको कार्ड के आकार में कटवा लिया जाता है। आवश्यकता के अनुसार कार्ड के आकार में किंचित् परिवर्तन भी किया जा सकता है। कार्ड पर नोट्स लेने या टीप ग्रहण करने के मानक तरीके होते हैं, जिनका अनुसरण करने से शोध-प्रबन्ध-लेखन में समरूपता, क्रमबद्धता और वैज्ञानिकता आती है। टीप लेते समय सर्वप्रथम बायीं ओर के उपान्त (मार्जिन) में, सबसे ऊपर पूर्व निर्धारित रूपरेखा के अनुसार विषय का शीर्षक या उपशीर्षक लिखा जाता है। इसके नीचे अपेक्षित तथ्य या सामग्री की टीप ली जाती है। टीपित सामग्री का आकार संक्षिप्त और तत्त्वपूर्ण होना चाहिए। सामग्री स्रोत-ग्रन्थ से ज्यों की त्यों सही रूप में लेनी चाहिए। सामग्री को उद्धरण-चिह्नों के अन्तर्गत रखना आवश्यक है। जिस ग्रन्थ से सामग्री ली जा रही है, उसके सम्बन्ध में सारी सूचनाएँ (लेखक का नाम, ग्रन्थ का नाम, प्रकाशन का पता तथा प्रकाशन-काल और संस्करण) अलग एक छोटी डायरी में अंकित कर लेनी चाहिए। ऐसा करने से किसी पुस्तक से गृहीत टीपों के साथ बार-बार उस पुस्तक से सम्बन्धित सूचनाओं के उल्लेख से बचा जा सकता है। ऐसा करने पर प्रत्येक टीप के अन्त में लेखक का नाम, डायरी में अंकित पुस्तक की क्रम-संख्या तथा पुस्तक की पृष्ठ-संख्या का उल्लेख ही पर्याप्त होगा। उदाहरण के लिए डॉ. रामविलास शर्मा की पुस्तक 'भारतीय सौन्दर्य बोध और तुलसीदास' का यदि हमारी डायरी में पूर्ण विवरण क्रम-संख्या 75 पर है, तो उससे गृहीत टीप के नीचे डॉ. रामविलास शर्मा, 75, पृ. 428 लिखना ही पर्याप्त होगा। यथा :

राम का निर्गुण-सगुण रूप

'तुलसी जिस राम या ब्रह्म के उपासक हैं, वह परोक्ष सत्ता नहीं है। वह उनके लिए प्रकट सत्य है। साथ ही उनका ब्रह्म प्रत्यक्ष सत्ता मात्र नहीं है। वह परोक्ष भी है

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

और प्रत्यक्ष भी। इसीलिए तुलसीदास न विशुद्ध निर्गुणवादी हैं, न विशुद्ध सगुणवादी।'

डॉ. रामविलास शर्मा, 75, पृ. 428

शोध कोई जड़, यान्त्रिक क्रिया नहीं है। यह एक बौद्धिक, वैचारिक या ज्ञानात्मक कार्य है। सतत सक्रिय, सतर्क चिन्तन से ही शोध-प्रबन्ध में प्राण-प्रतिष्ठा होती है। अपने शोध-प्रबन्ध को दूसरों के मतों की उद्धरिणी मात्र नहीं बनने देना चाहिए। दूसरों के मतों को स्वमत की पुष्टि के लिए ही प्रयुक्त करना चाहिए। विभिन्न मतों के उद्धरणों से समर्थित शोधक की अन्तर्दृष्टि ही शोध-प्रबन्ध की आत्मा है। यही शोध-प्रबन्ध की मूल चेतना और मौलिकता का आधार है।

कार्डों पर नोट की गयी सामग्री का सही एवं वैज्ञानिक रीति से शोध-प्रबन्ध लेखन में विधिवत् उपयोग करने के लिए आवश्यक है कि कार्डों को रूपरेखा में अंकित शीर्षकों और उपशीर्षकों के क्रम के अनुसार वर्गीकृत करके क्रमबद्ध रूप में व्यवस्थित कर लिया जाए। अव्यवस्थित कार्ड तो स्वयं एक नयी समस्या को जन्म देंगे। अतः प्रत्येक अध्याय से सम्बन्धित कार्डों को विषय-विवेचन के क्रम को ध्यान में रखकर सिलसिलेवार व्यवस्थित करना आवश्यक है। ऐसा करने से शोध-प्रबन्ध-लेखन के समय भारी सुविधा रहती है। कार्डों को क्रमबद्ध रूप में नत्थी करने की चार पद्धतियाँ हैं :

(क) तार-फ़ाइल (wire-file)
(ख) कार्डबोर्ड-फ़ाइल (card-board file)
(ग) ख़ानेदार अलमारी (pigeon hole or docket)
(घ) दराज़-फाइलिंग (drawer filing)।

(क) तार-फाइल : इस पद्धति में ऐसे तारों का उपयोग होता है, जिनका ऊपरी सिरा नोकदार होता है और निचले सिरे पर टिन की गोलाकार पत्ती लगी रहती है। प्रत्येक तार में एक अध्याय से सम्बन्धित कार्डों को व्यवस्थित रूप में नत्थी किया जाता है। लिखते समय अध्यायों के क्रमानुसार तार-फाइलों की सामग्री का उपयोग सुविधापूर्वक किया जाता है।

(ख) कार्डबोर्ड-फ़ाइल : कार्डबोर्ड या गत्ते की, कार्डों के आकार से कुछ बड़ी, सपाट पट्टी में दोनों पार्श्वों में कैलिको या रैक्सीन की ढाई से तीन इंच चौड़ी टुकड़ियाँ जुड़ी रहती हैं। प्रत्येक अध्याय की सामग्री के लिए अलग-अलग फाइल अपेक्षित है। इसमें सुविधा यह है कि अध्याय के सभी शीर्षकों-उपशीर्षकों से सम्बन्धित सामग्री वाले कार्डों को अलग-अलग टैग से नत्थी करके, फिर सबको क्रम में व्यस्थित करके सुरक्षित रूप में रखा जा सकता है।

(ग) खानेदार अलमारी : कोश निर्माण-कार्य, शब्दावली-अध्ययन,

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नामानुक्रमणिकाएँ, विषयानुक्रमणिकाएँ आदि तैयार करने के लिए यह पद्धति सर्वथा उपयुक्त है। इसमें अक्षरों, शब्दावली के विभिन्न वर्गों आदि को ध्यान में रखकर अपेक्षित संख्या में ख़ानों की व्यवस्था रहती है तथा प्रत्येक वर्ग या अक्षर या विषय से सम्बन्धित कार्डों को पृथक्-पृथक् खानों में रखा जाता है।

(घ) दराज़ फ़ाइलिंग : यह पद्धति पर्याप्त सुविधाजनक भी है और वैज्ञानिक भी। पुस्तकालयों में पुस्तकों के वर्गीकरण के सूचक कार्डों को व्यवस्थित रूप में रखकर ग्रन्थानुक्रम-कार्ड-संचिका (catalogue) बनाने के लिए भी दराज़ फ़ाइलिंग-पद्धति का ही उपयोग किया जाता है। इस पद्धति के अनुसार अलमारी में खानों की संख्या शोध-प्रबन्ध के अध्यायों की संख्या के बराबर रखी जाती है तथा उनमें अपेक्षित आकार की दराज़ें फिट करायी जाती हैं। इन दराज़ों को आवश्यकतानुसार आंशिक रूप में भी बाहर की ओर खींचा जा सकता है तथा पूरी तरह बाहर निकालकर मेज़ पर रखकर, उसमें क्रमबद्ध रूप में नियोजित कार्ड या कार्डों की सामग्री का उपयोग किया जा सकता है। इस पद्धति को और भी अधिक व्यावहारिक बनाने के लिए प्रत्येक दराज़ में अध्याय के शीर्षकों-उपशीर्षकों के सूचक कुछ कार्ड लगाये जाते हैं, जिन पर शीर्षक या उपशीर्षक का नाम अंकित रहता है। ये सूचक या सांकेतिक कार्ड आकार में अन्य कार्डों की अपेक्षा कुछ ऊँचे होते हैं। उनके ऊपर उठे हुए तथा दूर से दिखायी पड़ने वाले भाग पर शीर्षक या उपशीर्षक का नाम अंकित रहता है। इन संकेतक कार्डों के पीछे उनसे सम्बन्धित सामग्री वाले कार्ड क्रमबद्ध रूप में रखे जाते हैं। यदि शीर्षकों और उपशीर्षकों के द्योतक कार्ड अलग-अलग रंग के रखे जायें तो सही सामग्री तक पहुँचने में और भी अधिक सुविधा रहती है।

9.4. संचित सामग्री की प्रामाणिकता

जिस प्रकार भवन निर्माण प्रारम्भ करने से पूर्व सम्भाव्य भवन की दृढ़ता के विषय में आश्वस्त होने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न स्रोतों से संचित की गयी निर्माण सामग्री की प्रामाणिकता या खरेपन के विषय में भली प्रकार जाँच-पड़ताल कर ली जाये और नक़ली या घटिया सामग्री को लौटाकर उसके स्थान पर असली और भरोसे का माल मँगवा लिया जा, उसी प्रकार शोध-प्रबन्ध के लेखन में प्रवृत्त होने से पूर्व संकलित सामग्री की प्रामाणिकता के विषय में आश्वस्त होना नितान्त आवश्यक है। हमें यह तो मानकर ही चलना होगा कि प्रामाणिक, विश्वसनीय,

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शुद्ध, सही सामग्री ही प्रामाणिक शोध-कार्य की आधारशिला है। प्रमाणपुष्ट शोध ही शोध है। अप्रामाणिक, सन्दिग्ध, भ्रान्तिपूर्ण विवेचन को शोध नहीं माना जा सकता। प्रामाणिकता शोध का प्राण-तत्त्व है। प्रामाणिकता के स्वरूप को हृदयंगम करने के लिए सर्वप्रथम अप्रामाणिकता के स्वरूप और उससे सम्बद्ध आयामों को समझना बहुत आवश्यक है। अन्धकार के स्वरूप के बोध से प्रकाश के स्वरूप और महत्त्व को भली प्रकार व्यावहारिक स्तर पर समझा जा सकता है।

9.4.1. अप्रामाणिकता : स्वरूप और आयाम

तथ्य पर आश्रित तर्कसम्मत ज्ञान प्रामाणिक होता है और अतथ्य पर आश्रित सन्दिग्ध, अशुद्ध, अग्राह्य कथन या विवेचन अप्रामाणिक होता है। निश्चितता, शुद्धता, विश्वसनीयता, वास्तविकता आदि प्रामाणिकता के लक्षण हैं, जबकि अनिश्चितता, अशुद्धता, अविश्वसनीयता, अवास्तविकता, भ्रामकता आदि अप्रामाणिकता के लक्षण हैं। प्रामाणिकता का स्रोत है सतर्क, सावधान बुद्ध या प्रबुद्ध प्रतिभा और अप्रामाणिकता का स्रोत है प्रमादग्रस्त, असावधान, दिशाहीन, विवेकहीन मानव-मन। जो प्रमादी, विवेकहीन तथाकथित शोधार्थी या शोधक तथ्य और अतथ्य में भेद नहीं कर सकता, वह प्रामाणिकता के मार्ग से भटक कर अप्रामाणिकता के अन्धकार में भटकने को अभिशप्त होता है। ऐसे असावधान अध्येताओं के प्रमाद से अप्रामाणिकता के अनेक आयामों का उदय होता है। वे ऐतिहासिक-पौराणिक नामों तक को अशुद्ध रूप में लिखकर अप्रामाणिकता की सृष्टि करते हैं। वे कैकेयी को केकई, अहल्या को अहिल्या, बालि को बाली, वाल्मीकि को वाल्मीकी, पाणिनि को पाणिनी, पतंजलि को पतंजली लिखकर अप्रामाणिकता का मार्ग प्रशस्त करते हैं। ऐसे ही अविवेकी अध्येता तथ्यों की छानबीन किये बिना ही अन्धाधुंध मनमाने निष्कर्ष निकाल कर अप्रामाणिकता को बढ़ावा देते हैं और ज्ञान के स्थान पर अज्ञान को ही प्रतिष्ठित करते हैं। डॉ. सत्येन्द्र ने 'अनुसन्धान' शीर्षक अपने ग्रन्थ में एक ऐसे ही शोधक का उदाहरण दिया है, जिसने 'वार्ता-साहित्य' के कथन, 'तानसेन बड़ी जाति के हते' के आधार पर अन्य साक्ष्यों से पुष्टि की प्रतीक्षा किये बिना ही मनमाने ढंग से यह निष्कर्ष निकाल लिया कि तानसेन ब्राह्मण थे। उसने 'बड़ी जाति' का अर्थ 'ब्राह्मण' समझ लिया, जबकि वार्ता-साहित्य में ही यह साक्ष्य सुलभ है कि उन दिनों शासकों की जाति अर्थात् मुस्लिम धर्मावलम्बियों की जाति को ही बड़ी जाति माना जाता था। यद्यपि यहाँ पर तथ्य तो प्रामाणिक था, किन्तु उसके आख्यान में प्रमाद करके अप्रामाणिकता को प्रश्रय दिया गया। सच्चे शोध के लिए तथ्यान्वेषण या तथ्य का चयन भी प्रामाणिक होना चाहिए और उसका आख्यान भी तर्कसम्मत और वस्तुनिष्ठ

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

होना आवश्यक है।

'वाल्मीकि' को 'वाल्मीकी' लिखना तथ्य की अशुद्ध या भ्रामक प्रस्तुति है। यह भ्रामक प्रस्तुति अप्रामाणिकता का पोषण करती है। 'बड़ी जाति' की व्याख्या 'ब्राह्मण' के रूप में करना भ्रामक तथ्याख्यान का उदाहरण है। इससे भी अप्रामाणिकता का उदय होता है। कई बार तथ्य ही जाली, नक़ली या अप्रामाणिक सिद्ध होते हैं। बिना भली प्रकार जाँचे-परखे ऐसे तथाकथित तथ्यों को प्रामाणिक रूप में प्रतिष्ठित करना और उनके आधार पर निष्कर्ष निकालना या स्थापना करना अप्रामाणिकता को ही समर्थन देना है, जो शुद्ध शोध के मार्ग में बाधक है। डॉ. रामदत्त भारद्वाज ने सन् 1886 ई. के इम्पीरियल गज़टियर के आधार पर सिद्ध किया कि अकबर के ज़माने में राजापुर स्वयं तुलसीदास ने बसाया था, अतः राजापुर में उनका जन्म मानना युक्तिसंगत न होगा। उक्त गज़ट में कहा गया है, "Rajapur was founded in the reign of Akbar by Tulasidas a devotee from soron, who errected a temple and attracted many followers." किन्तु उक्त गज़टियर जाली सिद्ध हो चुका है तथा अब राजापुर को ही अन्तिम रूप में तुलसीदास का जन्मस्थल माना जाता है। राजापुर में ही उत्तर प्रदेश सरकार ने तुलसी का भव्य स्मारक बनवाया है।

अप्रामाणिकता के उपर्युक्त आयामों के अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसे आयाम भी हैं जो लेखन, टंकण, मुद्रण की त्रुटियों से सम्बन्धित हैं तथा कई बार भारी भ्रान्तियों को जन्म देते हैं। कई बार तो शोधक टीप ग्रहण करते समय ही सामग्री को शुद्ध रूप में नहीं लिख पाता है या बीच में शव्द, वाक्यांश या पंक्तियाँ छोड़ देता है। कई बार उद्धृत ग्रन्थ की पृष्ठ संख्या, नाम, पते आदि में भी त्रुटियाँ पायी जाती हैं, जो प्रामाणिकता को किसी न किसी रूप में ठेस पहुँचाती हैं।

9.4.2. प्रामाणिकता : अर्थ और स्वरूप

'प्रमाण' शब्द प्र उपसर्गपूर्वक मा धातु में ल्युट् प्रत्यय लगने से बना है। प्रमाण का अर्थ है शुद्ध ज्ञान या यथार्थ बोध। 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' के अनुसार प्रमा या शुद्ध बोध का कारण अर्थात् साधन ही प्रमाण है। प्रमा संशय से सर्वथा भिन्न है। तथ्याश्रित तर्क की वह प्रक्रिया जिससे सत्यासत्य का बोध होता है, प्रमाण कहलाती है। इस प्रकार प्रमाण दोहरा कार्य करते हैं, वे असत्य या अतथ्य का खण्डन करते हैं और तथ्य तथा सत्य का मण्डन करते हैं। एम. रोज़ेन्थल (M. Rosenthal) तथा पी. युडीन (P. Yudin) द्वारा सम्पादित 'ए डिक्शनरी ऑफ़ फ़िलॉसफ़ी' (A Dictionary of philosophy) के अनुसार प्रमाण (proof) किसी विचार के सत्यासत्य की

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

स्थापना के लिए निर्मित तर्क-प्रक्रिया है। (Process of reasoning designed to establish the truth or falsity of an idea.) प्रसिद्ध न्यायशास्त्री (तर्कशास्त्री) वात्स्यायन का कथन है कि प्रमाणों के द्वारा अर्थ की जाँच करना ही न्याय (तर्कशास्त्र) है – 'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः।'

स्वरूप की दृष्टि से प्रामाणिकता के दो पक्ष हैं – नकारात्मक और सकारात्मक। नकारात्मक दृष्टि से अप्रामाणिकता के सभी लक्षणों – तथ्यहीनता, सन्दिग्धता, अनिश्चय, अस्पष्टता, असंगति, व्यक्तिनिष्ठता, दुराग्रह, भ्रामक तथ्याख्यान, टीपगत अशुद्धता, वर्तनीगत त्रुटियाँ आदि – का अभाव प्रामाणिकता की प्राथमिक शर्त है। सकारात्मक दृष्टि से तथ्यों की शुद्धता, तथ्यों से प्राप्त तत्त्वों की सही अवगति, तथ्याख्यान की वस्तुनिष्ठता और तार्किक संगति आदि प्रामाणिकता के सकारात्मक लक्षण हैं, जिनके द्वारा शोध के उत्कृष्ट स्वरूप का साक्षात्कार होता है।

9.4.3. प्रामाणिकता के मूल स्त्रोत और उनकी परख

शोध के मूल स्त्रोत या कारण ही शोधगत प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता के भी मूल कारण हैं। पहले लिखा जा चुका है कि शोधक शोध का निमित्त कारण है और तथ्यों के रूप में संचित सामग्री शोध का उपादान कारण है। संचित सामग्री की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता के लिए भी वस्तुतः शोधक ही उत्तरदायी है। यहाँ संचित सामग्री की प्रामाणिकता के सन्दर्भ में शोधक और सामग्री की परख पर विचार करना प्रासंगिक होगा।

(क) शोधक का आत्म-परीक्षण : शोधक की मानसिकता संचित सामग्री की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता के लिए अत्यधिक उत्तरदायी है। डॉ. विनयमोहन शर्मा अपनी 'शोध-प्रविधि' नामक पुस्तक में 'संचित सामग्री की प्रामाणिकता की परीक्षा' विषय पर प्रकाश डालते हुए इस सन्दर्भ में शोधक या लेखक के प्रमाद से प्रसूत विसंगतियों को उजागर करते हुए लिखते हैं, 'कभी लेखक अपने पूर्ववर्ती लेखक की भूल को दुहराते जाते हैं और कभी अपने व्यक्तिगत विश्वासों के आधार पर किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। उदाहरणार्थ एक प्रगतिवादी समीक्षक ने तुलसी की रचनाओं में 'प्रगतिवाद' को आरोपित कर दिया।' सच्चे शोधक को प्रामाणिकता का पक्षधर होने के लिए स्वभाव से सतर्क और शंकालु होना चाहिए। यहाँ शंकालु का आशय है किसी कथन को प्रामाणिक मानने से पूर्व की सजगता और सावधानी। किसी प्रतिष्ठित शोधक या समालोचक के कथन को केवल इसलिए आँखें मूँदकर स्वीकर नहीं कर लेना चाहिए कि वह एक महान् लेखक का कथन है। इसी गतानुगतिकता के कारण बहुत दिनों तक सीही के स्थान पर रुनकता को ही सूरदास

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

की जन्मभूमि माना जाता रहा। सच्चे शोध की गति वहीं अवरुद्ध हो जाती है, जहाँ परवर्ती शोधक पूर्ववर्ती शोधकों के निष्कर्षों की जाँच-पड़ताल करना बन्द कर देते हैं। वास्तव में असत्य, अतथ्य, सन्दिग्ध और अप्रामाणिक निर्णयों का निरस्तीकरण भी उतना ही मूल्यवान् है, जितनी प्रामाणिक निष्कर्षों की प्रतिष्ठा।

शोधक यदि अपनी पूरी क्षमताओं का श्रम और निष्ठा के साथ उपयोग करते हुए अपनी संचित सामग्री की परीक्षा करे तो वह वर्तनी-सम्बन्धी, वाक्यगत, तथात्मक त्रुटियों को दूर कर सकता है। इस कार्य में वह अपने निर्देशक का मार्गदर्शन भी प्राप्त कर सकता है। शोध में यह आत्मावलोकन, आत्म-सुधार, आत्म-परीक्षण की प्रक्रिया बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

(ख) सामग्री-परीक्षण : शोध-क्षेत्र से प्राप्त की गयी तथ्यावली या सामग्री अन्तःसाक्ष्य कहलाती है। अन्तःसाक्ष्य में स्वयं रचनाकार के माता-पिता, जीवनकाल, आश्रयदाता, जन्म-मरण-काल, कृतियों आदि से सम्बन्धित कथन ही समाविष्ट नहीं हैं, वरन् सूक्ष्म वैचारिक कथन भी सम्मिलित हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि स्वयं कवि द्वारा अपने सम्बन्ध में दिये गये वक्तव्य भी, जिन्हें अन्तःसाक्ष्य कहा जाता है, अनेक बार बहुत भ्रामक और अविश्वसनीय होते हैं। उन्हें एक दम प्रामाणिक मान लेना ख़तरे से खाली नहीं है। सत्य और प्रामाणिकता की दुहाई देते हुए अपने काव्य सृजन से सम्बन्धित अज्ञान का ढिंढोरा पीटने वाले तुलसीदास का यह कथन कि 'कवित विवेक एक नहिं मोरे, साँच कहौं लिखि कागद कोरे' सर्वथा असत्य और अविश्वसनीय है। दूसरी ओर वे ही तुलसीदास अपने रामचरितमानस की रचना को 'नानापुराणनिगमागमसम्मत' बतला कर अपनी विद्वत्ता और व्यापक अध्ययनशीलता का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' के रूप में अपने दोषों की उद्घोषणा करने वाले सूर का यह अन्तःसाक्ष्य भी अविश्वसनीय ही है। विभिन्न शास्त्रीय राग-रागनियों में निबद्ध पदों की लम्बे-लम्बे सांग रूपकों में छन्दोबद्ध रचना करने वाले तथा 'पंजर प्रेम प्रकासिया, अन्तस भया उजास' जैसी स्तरीय रचनाधर्मी भाषा का नमूना प्रस्तुत करने वाले सन्त काव्यधारा के प्रमुखतम कवि कबीर को 'मसि कागद छूयो नहिं, कलम गही नहिं हाथ' के आधार पर अनपढ़ मानना निश्चय ही अन्यायपूर्ण और असंगत है।

शोधकों को चाहिए कि वे शोध्य ग्रन्थों के प्रामाणिक संस्करणों का ही प्रयोग करें। यदि प्रमादवश किसी अप्रामाणिक ग्रन्थ से टीप ले ली गयी है, तो तत्काल उसे त्याग कर प्रामाणिक ग्रन्थ से नये सिरे से टीप ग्रहण करनी चाहिए। यदि किसी उपशीर्षक के अन्तर्गत विवेच्य वैचारिक इकाई के विषय में पुनरावृत्तिमूलक तथ्यों की टीपें अधिक संख्या में हैं, तो विवेचन के सही अनुपात को ध्यान में रखते हुए उनमें से

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अपेक्षाकृत कम सार वाली टीपों को त्याग देना चाहिए।

जो सावधानियाँ अन्तःसाक्ष्य से सम्बन्धित संचित सामग्री के विषय में ध्यातव्य हैं, वे बहिस्साक्ष्य के सन्दर्भ में भी ग्राह्य हैं। शोध-क्षेत्र से बाहर की सहायक, पोषक सामग्री की प्रामाणिकता की परख अत्यावश्यक है। चापलूस दरबारी कवियों या इतिहासकारों द्वारा लिखित तथाकथित इतिहास-ग्रन्थों की ऐतिहासिकता बहुत कुछ सन्दिग्ध ही होती है। इसी प्रकार द्वितीय-तृतीय श्रेणी के साहित्येतिहासकारों के साहित्येतिहास भी विश्वसनीय नहीं होते। ऐसे ग्रन्थों से ली गयी सामग्री से पीछा छुड़ाना ही श्रेयस्कर है। आजकल के अधिकतर शोध-प्रबन्ध और समलोचना-ग्रन्थ भी तत्त्वपूर्ण सामग्री से सम्पन्न नहीं होते। उनसे टीपित सामग्री का परित्याग ही मंगलमूलक है। भावुक भक्तों या सम्प्रदाय-समर्पित आचार्यों के 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' अथवा 'दो सौ बावन वैष्णनव की वार्ता' सरीखे ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक सूचनाओं के साथ ही अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाओं का भी समावेश किया गया है। इन ग्रन्थों से गृहीत सामग्री का उपयोग करने से पूर्व उसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में आश्वस्त होना आवश्यक है।

संक्षेप में, प्रामाणिक निर्णयों तक पहुँचने के लिए सामग्री के रूप में संचित तथ्यों की प्रामाणिकता प्राथमिक आवश्यकता है। अतः शोधक को संचित सामग्री के उपयोग से पूर्व उस सामग्री की निर्लेप एवं निर्मम भाव से परीक्षा कर लेनी चाहिए तथा त्याज्य सामग्री का त्याग कर उसके स्थान पर विश्वसनीय सामग्री जुटानी चाहिए।



CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अध्याय - 10

वस्तुनिष्ठ विश्लेषण और संयोजन

वैज्ञानिक बोध का आधार है वस्तुनिष्ठ विश्लेषण, वर्गीकरण और संयोजन। वस्तुनिष्ठ का अर्थ है तथ्याश्रित। वस्तु के अंग-प्रत्यंगों को पृथक्-पृथक् करके जाँचना-परखना ही विश्लेषण है। विश्लेषण (analysis) के साथ-साथ संश्लेषण (synthesis) या संयोजन की प्रक्रिया भी चलती है। संश्लेषण या संयोजन का अर्थ है विश्लेषण या वस्तुनिष्ठ परीक्षण से प्राप्त निष्कर्षों को एक साथ जोड़ना या उनका समाहार करना। विज्ञान के स्तर पर इस पूरी शब्दावली और उसमें निहित वैज्ञानिक प्रक्रिया को सम्यक् रूप में समझा जा सकता है। वैज्ञानिकों ने विश्व के पदार्थों का पहले पृथक्-पृथक् विश्लेषण और परीक्षण किया। उन्होंने देखा कि सभी पदार्थ समान विशेषताओं वाले नहीं हैं। फिर उन्होंने देखा कि कुछ पदार्थ ऐसे हैं, जो ठोस आकार, भार आदि समान विशेषताओं से युक्त हैं। उन्होंने विशेषताओं की समानताओं के आधार पर उन्हें एक वर्ग में रख लिया और इस वर्ग को 'ठोस' नाम दिया। फिर उन्होंने देखा कि कुछ पदार्थ बहने वाले तथा अपना तल स्वयं खोज लेने वाले हैं। समानताओं के आधार पर वैज्ञानिकों ने इस वर्ग के पदार्थों को 'द्रव' नाम से अभिहित किया। कुछ पदार्थों में उड़ने, फैलने और भारयुक्त होने की समान विशेषताएँ पायी गयीं। वैज्ञानिकों ने इन पदार्थों के वर्ग को 'गैस' नाम दिया। उन्होंने प्रत्येक वर्ग की विशेषताओं का समाहार करते हुए अपने संश्लिष्ट निष्कर्ष दिये और अन्त में सब निष्कर्षों का संयोजन करते हुए सार निकाला कि विश्व में तीन प्रकार के पदार्थ पाये जाते हैं। इस प्रकार वस्तुनिष्ठ विश्लेषण, वर्गीकरण और संयोजन (संश्लेषण)

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वैज्ञानिक अध्ययन-पद्धति के स्वाभाविक आयाम हैं।

जीवन और जगत् के विविध क्षेत्रों में भी विश्लेषण-संश्लेषण और संश्लेषण-विश्लेषण की यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। ईंट, पत्थर, सीमेंट, लकड़ी आदि विभिन्न विश्लिष्ट वस्तुओं के संयोजन से भवन निर्मित होता है। इसी प्रकार लौकी, घृत, लवण, हल्दी, मसाले, जल आदि विभिन्न वर्गों की विश्लिष्ट वस्तुओं के संश्लेषण से सब्ज़ी तैयार होती है। अब यदि यह सब्ज़ी किसी वैज्ञानिक को विश्लेषणार्थ दी जाये तो वह प्रयोगशाला में विशेष अध्ययन द्वारा सब्ज़ी में प्रयुक्त प्रत्येक पदार्थ की मात्रा, गुण आदि का विवरण प्रस्तुत कर सकता है और इस विश्लेषण के आधार पर प्राप्त निष्कर्षों का समाहार करते हुए संश्लिष्ट रूप में बता सकता है कि वह सब्ज़ी स्वास्थ्य के लिए कितनी उपयोगी या हानिकारक है। यहाँ हम संश्लेषण से विश्लेषण और विश्लेषण से पुनः संश्लेषण की ओर उन्मुखता का उदाहरण देख सकते हैं।

साहित्यकार का बोध वैज्ञानिक की भाँति बुद्धिप्रधान नहीं होता। जहाँ विज्ञान में केवल बुद्धि का ही वर्चस्व है, वहाँ साहित्य में बौद्धिक चिन्तन संवेदना-संवलित और कल्पनामिश्रित रूप में प्रस्तुत होता है। साहित्य में दर्शन, मनोविज्ञान, संस्कृति, नैतिकता, देशप्रेम, सौन्दर्य-चेतना, प्रेम-भावना आदि विभिन्न चिन्तनों और भावनाओं के साथ शिल्प की दृष्टि से बिम्ब-प्रतीक, अलंकार, छन्द आदि का भी संश्लिष्ट रूप मिलता है। इसके विपरीत शोधक वैज्ञानिक की विशुद्ध बौद्धिक भूमिका में अवस्थित होकर संश्लिष्ट स्वरूप वाले साहित्य का भी वैज्ञानिक की भाँति विश्लेषण करना चाहता है और विश्लेषण से प्राप्त तत्त्व-बोध या निष्कर्षों को संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत करता है। विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्षों का संश्लेषण ही वास्तव में उसकी अभीष्ट उपलब्धि है। इस प्रकार शोध-प्रक्रिया में विश्लेषण और संश्लेषण साथ-साथ चलते हैं।

विश्लेषण-संश्लेषण की प्रक्रिया की भाँति ही विभाजन या वर्गीकरण और विश्लेषण-विवेचन की प्रक्रियाएँ भी साथ-साथ चलती हैं। शोधक विषय के व्यापक घटकों से सम्बन्धित तथ्यों को ध्यान में रखकर पूरे शोध-प्रबन्ध को अध्यायों में विभक्त करता है और विषय के घटकों के आधार पर प्रत्येक अध्याय के अलग-अलग शीर्षक निश्चित करता है। फिर प्रत्येक अध्याय को भी बड़ी-छोटी वैचारिक इकाइयों के आधार पर विभिन्न शीर्षकों और उपशीर्षकों में वर्गीकृत करता है। यह वर्गीकरण ही विभिन्न वैचारिक, घटकों और उनके विभिन्न शीर्षकों वाले भागों-उपविभागों से सम्बन्धित तथ्यों के विश्लेषण-विवेचन का आधार बनता है।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

10.1. वर्गीकरण और विश्लेषण

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विषय के सूक्ष्मातिसूक्ष्म, क्रमबद्ध एवं अन्वितिमूलक, विकासोन्मुखी विश्लेषण के लिए ही पहले समूचे शोध-विषय को अध्यायों और फिर अध्यायों को उनके भागों-उपविभागों में विभिन्न शीर्षकों-उपशीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जाता है। वर्गीकरण की यह प्रक्रिया जितनी सूक्ष्म और वैज्ञानिक होगी, विषय-विश्लेषण उतना ही सूक्ष्म और युक्तिसंगत होगा। इस पूरी प्रक्रिया को व्यावहारिक उदाहरण द्वारा सुविधापूर्वक समझा जा सकता है। मान लीजिए हम 'तुलसी साहित्य के सांस्कृतिक आयाम' विषय पर शोधरत हैं। इसमें 'तुलसी : व्यक्तित्व और कृतित्व' अध्याय तो अनिवार्य है ही। इसी प्रकार 'संस्कृति : स्वरूप और विविध आयाम' शोध-दृष्टि से सम्बन्धित सिद्धान्त-निरूपक अध्याय भी नितान्त अपरिहार्य है। शेष अध्याय शोध के विषय-क्षेत्र (तुलसी-साहित्य) के सूक्ष्म अध्ययन के आधार पर संचित बहुआयामी सांस्कृतिक तथ्यों के विश्लेषण-विवेचन पर आधारित होंगे।

मान लीजिए तुलसी साहित्य में हमें अवतारवाद और देव-सृष्टि, शरीर और स्वास्थ्य-विज्ञान, मनोविज्ञान, नीति, भक्ति, दर्शन, विविध संस्कार, प्रकृति, सौन्दर्य-बोध, सांस्कृतिक शब्दावली और भाषा के रूप में विविध सांस्कृतिक आयामों के सम्बन्ध में प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। ऐसी स्थिति में हम इन सभी आयामों को पृथक्-पृथक् अध्याय में स्थान देंगे, यथा 'तुलसी-साहित्य में अवतारवाद और देव सृष्टि, तुलसी-साहित्य में शरीर-निरूपण और स्वास्थ्य-विज्ञान, तुलसी साहित्य में मनोविज्ञान आदि। विवेचन को व्यवस्थित, सुग्राह्य बनाने के लिए हम प्रत्येक अध्याय को भी शीर्षकों-उपशीर्षकों में वर्गीकृत करेंगे। यह वर्गीकरण वैचारिक इकाइयों या घटकों के आधार पर होगा।

वर्गीकरण की इस क्रमबद्धता, युक्तियुक्तता, सूक्ष्मोन्मुखता को स्पष्ट करने के लिए यहाँ हम उपर्युक्त शोध-विषय के भक्ति-विषयक अध्याय के आन्तरिक वर्गीकरण को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत करते हैं :

1. भक्ति : व्युत्पत्ति, अर्थ और स्वरूप
2. तुलसी की भक्ति-भावना : एक विश्लेषण
   (क) उपास्य राम का स्वरूप
   (ख) भक्त का स्वरूप
   (ग) भक्ति का स्वरूप
   (घ) भक्ति के साधन
3. तुलसी की राम-भक्ति का सांस्कृतिक पक्ष

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(क) भक्ति और स्वातन्त्र्य-बोध
(ख) भक्ति और विजय-कामना
(ग) भक्ति और अछूतोद्धार
(घ) भक्ति और अमंगल से मुक्ति
(ङ) तुलसी की भक्ति में दिव्यता पर मानवता की प्रमुखता

10.2. वस्तुनिष्ठ विश्लेषण

वस्तु का अर्थ है सामग्री या तथ्यावली। तथ्याश्रित विवेचन या तथ्याख्यान को ही वस्तुनिष्ठ विश्लेषण कहा जाता है। ऐसा विवेचन तर्कसम्मत होता है। तर्क के द्वारा तथ्य में निहित तत्त्व का मन्थन करना ही तथ्याख्यान है। एक तथ्य में वैचारिक इकाई का कोई न कोई पक्ष निहित रहता है। वैचारिक इकाई से सम्बन्धित तथ्यावली में निहित तत्त्वांश को क्रमबद्ध विश्लेषण के माध्यम से उजागर किया जा सकता है। वास्तुनिष्ठ विश्लेषण की पद्धति को समझने के लिए 'तुलसी-साहित्य के सांस्कृतिक आयाम' शोध-विषय के 'तुलसी की भक्ति का स्वरूप' अध्याय के एक उपशीर्षक 'तुलसी की भक्ति में दिव्यता पर मानवता की प्रमुखता' के अन्तर्गत अपनायी जाने योग्य विश्लेषण-विधि को उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। इस वैचारिक इकाई से सम्बन्धित तथ्यों में से कुछ तथ्यों का विश्लेषण यहाँ अवलोकनार्थ प्रस्तुत है :

(1) मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥
(रा.च.मा. 7, 119 (ख), 8)

यहाँ काकभुशुण्डि गरूड़ को लक्ष्य करते हुए कहते हैं कि राम का सेवक स्वयं राम से भी बढ़कर होता है। राम का भक्त राम-भक्ति के माध्यम से अपने भीतर निहित मानवता को प्राप्त कर लेता है। राम की दिव्यता का ध्यान मनुष्य के भीतर निहित मानवत्व के साक्षात्कार का माध्यम बन जाता है। ऐसी स्थिति में मानवता साध्य है और राम की दिव्यता साधन मात्र।

(2) भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम राम जपु जेही॥
(रा.च.मा. 2, 217, 4)

देवगुरु बृहस्पति देवराज इन्द्र से कहते हैं कि भ्रातृत्व-भाव की भक्ति करने वाले मानव-महिमा से मण्डित भरत के समान राम को अन्य कोई प्रिय नहीं है। तभी तो सारा जगत् राम की भक्ति करता है, किन्तु वे भरत ही हैं, जिनकी भक्ति स्वयं राम करते हैं। इस प्रकार मानवीय गुणों के उत्कर्ष के कारण भरत स्वयं राम के लिए भी

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उपास्य बन गये हैं।

(3) सातवं सभ मोहि भय जग देखा। मोते अधिक संत करि लेखा॥
(रा.च.मा. 3, 35, 2)

मानवीय गुणों के कारण तुलसी ने सन्तों को राम से भी महत्तर माना है। राम शबरीं को नवधा भक्ति का सन्देश देते हुए कहते हैं कि सातवीं भक्ति यह है कि सारे जगत् को मुझसे व्याप्त देखो और सन्तों को मुझसे भी बढ़कर मानो। मानव-महिमा के इसी तत्त्व की पुष्टि निम्नलिखित कथन से भी होती है।

(4) सुन मुनि संतन्ह के गुन कहहूँ। जिन्ह तें मैं उनके बस रहहूँ॥
(रा.च.मा. 3, 44, 3)

नारद मुनि को लक्ष्य करके सन्तों के मानवीय गुणों के उत्कर्ष को रेखांकित करते हुए राम कहते हैं कि मैं सन्तों के उन महान् मानवीय गुणों का वर्णन करता हूँ, जिनके कारण मैं उनके वश में रहता हूँ। मानवीय लौकिक गुण अलौकिक सत्ता को भी अपने वश में करने की क्षमता रखते हैं।

अन्य तथ्य भी दिव्यता पर मानवता की प्रमुखता की पुष्टि करते हैं। मानवीय गुणों के चरमोत्कर्ष के भव्यतम निरूपण के रूप में तुलसी ने भरत को प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार राम के दर्शन से भवरोग कट जाते हैं, उसी प्रकार भरत के दर्शन से भी भवरोग मिट जाते हैं – 'भरत दरस मेटा भव रोगू।' चित्रकूट की ओर गमन करते समय भरत जी के लिए मार्ग जितना सुखदायी सिद्ध हुआ, उतना तो राम के लिए भी नहीं हुआ था – 'तस मगु भयउ न राम कहँ जस भा भरतहिं जात।' महाभारतकार की मान्यता है कि मनुष्य से बढ़कर कुछ भी नहीं है – 'न हि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्।' तुलसी भी मानव-महिमा के इसी सिद्धान्त को मानते हैं। तुलसी की मानव-निष्ठा ईश-निष्ठा से आगे निकल गयी है। वे राम को निर्गुण, अलौकिक, दिव्य, सत्ता की अपेक्षा उनके मर्यादापुरुषोत्तम रूप के लिए आराध्य मानते हैं। सच तो यह है कि उन्होंने मानवता और लोक के उत्कर्ष तथा कल्याण के लिए ही सारी दिव्यता और अलौकिकता की कल्पना की है। मानव-मंगल साध्य है और राम-भक्ति उसका सात्त्विक साधन। उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषण के संयोजन से यही तत्त्व उभर कर आता है। वस्तुतः तुलसी-काव्य में सारी दिव्यता मानवता के प्रति नियोजित और समर्पित है। अतः मानवता और दिव्यता में पारस्परिकता है, ऐक्य है, कोई द्वन्द्व नहीं है। दिव्यता मानवता की ही पोषक और संवर्द्धक है। उधर, मानवता का उत्कर्ष ही दिव्यता से भास्कर हो उठता है, किन्तु तुलसी ने प्रमुखता मानवता को ही प्रदान की है।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

10.3. संयोजन

'वस्तुनिष्ठ विश्लेषण' के अन्तर्गत एक शोध-विषय के एक अध्याय के एक उपभाग से सम्बन्धित वैचारिक इकाई से सम्बद्ध कुछ तथ्यों के विश्लेषण की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है तथा अन्त में सारे तथ्यों के विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्षों को सार रूप में एकत्र संयोजित करके समूचे विश्लेषण की परिणति संश्लेषण या संयोजन में दर्शायी गयी है। यह विश्लेषण-संश्लेषण की प्रक्रिया समूची शोध-प्रक्रिया के सभी सोपानों पर इसी प्रकार साथ-साथ चलती है। विभिन्न उपविभागों के सारे निष्कर्ष सम्बन्धित भाग के अन्त में संयोजित होकर विश्लेषण की निष्पत्तियों को समग्र रूप में संश्लेषण तक पहुँचाते हैं। फिर प्रत्येक अध्याय के सभी भागों के तत्त्व-चिन्तन को अध्याय के अन्त में समन्वित रूप में प्रस्तुत किया जाता है। फिर सारे अध्यायों की निष्पत्तियों को संश्लिष्ट रूप में शोध-प्रबन्ध के अन्त में समाहार रूप में 'उपसंहार' के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार 'उपसंहार' में सारे अध्यायों के विश्लेषण-विवेचन से प्राप्त निष्कर्षों का समग्र रूप में संश्लेषण या समाहार हो जाता है। यह 'उपसंहार' सारे अध्यायों के विभिन्न भागों-उपभागों में किये गये विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्षों का समन्वित रूप है।

समूचे विश्लेषण और संयोजन की सफलता रूपरेखा की वैज्ञानिक निर्मिति पर निर्भर है। शोध-विषय का शोध-दृष्टि के अनुसर विभिन्न अध्यायों और उन अध्यायों का भी विभिन्न शीर्षकों और तदुपरान्त शीर्षकों का उपशीर्षकों में जितनी बारीकी से वैज्ञानिक वर्गीकरण कर लिया जाता है, विश्लेषण उतना ही अधिक तर्कसम्मत, चिन्तनपूर्ण और क्रमबद्ध हो पाता है और संयोजन में उतनी ही सारपूर्णता और गम्भीरता आ जाती है। विषय की दृष्टि अथवा सिद्धान्त-पक्ष वह तत्त्व है जो समूचे विश्लेषण और संश्लेषण को सूत्रबद्धता प्रदान करता है। विषय-विश्लेषण से प्राप्त तत्त्वों, निर्णयों, निष्कर्षों के संयोजन की दृष्टि से निम्नलिखित बिन्दुओं को ध्यान में रखना उपयोगी होगा :

(1) अध्यायों को विषय के स्वाभाविक विकास के अनुरूप युक्तिसंगत रूप में रखा जाए।

(2) प्रत्येक अध्याय के अन्दर समाहित शीर्षकों, उपशीर्षकों के अन्तर्गत किये गये तथ्याख्यान के निष्कर्षों को अध्याय के अन्त में और सभी अध्यायों के निष्कर्षों को 'उपसंहार' में संश्लेषित करके समग्र अध्ययन का सार प्रस्तुत करना चाहिए।

(3) सिद्धान्त-पक्ष से सम्बन्धित अध्याय में विवेचित दृष्टि-बिन्दुओं के आलोक में ही विविध अध्यायों के शीर्षकों-उपशीर्षकों के अन्तर्गत आने वाली तथ्यावली

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

का सम्यक् विश्लेषण करना चाहिए। इससे सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विवेचन में अन्विति बनी रहती है। सिद्धान्त-पक्ष वाला अध्याय पूरे शोध-प्रबन्ध के पाँचवें भाग से अधिक नहीं होना चाहिए।

(4) सहायक ग्रन्थों से प्रामाणिक और स्तरीय अत्यावश्यक सामग्री ही ग्रहण करनी चाहिए, असम्बद्ध और अप्रासंगिक नहीं, अन्यथा विषयान्तरों के कारण संयोजन गड़बड़ा जाता है।

(5) संयोजन के लिए कहीं-कहीं संक्षिप्त पुनरावृत्ति आवश्यक है, किन्तु अधिक पुनरावृत्तियों से संयोजन बिगड़ता है और विषय-विवेचन में अनावश्यक विस्तार आता है। पुनरावृत्ति से बचने के लिए परस्पर-सन्दर्भ (cross-references) देना उपयोगी रहता है।

कुल मिलाकर संचित सामग्री का वैज्ञानिक वर्गीकरण ही वस्तुनिष्ठ एवं तर्कसम्मत विश्लेषण का सुदृढ़ आधार है। सामग्री के सही वर्गीकरण के आधार पर निर्मित रूपरेखा के समीचीन निर्वाह से विश्लेषण और संश्लेषण की प्रक्रियाओं का भी सन्तुलित एवं विकासोन्मुख रूप में निर्वाह हो जाता है तथा सारे विषय-विवेचन में आद्योपान्त अन्विति बनी रहती है। वर्गीकरण, विश्लेषण और संश्लेषण की ये प्रक्रियाएँ परस्पर गुम्फित, अन्योऽन्याश्रित और पूरक हैं। किसी एक प्रक्रिया को पृथक् करके नहीं समझा जा सकता। ये सापेक्षता में ही समझ में आ सकती हैं। शोध-प्रबन्ध की सारी वस्तुगत और वैचारिक संरचना इन्हीं तीनों प्रक्रियाओं के अन्तरावलम्बन पर निर्भर होती हैं। इनसे ही सारे विषय-विवेचन में सूत्रबद्धता आती है।



CC0. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अध्याय - 11

तर्क-पद्धति : तथ्याख्यान और तत्त्व-निरूपण

व्यक्ति (शोधक) और वस्तु (तथ्य या सामग्री) के सम्पर्क से शोधगत तत्त्व-बोध का उदय होता है। शोध-कार्य एक वस्तुनिष्ठ, बौद्धिक क्रिया है। शोधक की बुद्धि वस्तु या तथ्यावली का अवलम्बन ग्रहण करके तर्क के रूप में सक्रिय हो उठती है। तर्क की इसी तथ्याश्रित सक्रियता को चिन्तन कहते हैं। जैसे विद्युत तार पर ही दौड़ सकती है, निराधार नहीं, ऐसे ही तर्क तथ्यावली के सहारे ही सक्रिय हो सकता है। जिसे अमूर्त (abstract) चिन्तन कहा जाता है, वह भी नितान्त अमूर्त और निराधार नहीं होता। बस अन्तर यही होता है कि वहाँ तथ्य स्थूल न होकर सूक्ष्म विचार होते हैं। दर्शन में चिन्तन विचारों के मन्थन से ही नये विचारों तक पहुँचता है। आत्मा व्यक्तिगत सत्ता की अवधारणा या विचार है तथा परमात्मा विश्वगत सत्ता की अवधारणा है। तर्क द्वारा आत्मा-परमात्मा की एकता या अद्वैत की अवधारणा तक पहुँचा जा सकता है।

11.1. तथ्य : अर्थ, परिभाषा और स्वरूप

'तथ्य' शब्द तथा+यत् से निर्मित है, जिसका अर्थ है वास्तविकता या यथार्थता। तथ्य के लिए अंग्रेजी में फ़ैक्ट (fact) शब्द का प्रयोग होता है। वैब्सटर्स डिक्शनरी के अनुसार फ़ैक्ट का अर्थ है वह वस्तु जिसका वास्तविक अस्तित्व है। (something that has actual existence)। शोध के विषय-क्षेत्र में पाये जाने वाले तथ्य अन्तःसाक्ष्य कहलाते हैं तथा कृति से बाहर अन्य ग्रन्थों, दस्तावेजों, शिलालेखों में मिलने वाले तथ्य बहिस्साक्ष्य कहे जाते हैं।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कुछ तथ्य स्थूल सूचनाओं के वाहक होते हैं तथा कुछ सूक्ष्म मनोभावों, विचारों, कल्पनाओं आदि के निरूपक या अभिव्यंजक होते हैं। किसी कृतिकार के जन्म-स्थान, जन्मकाल, शिक्षा, माता-पिता आदि की सूचना देने वाले तथ्य स्थूल होते हैं। ऐसे तथ्यों को 'विहित' तथ्य कहा जाता है। विहित का अर्थ है निश्चित या स्पष्ट। निहित या निगूढ़ विचारों के व्यंजक तथ्यों को 'निहित' तथ्य कहा जाता है। एक उदाहरण के द्वारा निहित तथ्य के स्वरूप को समझा जा सकता है। कामायनी के चिन्ता सर्ग के प्रारम्भ में जलप्लावन के वर्णन में कहा गया है, 'एक तत्त्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन।' यहाँ प्रधानता का अर्थ केवल 'प्रमुखता' नहीं है। यहाँ प्रधानता शब्द सांख्य दर्शन से सम्बन्धित है। सांख्य दर्शन में अव्यक्त, सूक्ष्म प्रकृति को 'प्रधान' कहा गया है। इसी 'प्रधान' या अव्यक्त प्रकृति से जड़ प्रकृति का विकास हुआ है तथा इसी से मानव-प्रकृति या चेतना का। यहाँ कवि सांख्य दर्शन के सिद्धान्त के अनुसार कहना चाहता है कि सम्पूर्ण जड़ और चेतन जगत् का स्रोत एकमात्र अव्यक्त प्रकृति ही है। निगूढ़ अर्थ का व्यंजक एक अन्य उदाहरण लीजिए। सब बिहारी को एक शृंगारी कवि के रूप में मानते हैं, किन्तु वे बहुत बड़े नीतिज्ञ और राजनीतिज्ञ भी थे। इसका प्रमाण है निम्नलिखित दोहा, जिसमें अन्योक्ति के माध्यम से राजा जयसिंह को बाज़ पक्षी के रूप में सम्बन्धित करते हुए कहा गया है कि दूसरे के हाथ में पड़कर पक्षियों को मारना ठीक नहीं है। इससे न स्वार्थ सिद्ध होता है और न कोई पुण्य मिलता है। सारा श्रम व्यर्थ चला जाता है। किन्तु इसका निहितार्थ शुद्ध राजनीतिक है। मुग़ल सम्राट् औरंगज़ेब के अनुरोध पर राजा जयसिंह ने मुग़ल सेना का अध्यक्ष बनकर शिवाजी पर आक्रमण किया और उनके अधिकतर दुर्गों को जीत लिया तथा सेना को क्षति पहुँचायी। इस ऐतिहासिक सन्दर्भ में दोहे का विशुद्धं राजनीतिक अर्थ अन्योक्ति के गर्भ से प्रकट होता है। कवि अपने आश्रयदाता राजा जयसिंह को राजनीति-तत्त्व का बोध कराते हुए कहता है कि मुग़ल सम्राट् के वशीभूत होकर अपने पक्ष वाले हिन्दू राजाओं की सेना का हनन मत करो अर्थात् शिवाजी पर आक्रमण बन्द करो। आक्रमण से न स्वार्थ सधता है और इससे न कोई पुण्य मिलता है। दोहा इस प्रकार है :

> **स्वारथु, सुकृतु न श्रम बृथा, देखि, बिहंग विचारि।**
> **बाज पराये पानि परि, तू पच्छीनु न मारि॥**

गूढ़ तथ्य निहित अर्थों, विचारों, भावों, प्रसंगों आदि के प्रतीक होते हैं। तथ्य कितने ही गहन, सूक्ष्म या अर्थगर्भित क्यों न हों, किन्तु वे सबके लिए विश्वसनीय और प्रामाणिक होते हैं। इसलिए शोधक को तथ्य और अतथ्य के मध्य भेद करके ही विवेकपूर्वक प्रामाणिक सहायक ग्रन्थों से ही सामग्री संकलित करनी चाहिए। सन्दिग्ध,

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अविश्वसनीय कथनों, प्रसंगों आदि को तथ्य नहीं माना जा सकता। श्रीमती पी.वी. यंग (P. V. Young) ने तथ्य के इसी तथ्यात्मक एवं प्रामाणिक स्वरूप को रेखांकित करते हुए अपनी पुस्तक 'साइण्टिफिक सोशल सर्वे एण्ड रिसर्च' में लिखा है, "Facts may be seen as physical, mental or emotional phenomena which can be affirmed with certainty and are accepted as true in a given world of discourse." अर्थात् तथ्यों को ऐसी भौतिक या शरीरिक, मानसिक या भावावेगात्मक घटनाओं के रूप में देखा जाना चाहिए जिनकी निश्चयपूर्वक पुष्टि की जा सकती है तथा जिन्हें विवेचन की दुनिया में सत्य के रूप में स्वीकारा जाता है।

11.2. तर्क : अर्थ, परिभाषा और स्वरूप

तर्क के सम्बन्ध में प्रसंगवश 'शोध के तत्त्व' शीर्षक के अन्तर्गत भी संक्षिप्त विवेचन किया जा चुका है। यहाँ तर्क के सम्बन्ध में आधारभूत बातों का समाहार ही अभीष्ट है। वस्तुतः शोध का लक्ष्य ज्ञानोपलब्धि है। ज्ञान अनिश्चयात्मक न होकर निश्चयात्मक होता है। निश्चय या निर्णय की आधार-भूमि तथ्यों द्वारा निर्मित होती है तथा तथ्यों में निहित तत्त्व या निश्चित आशय की खोज तर्क द्वारा ही होती है। तर्क शब्द तर्क् धातु में अच् प्रत्यय लगने से बना है, जिसका अर्थ है युक्ति, वाद-विवाद, कारण, कल्पना, सन्देह और न्यायशास्त्र। तथ्य से तत्त्व की खोज के लिए तर्क जिज्ञासा का भी सहारा लेता है, कभी-कभी शंका और सन्देह का भी आश्रय लेता है तथा अनेक बार कल्पना और अनुमान का भी अवलम्बन ग्रहण करता है। अनिश्चय की स्थिति से निश्चय की स्थिति तक पहुँचने के लिए तथ्याश्रित युक्तियों या कारणों का अवलम्बन ही तर्क है तथा युक्तियों या कारणों की क्रमबद्ध बौद्धिक शृंखला ही बहस या वाद-विवाद है। तर्क में तथ्याश्रित कारण का निहित होना अनिवार्य है। तथ्यों और युक्तियों से अपुष्ट या निराधार तर्क को तर्क नहीं माना जा सकता। जब तर्क अपने शुद्ध स्वरूप से भटककर कभी खण्डन और कभी मण्डन में प्रवृत्त होता है, तब उसे न्यायशास्त्र की शब्दावली में 'जल्प' कहा जाता है तथा जब तर्क केवल खण्डन में ही जुट जाता है तो उसे 'वितण्डा' कहा जाता है। मिथ्या या मनगढ़न्त तथ्य या प्रमाण के सहारे अपनी बात को सत्य सिद्ध करने के उद्देश्य से प्रस्तुत किया गया तथाकथित तर्क 'तर्काभास' है, अतः न्याय की कसौटी पर टिक नहीं पाता और विरोधी द्वारा निरस्त कर दिया जाता है। वकील अपने-अपने पक्ष की पुष्टि के लिए अनेक बार मनगढ़न्त साक्ष्यों के आधार पर दलीलें देते हैं, किन्तु सच्चा न्यायाधीश तथ्यों को

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अतथ्यों के ढेर में से चुनकर दूध का दूध और पानी का पानी कर देता है। शोधक वकील की भाँति पक्षपातपूर्ण न होकर न्यायाधीश की भाँति तटस्थ होना चाहिए।

तर्क के द्वारा निर्भ्रान्त निश्चय या प्रमा (शुद्ध ज्ञान) तक कैसे पहुँचा जाता है - इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। तुलसी ने राम, भरत, हनुमान, शिव आदि के सात्त्विक शरीर के समानान्तर पशु, पक्षी, राक्षस आदि के शरीर के लिए 'तामस तन' और कहीं-कहीं 'अधम शरीर' का प्रयोग किया है। प्रश्न उठता है कि क्या तुलसी ने इन दोनों को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है या दोनों में कुछ भिन्नता है। इस सम्बन्ध में सही निर्णय तक पहुँचने के लिए कुछ तथ्यों को परखना आवश्यक है। रावण राम का वैर-भाव का भक्त इसलिए बना, क्योंकि वह जानता था कि राम-भक्ति तामसिक शरीर से सम्भव नहीं है। अतः वह कहता है, 'होइहि भजन न तामस देहा'। विभीषण जैसे-तैसे भक्त की मनोभूमि तो प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु राक्षसी तामसिक तन उनकी साधना के पथ में बाधक बन जाता है और भक्ति-मार्ग में आगे बढ़ने में भारी विवशता अनुभव करते हुए वे कहते हैं - 'तामस तनु कछु साधन नाहीं।' तुलसी ने अपने रामचरितमानस के प्रारम्भ में उन सब ही की स्तुति की है, जिन्होंने अधम शरीर के माध्यम से राम को प्राप्त किया :

कपिपति रीछ निसाचर राजा। अंगदादि जे कीस समाजा।
बन्दऊँ सब के चरन सुहाये। अधम सरीर राम जिन्ह पाये॥

(रा.च.मा. 1, 17, 1)

यहाँ कपिपति सुग्रीव, रीछ जामवन्त, अंगद आदि वानरों के शरीर के साथ राक्षसराज विभीषण के शरीर को भी अधम शरीर बताया गया है। स्पष्ट है कि राक्षसों के तामसिक शरीर को ही अधम शरीर भी कहा गया है। इससे सिद्ध है कि तामसिक और अधम शरीर पर्याय हैं। दोनों में कोई भेद नहीं है। राक्षस की उभयनिष्ठता दोनों को जोड़ती है।

11.3. तथ्याश्रित तर्क-पद्धति और सामान्यीकरण तथा तत्त्वान्वेषण

शोध-कार्य एक नितान्त बौद्धिक आयास है। अतः विषय-चयन, रूपरेखा-निर्माण, सामग्री-संचयन, वर्गीकरण और संयोजन आदि सभी स्तरों पर कारण-कार्य की संगति स्थापित करने वाली तर्क-पद्धति की आद्योपान्त आवश्यकता पड़ती है। किन्तु तर्क-पद्धति का प्रमुख कार्य तथ्य-निरूपण और तत्त्वान्वेषण पर केन्द्रित है। शोध तथ्यों का जमघट मात्र नहीं है। तथ्यानुसारी तत्त्व ही शोध की आत्मा है।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

एक वर्ग के समान लक्षणों वाले क्रमबद्ध तथ्यों के मन्थन से सामान्य विचार, तत्त्व या निष्कर्ष तक पहुँचने की तार्किक क्रिया को सामान्यीकरण (Generalization) कहा जाता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित चार तथ्यों को लिया जा सकता है। ये सब किसी न किसी प्रकार धर्म के स्वरूप से सम्बद्ध हैं :

(1) एहि ते अधिक धरमु नहिं दूजा। सादर सासु ससुर पद पूजा॥
(2) धरम न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना॥
(3) परहित सरिस धरम नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
(4) परम धर्म स्रुति विदित अहिंसा। पर निन्दा सम अघ न गरीसा॥

उपर्युक्त तथ्यों का संक्षिप्त विश्लेषण करना यहाँ अनिवार्य है। प्रथम उद्धरण में सास-ससुर की सेवा को सर्वोत्तम नारी-धर्म बताया गया है। अतः तुलसी के लिए धर्म एक कर्त्तव्य है, कोई कर्मकाण्ड नहीं। दूसरे उद्धरण में तुलसी ने वेदों और जैन तथा बौद्ध ग्रन्थों (आगमों) के साक्ष्य के आधार पर बतलाया है कि सत्य ही सर्वोपरि धर्म है। तीसरे उद्धरण में धर्म के नकारात्मक-सकारात्मक पक्षों पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि पर-पीड़न सबसे बड़ा अधर्म है तथा परोपकार सबसे महान् धर्म है। चौथे उद्धरण में वैदिक साक्ष्य के आधार पर कहा गया है कि अहिंसा परम धर्म है तथा पर-निन्दा सबसे बड़ा अधर्म। इस तथ्याख्यान से सामान्यीकरण के आधार पर कुछ समन्वित या संश्लिष्ट निष्कर्ष निकलते हैं। सकारात्मक रूप से यह तत्त्व निकलता है कि तुलसी सेवा, परोपकार आदि कर्त्तव्य कर्मों तथा सत्य, सेवा, परोपकार, अहिंसा आदि सनातन मानव-मूल्यों को ही धर्म मानते हैं। इससे नकारात्मक निष्कर्ष यह निकलता है कि तुलसी किसी कर्मकाण्ड या बाह्य आडम्बर को धर्म नहीं मानते। वे निन्दा, परपीड़न आदि मूल्य-विरोधी आचरण को अधर्म घोषित करते हैं। इस प्रकार तुलसी के अनुसार सदाचार ही धर्म है और दुराचार ही अधर्म है। वे संस्कृति को धर्म और विकृति को अधर्म मानते हैं। उनकी धर्म की अवधारणा नैतिक चेतना से अनुप्राणित आचार-दर्शन पर आधारित है। इस प्रकार धर्म उनकी सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि का अभिन्न अंग है। उनका सारा चिन्तन संश्लिष्ट एवं ऊर्ध्वमुखी है।

रामचरितमानस का अध्ययन करते समय कुछ ऐसे तथ्य मिलते हैं, जो इस वैचारिक इकाई से सम्बद्ध हैं कि विष्णु के जो वामन, मत्स्य, कच्छप आदि अवतार पुराणों में बतलाये गये हैं, वे वस्तुतः विष्णु के अवतार न होकर राम के ही अवतार थे। इस वैचारिक घटक के अनुसार राम किसी विष्णु के अवतार नहीं थे, वरन् सच तो यह है कि जिनको भ्रमवश विष्णु के अवतार माना जाता है, वे सब राम के ही अवतार थे। आइए, इस वैचारिक घटक से सम्बन्धित कुछ चुने हुए तथ्यों पर दृष्टिपात करें। प्रथम तथ्य इस प्रकार है :

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मीन कमठ सूकर नरहरी। वामन परसुराम वपु धरी॥
(रा.च.मा. 6, 109(ख), 4)

'लंकाकाण्ड' में देवगण राम को लक्ष्य करते हुए कहते हैं कि 'हे प्रभु आपने ही मत्स्य, कच्छप, शूकर (वराह), नृसिंह, वामन, और परशुराम के शरीर धारण किये थे।' स्पष्ट है कि देवगण विष्णु के अवतारों को राम के अवतार बतलाते हैं। इसी कथन की पुष्टि केवट-प्रसंग में स्वयं गोस्वामी तुलसीदास के कथन से होती है। गोस्वामी जी कहते हैं कि जिन्होंने वामनावतार में जगत् को तीन डगों से भी छोटा कर दिया था, वे ही राम गंगा के पार उतारने के लिए केवट से अनुनय-विनय कर रहे हैं :

सोई कृपालु केवटहिं निहोरा। जेहिं जगु किय तिहुं पग ते थोरा॥
(रा.च.मा. 2, 100, 2)

इन तथ्यों की पुष्टि विनय पत्रिका के उल्लेखों से भी होती है, विनय पत्रिका के पूरे पद (वि.प. 52) में मत्स्य, वराह, कच्छप, नृसिंह, वामन, परशुराम, कृष्ण और बुद्ध की गणना राम के अवतारों में की गयी है तथा कहा गया है कि ये राम ही भविष्य में विष्णुयश नामक ब्राह्मण के पुत्र के रूप में कल्कि अवतार धारण करेंगे। विनय पत्रिका के अन्य पद (वि.प. 93) में कहा गया है कि इन्हीं राम ने गजेन्द्र, प्रह्लाद और द्रौपदी की रक्षा की थी।

उपर्युक्त तथ्याख्यान से यह तत्त्व अधिगत होता है कि तुलसी अपने आराध्य राम को विष्णु का अवतार मानकर उन्हें गौण स्थिति में रखने के पक्ष में नहीं थे, इसलिए उन्होंने राम को स्वयं अवतारी माना है। अवतारी के रूप में उन्होंने ही अनेक अवतार धारण किये। भला वे किसी विष्णु के अवतार होकर द्वितीय श्रेणी की सत्ता के रूप में अवस्थित क्यों होते! वे राम तो सर्वोपरि सत्ता हैं। वे तो ब्रह्मा, विष्णु और महेश को भी नचाने वाले हैं - 'विधि हरि संभु नचावनि हारे'। यही नहीं, राम के तो अंशमात्र से अनेक ब्रह्मा, विष्णु और महेश उत्पन्न होते हैं - 'संभु विरंचि विष्णु भगवाना, उपजहिं जासु अंस तें नानां'। विनय पत्रिका (135, 3) के अनुसार राम ने विष्णु को विष्णुत्व, विधि को विधित्व तथा शिव को शिवत्व प्रदान किया है - 'हरिहिं हरिता, विधिहिं विधिता, सिबहिं सिबवा जे दई।'

तुलसी-काव्य से प्रस्तुत उपर्युक्त तथ्यों के मन्थन से यह तत्त्व सहज ही उभरता है कि तुलसी के राम अनादि, अनन्त, सर्वोपरि सत्ता के रूप में स्वयं ही अवतारी हैं और स्वयं ही अवतार। वे किसी अन्य सत्ता के अवतार नहीं हैं। वे सभी दिव्य शक्तियों और सम्पूर्ण विश्व के आदि स्रोत हैं। इस प्रकर तुलसी ने एकमात्र राम-ब्रह्म की प्रतिष्ठा करके प्रकारान्तर से एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठा की है। तुलसी पौराणिक

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

बहुदेववाद से बहुत दु:खी थे, जिसके कारण सारा समाज अनेक इष्टदेवों की उपासना में रत होकर अनेक मत-पन्थों में विभाजित हो गया था तथा उनमें आपस में निरन्तर झगड़े होते रहते थे। राष्ट्रीय ऊर्जा तत्कालीन राजनीतिक संकट का सामना करने के लिए समन्वित होने के स्थान पर विखण्डित हो रही थी। बहुदेवोपासना से उपस्थित इस संकट की स्थिति का चित्रण करते हुए उन्होंने लिखा :

बहु मत मुनि बहु पंथू पुराननि जहाँ-तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहि लगत राज-डगरो सो॥

(वि.प. 173, 5)

वस्तुत: यवनों के एकेश्वरवाद का सामना भारतीय एकेश्वरवाद से ही किया जा सकता था। इसलिए तुलसी ने राम-ब्रह्म के रूप में एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठा की और बहुदेववाद का विरोध किया - 'को करि कोटिक कामना, पूजै बहुदेव'।

उपर्युक्त विवेचन में आगमनात्मक तर्क-पद्धति (deductive method) के कुछ नमूने प्रस्तुत किये गये हैं। इस पद्धति में विशेष तथ्यों के विश्लेषण के माध्यम से सामान्य सिद्धान्त, निष्कर्ष या तत्त्व तक पहुँचा जाता है। यह वैज्ञानिक पद्धति है, जो स्थूल से सूक्ष्म तथा विशेष से सामान्य की ओर उन्मुख और अग्रसर होती है। तर्क की दूसरी पद्धति है निगमनात्मक पद्धति (inductive method), जिसमें तर्क की गति सामान्य सिद्धान्त से विशेष तथ्यों की ओर रहती है। यद्यपि शोध की वैज्ञानिक प्रकृति के सन्दर्भ में आगमनात्मक पद्धति ही अधिक अनुकूल एवं बोधगम्य है, तथापि कहीं-कहीं शोधक निगमनात्मक पद्धति का प्रश्रय लेकर भी अपने मन्तव्य की पुष्टि विशिष्ट तथ्यों के माध्यम से करके शोध-बोध को सम्पन्न करने का मार्ग अपनाता है।

निगमन-पद्धति में शोधक अपने अध्ययन और गहन अनुभव के आधार पर किसी अवधारणा या मन्तव्य को प्रस्तुत करता है तथा बाद में उसकी पुष्टि सम्बन्धित तथ्यों से करता है। उदाहरण के लिए तुलसी-काव्य के अध्ययन के आधार पर शोधक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि तुलसी प्राय: धर्म के साथ अधर्म, मंगल के साथ अमंगल, विद्या के साथ अविद्या, निर्गुण के साथ सगुण, तम के साथ प्रकाश, कुमति के साथ सुमति का उल्लेख करते हैं। यह उनकी चिन्तन और लेखन की शैली है। यह पद्धति द्वन्द्वात्मक है। सकारात्मक के साथ नकारात्मक तत्त्व की योजना से चिन्तन में समग्रता भी आती है और स्पष्टता भी। यह किसी चिन्तक की अद्‌भुत और विरल विशेषता है, जो उसे चिन्तक और भावक के बहुत ऊँचे स्तर पर प्रतिष्ठित करती है। उक्त निष्कर्ष की पुष्टि के लिए यहाँ तुलसी काव्य से कतिपय तथ्य प्रस्तुत है :

(1) मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवहु सो दसरथ अजिर बिहारी॥
(2) मंगल मूरति मारुत नन्दन। सकल अमंगल मूल निकन्दन॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(3) सुमति कुमति सबके उर रहहीं। नाथ पुराण निगम अस कहहीं॥
जहाँ सुमति तहं सम्पत्ति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना॥

(4) हरि सेवकहिं नहिं ब्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित व्यापहि तेहि विद्या॥

(5) यद्यपि मनुज दनुज कुल घालक। मुनिपालक खल सालक बालक॥

(6) निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

(7) जग भल भलेहि पोच कहँ पोचू।

(8) काम क्रोध मद मोह नसावन। विमल विवेक विराग बढ़ावन॥

(9) राम सों बड़ो है कौन मोसों कौन छोटो।
राम सौं खरो है कौन मोसों कौन खोटो॥

(10) अगुन सगुन दुई ब्रह्म सरूपा।

(11) हानि कुसंग सुसंगति लाहू।

(12) ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास।
निर्गुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास॥

(13) रामाकार भए सबके मन। मुक्त भए छूटे सब बन्धन॥

(14) सन्त असन्तन्हि कै अस करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी॥

(15) परबस जीव स्वबस भगवन्ता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शोध की सारी प्रक्रिया तर्क पर आश्रित है। अतः शोधक का प्रबुद्ध और सतर्क होना शोध की प्राथमिक आवश्यकता है। तर्क के माध्यम से तथ्यों को निहित वैचारिक घटकों के अनुसार वर्गीकृत किया जाता है। तर्क द्वारा ही वर्गीकृत तथ्यों को विश्लेषित-विवेचित किया जाता है। तर्क ही सामान्यीकरण के द्वारा तथ्यों में निहित तत्त्वों का अनुसन्धान करता है। यही तर्क की वैज्ञानिक पद्धति है, जिसे आगमन-पद्धति कहा जाता है। शोधक आवश्यकता के अनुसार निगमन-पद्धति अपनाने को भी पूर्णतः स्वतन्त्र है। कुल मिलाकर शोध का सारा ताना-बाना तर्क पर निर्भर है। तर्क ही सारे विवेचन को एक बौद्धिक अन्विति में गुम्फित रखता है। शोध-प्रबन्ध की वैचारिक उत्कृष्टता शोधक की तर्कशील मनीषा द्वारा ही नियन्त्रित और निर्धारित होती है। मन्दबुद्धि शोधक तो वैचारिक घटकों से सम्बन्धित तथ्यों की भी सही पहचान नहीं कर पाते। तथ्यों की वैचारिक अन्तःसंगति को पहचानना सामान्य शोधक के वश की बात नहीं है।



CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अध्याय - 12

शोध-प्रबन्ध-लेखन

शोध-प्रबन्ध में शोध-गुण के साथ प्रबन्ध-गुण का भी सन्निवेश अनिवार्य है। विश्लेषण-विवेचन स्तरीय होने से शोध-गुण का समावेश होता है और विषय-निरूपण में सही अनुपात, क्रमबद्धता और वैचारिक अन्विति का सामंजस्य बनाये रखने से प्रबन्धात्मकता का गुण विकसित होता है। दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं। शोध-गुण के उत्कर्ष से प्रबन्धात्मकता में और प्रबन्ध-गुण के उत्कर्ष से शोध-गुण में अभिवृद्धि होती है। विश्लेषण और संश्लेषण की प्रक्रिया पूरे शोध-प्रबन्ध को एक तार्किक अन्विति और अनुशासन में बाँधे रखती है।

मौटे तौर पर हम पूरे शोध-प्रबन्ध को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं - (क) पूर्व भाग (ख) मध्य भाग तथा (ग) पश्च भाग। पूर्व भाग में प्रस्तावना, विषय सूची, संकेत-सूची का समावेश रहता है। मध्य भाग शोध-प्रबन्ध का प्रमुखतम भाग है, जिसमें विषय-विवेचन से सम्बन्धित विविध अध्यायों और संश्लेषण या समाहार के रूप में 'उपसंहार' की प्रस्तुति समाहित है। पश्च या अन्तिम भाग में सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची, नामों तथा विषयों की अनुक्रमणिका, पत्राचार तथा अन्य प्रकीर्ण सामग्री को स्थान दिया जाता है। पश्च भाग को कुल मिलाकर 'परिशिष्ट' कहा जाता है, क्योंकि इसमें अन्यत्र न खपने वाली, बची-खुची सारी सूचनाएँ समाविष्ट करने की व्यवस्था रहती है।

12.1. प्रस्तावना

शोध-प्रबन्ध का पूर्व भाग प्रस्तावना से प्रारम्भ होता है। 'प्रस्तावना' में शोधक

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पाठकों और परीक्षकों को ध्यान में रखकर अपने शोध-विषय की मूल दृष्टि, विशिष्ट प्रतिपादन-पद्धति, उद्देश्य आदि पर संक्षेप में प्रकाश डालता है। वह अपने विषय के क्षेत्र और दृष्टि को स्पष्ट करता है और ऐसा करते समय अपने विवेचन की सीमाओं को भी निर्धारित करता है तथा सम्भावित उपलब्धियों की ओर भी संकेत करता है। 'प्रस्तावना' के अन्तर्गत शोधक अपने विषय के चयन के कारणों और चयन-प्रक्रिया पर भी प्रकाश डाल सकता है। वह अपने चुने हुए विषय से सम्बन्धित पूर्ववर्ती शोध कार्यों का उल्लेख करते हुए अपने शोध-कार्य की आवश्यकता और महत्ता को भी रेखांकित कर सकता है।

प्रस्तावना-भाग में शोध-प्रबन्ध के अध्यायों का संक्षिप्त एवं सारपूर्ण परिचय प्रस्तुत करके अपनी समूची योजना को सम्यक् रूप में उद्घाटित किया जाता है, जिससे पाठक और परीक्षक शोध-प्रबन्ध की गुणवत्ता के स्तर के प्रति भली प्रकार आश्वस्त हो सकें।

प्रस्तावना के अन्त में शोधक अपने शोध-निर्देशक, अन्य गुरुजनों, दिशादर्शक विद्वानों, प्रेरक परिजनों आदि के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना परम धर्म समझता है।

प्रस्तावना लिखते समय शोधक को आत्म-श्लाघा या गर्वोक्ति आदि दोषों से बचना चाहिए। अपनी दृष्टि, पद्धति, उद्देश्य आदि का उल्लेख करते समय शोधक को 'मैं मानता हूँ', 'मेरी स्थापना है' आदि कथनों के रूप में कर्तृवाच्य के प्रयोगों से बचना चाहिए। इसके स्थान पर कर्मवाच्य का आश्रय लेते हुए लिखना चाहिए कि 'प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में अनेक मौलिक स्थापनाएँ की गयी हैं।' कहीं-कहीं 'प्रस्तुत शोधक का विनम्र अभिमत है कि...' पद्धति का प्रश्रय ग्रहण करना चाहिए।

प्रस्तावना-भाग का सारपूर्ण एवं संक्षिप्त होना अपरिहार्य है। इसमें विस्तार के लिए अवकाश नहीं है। वैसे भी शोधक को अनावश्यक विस्तारों से सदैव बचना चाहिए। आवश्यक और अनावश्यक में भेद करना ही शोधक की विवेकशीलता को प्रमाणित करता है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि यों तो प्रस्तावना-भाग प्रबन्ध के पूर्व भाग का अंग है, किन्तु व्यवहार में वह शोध-प्रबन्ध सम्पन्न होने पर सबसे बाद में लिखा जाता है। उसी समय शोधक के ऊपर शोध-प्रबन्ध परीक्षार्थ प्रस्तुत करने का दबाव रहता है। ऐसी स्थिति में शोधक प्रस्तावना को एक औपचारिकता की पूर्ति के रूप में शीघ्रता से लिख देता है। इसमें प्रतिपादन की गुणवत्ता तो क्षरित होती ही है, साथ ही वर्तनी और वाक्य-रचना की भी अनेक त्रुटियाँ हो जाती हैं। यह सदैव ध्यान रखना चाहिए कि 'प्रस्तावना' और 'उपसंहार' ही शोध-प्रबन्ध के वे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश हैं, जिन्हें परीक्षक मुख्यतः अपने मूल्यांकन का आधार बनाता है।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

12.2. विषय-सूची

शोध-प्रबन्ध में प्रस्तावना के पश्चात् विषय सूची दी जाती है। वास्तव में, विषय-सूची शोध-प्रबन्ध का आधार भी है और प्रवेश-द्वार भी। जिस रूपरेखा को योजना-सूत्र के रूप में आधार बनाकर समूचा शोध-प्रबन्ध लिखा जाता है, वही रूपरेखा विषय-सूची में रूपान्तरित होकर और भी व्यवस्थित एवं संशोधित रूप में अध्यायों, खण्डों, उपखण्डों के शीर्षकों-उपशीर्षकों की पृष्ठ-संख्याओं के उल्लेख के साथ शोध-प्रबन्ध के प्रारम्भ में 'प्रस्तावना' के उपरान्त प्रस्तुत की जाती है। जिस प्रकार रूपरेखा शोधक को शोध की दिशा और दृष्टि प्रदान करती है, उसी प्रकार विषय-सूची शोध-प्रबन्ध के पाठक को प्रतिपादित शोध-विषय की आन्तरिक व्यवस्था, अन्तश्चेतना या दृष्टि से अवगत कराती है। अतः विषय-सूची में रूपरेखा में दिये गये अध्यायों तथा उन सबके खण्डों-उपखण्डों का समावेश होना चाहिए तथा सभी के सामने पृष्ठ-संख्याओं का उल्लेख अवश्य होना चाहिए। इससे पाठक को अपनी रुचि या आवश्यकता के अनुरूप अध्याय, खण्ड या उपखण्ड तक पहुँचने में सुविधा होती है। विषय-सूची की समग्रता से यह भी बोध होता है कि शोधक ने शोध-विषय का कितनी सूक्ष्मता और विस्तार से विश्लेषण-विवेचन किया है। विषय-सूची में शोध-प्रबन्ध का वृहत् कलेवर भी सूक्ष्म रूप में समाहित रहता है तथा उसकी आत्मा भी। कुछ शोधक विषय-सूची में केवल अध्यायों का ही उल्लेख करते हैं तथा खण्डों-उपखण्डों को छोड़ देते हैं। इससे शोध-प्रबन्ध के विषय-निरूपण का समग्र एवं सजीव चित्र पाठक के मनश्चक्षुओं के सामने उभरकर नहीं आता। इसी प्रकार कुछ शोधक विषय-सूची तो सर्वांगीण रूप में प्रस्तुत करते हैं, किन्तु थोड़ा-सा श्रम बचाने के लिए केवल अध्यायों के सामने ही पृष्ठ-संख्याओं का उल्लेख करते हैं, खण्डों-उपखण्डों के सामने नहीं। इससे भी पाठक को कुछ न कुछ असुविधा अवश्य होती है।

यहाँ यह अवधार्य है कि विषय-सूची तैयार करते समय शोधक को मूल शोध-प्रबन्ध के अन्दर अध्यायों, खण्डों, उपखण्डों के सूचनार्थ अपनायी गयी क्रमसंख्यांकन की पद्धति को ही अपनाना चाहिए। पद्धति की एकरूपता में ही वैज्ञानिकता निहित है। आजकल दशमलव क्रमांकन-प्रणाली ही अधिक प्रचलित है। यहाँ 'तुलसी साहित्य के सांस्कृतिक आयाम' शोध-प्रबन्ध के आठवें अध्याय के क्रमांकन को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है :

8. तुलसी-साहित्य में दर्शन
    8.1. तुलसी का युग और दार्शनिक पृष्ठभूमि
    8.2. तुलसी का दर्शनशास्त्र के प्रति दृष्टिकोण

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

8.3. तुलसी-दर्शन के सम्बन्ध में वैमत्य

8.4. तुलसी-दर्शन के विविध आयाम

8.4.1 ब्रह्म का स्वरूप

8.4.1.1. निर्गुण ब्रह्म

8.4.1.2. सगुण ब्रह्म और अवतार

8.4.2. जीवन का स्वरूप

8.4.3. जगत् का स्वरूप

8.4.4. माया का स्वरूप

8.4.5. मोक्ष का स्वरूप

8.5 तुलसी-दर्शन का सांस्कृतिक स्वरूप

12.3. संकेत -सूची

शोध-प्रबन्ध में प्रबन्धात्मकता के गुण को बनाये रखने के लिए अभिव्यक्तिगत कसाव और संक्षिप्तता की आवश्यकता होती है। कुछ रचनाकारों, ग्रन्थों आदि के नाम शोध-प्रबन्ध में बार-बार आते हैं। ऐसी स्थिति में इन नामों को बार-बार पूरा लिखने के स्थान पर इनके सक्षिप्त सांकेतिक रूपों से काम चलाया जा सकता है। इससे लेखन में कसाव और लाघव आता है। वैज्ञानिक या तकनीकी विषयों के शोध-प्रबन्धों में इस संकेत-सूची से विशेष लाभ होता है। साहित्यिक विषयों के शोध-प्रबन्धों में भी इसका उपयोग लाभप्रद होता है। यदि किसी शोध-प्रबन्ध में 'हिन्दी-साहित्य-कोश' का बार-बार अनेक अध्यायों में उपयोग किया गया है, तो बार-बार 'हिन्दी-साहित्य-कोश' लिखने के स्थान पर पादटिप्पणी में हि.सा.को. लिखना लेखन, टंकण, मुद्रण आदि सभी दृष्टियों से अधिक सुविधाजनक रहेगा। इससे श्रम के साथ स्थान की भी बचत होती है तथा पूरे प्रबन्ध में लाघव और गठन के गुण में अभिवृद्धि होती है। लेखकों और ग्रन्थों के ऐसे बार-बार प्रयुक्त होने वाले नामों की संकेत सूची, विषय-सूची के उपरान्त दी ज़ाती है। 'संकेत-सूची' के स्थान पर कुध विद्वानों ने 'संकेताक्षर सूची' अभिधान का उपयोग किया है। हमारे विचार से 'संकेत-सूची' ही अधिक उपयुक्त है, क्योंकि यह अधिक संक्षिप्त है और प्रस्तुत सन्दर्भ में बात संक्षिप्तता की ही चल रही है। यह सूची भी अकारादि वर्णानुक्रम से दी जाती है। इसका एक संक्षिप्त नमूना प्रस्तुत है :

अ.छा. - अष्टछाप

अ.सं. - अथर्व संहिता

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अभि.भा. - अभिनव भारती
अप.सा. - अपभ्रंश साहित्य
आ.रा. - आनन्द रामायण
उ.भा.सं.प. - उत्तरी भारत की सन्त परम्परा
ऐ.ब्रा. - ऐतरेय ब्राह्मण
ऋ.सं. - ऋग्वेद संहिता
कठो. - कठोपनिषद्
गी.र. - गीता रहस्य
चौ.वै.वा. - चौरासी वैष्णवन की वार्ता
त.सू.म. - तसव्वुफ और सूफ़ी मत
दा.द.वा. - दादूदयाल की वाणी
ना.प्र.प. - नागरी प्रचारिणी पत्रिका
प.च. - पउमचरिउ
बौ.गा.दो. - बौध गान और दोहा
भ.पु. - भविष्य पुराण
म.सा.अ. - मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद
रा.हि.र. - रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ
वि.ध.पु. - विष्णु धर्मोत्तर पुराण
वि.पु. - विष्णु पुराण
सं.सा.इति. - संस्कृत साहित्य का इतिहास
हि.का.धा. - हिन्दी काव्य धारा
हि.अनु. - हिन्दी अनुशीलन

नामों और ग्रन्थों के अतिरिक्त विषय-विवेचन, पाद टिप्पणियों और सामान्य भाषिक व्यवहार में बहुशः प्रयुक्त होने वाले शब्दों के स्थान पर उनके संकेत लिखने से भी समय और स्थान की बचत होती है। ऐसी संकेत सूची प्रायः सर्वस्वीकृत हो जाती है और सार्वजनिक उपयोग की वस्तु बन जाती है। यहाँ ऐसे संकेतों के कुछ उदांहरण प्रस्तुत हैं :

अ. - अध्याय
अनु. - अनुवादक
ख. - खण्ड
तु.की. - तुलना कीजिए
दे. - देखिए

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रका. - प्रकाशन
पृ. - पृष्ठ
सम्पा. - सम्पादक
सं. - संवत्
संस्क. - संस्करण

पूर्व भाग के सम्पन्न होने पर शोध-प्रबन्ध का मुख्य भाग या मध्य भाग प्रारम्भ होता है। मध्य भाग का प्रारम्भ विषय-प्रवेश या पीठिका से होता है। कुछ शोधक विषय-प्रवेश के स्थान पर 'भूमिका' का व्यवहार करते हैं, जो प्रस्तावना से भिन्न है।

12.4. विषय-प्रवेश या पीठिका

समाजशास्त्रीय या वैज्ञानिक विषयों के शोध-प्रबन्धों में प्राक्कथन या प्रस्तावना को फोरवर्ड (forward) कहा जाता है, जो विषय-प्रवेश या पीठिका या भूमिका से भिन्न है। वे विषय-प्रवेश को इन्ट्रोडक्शन (introduction) कहते हैं। समाजशास्त्रीय या वैज्ञानिक विषयों के शोधक विषय-प्रवेश को ही प्रथम अध्याय के रूप में स्थान देते हैं। प्रस्तावना (forward) और विषय-प्रवेश (introduction) में विषय-वस्तु के साथ प्रतिपादन-पद्धति का भी अन्तर है। जहाँ प्रस्तावना में शोधक पाठक के प्रति अपने विचार मुक्त एवं निजी ढंग से प्रस्तुत करता है और पाठक को अपने शोध-विषय, शोध-कार्य और योगदान से मानसिक रूप में सम्बद्ध करना चाहता है, वहाँ विषय-प्रवेश या इन्ट्रोडक्शन तो वास्तव में शोध-प्रबन्ध में किये गये विषय-प्रतिपादन का ही अभिन्न भाग है, जिसमें भावी अध्यायों के विवेचन, विश्लेषण के लिए पृष्ठभूमि तैयार की जाती है। इसमें पूर्ववर्ती शोधकों के शोध-कार्यों का संक्षिप्त परिचय और मूल्यांकन रहता है तथा अपने शोध-कार्य की प्रस्तावित योजना का विस्तृत विवेचन किया जाता है। इसमें अपने बोध-कार्य की महत्ता और सम्भावित योगदान को भी मर्यादित ढंग से रेखांकित किया जाता है।

हिन्दी के कुछ शोधकों ने भी इसी पद्धति का अनुसरण करते हुए अपने शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय का नाम 'भूमिका' रखा है। डा. माताप्रसाद गुप्त ने अपने प्रसिद्ध शोध-ग्रन्थ 'तुलसीदास' में 'प्रस्तावना' और विषय-तालिका (विषय-सूची) के उपरान्त 'भूमिका' शीर्षक अध्याय से अपना लेखन-कार्य प्रारम्भ किया है। इस 'भूमिका' नामक प्रथम अध्याय के 37 पृष्ठों में उन्होंने पूर्ववर्ती शोध-कार्यों का गम्भीर मन्थन एवं मूल्यांकन किया है; अपने शोध्य-विषय के क्षेत्र, सीमाओं और सम्भावनाओं पर प्रकाश डाला है तथा आधारभूत सामग्री का परिचय देते हुए उसके

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सतर्क एवं गहन अध्ययन की आवश्यकता पर विशेष बल दिया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शोध-प्रबन्ध का भूमिका-भाग प्रथम अध्याय के रूप में शोध-प्रबन्ध के मध्य भाग का प्रारम्भिक अंश होता है। यह इसलिए विशेष महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि इसी प्रारम्भिक अंश में समूचे शोध-भवन का शिलान्यास किया जाता है। शोधक की प्रातिभ क्षमताओं और विषय की निहित सम्भावनाओं के समुचित उदय और उत्कर्ष की सम्भावनाओं का सूत्रपात इसी प्रारम्भिक अध्याय में होता है।

जो शोधक विषय-प्रवेश या भूमिका को प्रथम अध्याय के रूप में सम्मिलित नहीं करते, वे इसके अन्दर आने वाली सामग्री को अत्यन्त संक्षेप में 'प्रस्तावना' के अन्तर्गत ही समाविष्ट कर लेते हैं और 'प्रस्तावना' को ही 'भूमिका' नाम से अभिहित करते हैं। उनके लिए प्रस्तावना और भूमिका में कोई तात्त्विक भेद नहीं रहता। अधिकतर साहित्यिक शोधों में विषय-प्रवेश या भूमिका के रूप में प्रारम्भिक अध्याय या इण्ट्रोडक्टरी चैप्टर की योजना नहीं रहती। सम्भवतः ऐसा शोध-विषयों की प्रकृति की भिन्नता के कारण है। समाजशास्त्रीय और वैज्ञानिक विषयों से सम्बन्धित शोध में पूर्ववर्ती शोध-कार्य का विधिवत् विवरण, उसमें अपनायी गयी वैज्ञानिक तकनीक आदि का विशेष महत्त्व होता है। उसकी सम्यक् जानकारी के अभाव में नया शोधक उस विषय-क्षेत्र में सहसा आगे नहीं बढ़ सकता। शोधक पूर्ववर्ती अध्ययनों के आधार पर अपनी नयी तकनीक का विकास कर सकता है। साहित्यिक शोधों में ऐसी बाहरी तकनीकी यान्त्रिकता का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। इसीलिए अधिकतर शोधक 'विषय-प्रवेश' या 'भूमिका' के रूप में स्वतन्त्र अध्याय को स्थान नहीं देते।

शोध-प्रबन्ध-लेखन की प्रक्रिया में पूर्व भाग के उपरान्त शोध-प्रबन्ध का मध्य भाग या मूल भाग प्रारम्भ होता है। यह शोध-प्रबन्ध का असली कलेवर है। अतः सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके लेखन में विशेष सावधानी, श्रम, निष्ठा और प्रातिभ क्षमता की आवश्यकता है। शोधक को ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक अध्याय अपने तथ्यात्मक और तत्त्वात्मक स्वरूप के कारण अन्य अध्यायों से अलग भी है, किन्तु शोध-प्रविधि, शोध-दृष्टि और तर्क-पद्धति की दृष्टि से वह पूर्वापर सम्बन्ध में गुम्फित सारे अध्यायों की शृंखला की अविच्छिन्न कड़ी भी है। अतः प्रत्येक अध्याय की अध्ययन-सामग्री पहले ही सुनिश्चित कर लेनी चाहिए और उसका सम्यक् विश्लेषण-विवेचन उसी अध्याय में पूरा हो जाना चाहिए। हाँ, विवेचन की क्रमबद्धता को बनाये रखने के लिए आवश्यकतानुसार प्रसंगवश कहीं-कहीं पूर्ववर्ती या परवर्ती अध्यायों का परस्पर-सन्दर्भ (cross-reference) देना उचित है। इससे विवेचन में तारतम्य बना रहता है। इससे समूचे शोध-प्रबन्ध में एकसूत्रता और अन्विति

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सुरक्षित रहती है। शोध-प्रबन्ध तथ्यों का पुलिन्दा बनकर ही न रह जाए, इसके लिए तथ्यों का गहन मन्थन और विश्लेषण नितान्त आवश्यक है। यह सूक्ष्म एवं गहन बौद्धिक मन्थन ही शोध-प्रबन्ध की गुणवत्ता के स्तर में अभीष्ट अभिवृद्धि करता है। अन्तर्विरोधों, विषयान्तरों आदि से बचने के लिए शोध-दृष्टि की एकाग्रता एवं अक्षुण्णता का निर्वाह आवश्यक है। इसमें किसी प्रकार का विचलन उचित नहीं है। पूर्वाग्रह या वैचारिक संकीर्णता से भी शोध-प्रबन्ध में विषयान्तर आते हैं और वैचारिक प्रदूषण व्याप्त होता है - अतः निजी संकीर्णताओं से शोध के शुद्ध एवं अनाविल स्वरूप को विकृत नहीं करना चाहिए। मनगढ़न्त तर्कों या तर्काभासों से मनमाने निष्कर्ष निकालने की प्रवृत्ति शोध की मूल प्रकृति के ही विरुद्ध है।

शोध-प्रबन्ध लेखन के समय शोधक को शोध्य ग्रन्थ या ग्रन्थों के तथ्यों पर ही अपना ध्यान विशेष रूप में केन्द्रित रखना चाहिए। तथ्याख्यान से प्राप्त निष्कर्ष की पुष्टि के लिए वह अन्य शोधकों और समालोचकों के ग्रन्थों के उद्धरणों से भी अपने द्वारा प्राप्त निष्कर्ष की पुष्टि कर सकता है, किन्तु तथ्याख्यान पर कम ध्यान देकर अन्य विद्वानों के मतों की भरमार से ही शोध-प्रबन्ध के कलेवर की वृद्धि करना सर्वथा अवैज्ञानिक एवं अनुपयुक्त है। शोध-दृष्टि या शोध के सैद्धान्तिक आयामों के निकष पर शोध-विषय की सामग्री की परख करनी चाहिए तथा तथ्यात्मक निष्कर्ष प्रस्तुत करने चाहिए। 'उपसंहार' में समूचे अध्ययन का सार समाहित होना चाहिए। इसका आकार समूचे शोध-प्रबन्ध के आकार के अनुपात में 20-30 पृष्ठों का अवश्य होना चाहिए। शोध-प्रबन्ध के अध्यायों, खण्डों, उपखण्डों के अंकन में एकरूपता अनिवार्य है। यह अंकन विषय-सूची के अनुरूप होना चाहिए। इसके लिए दशमलव प्रणाली का आश्रय लेना ही सर्वथा उपयुक्त है।

शोध-प्रबन्ध की भाषा स्तरीय, स्वच्छ, वस्तुनिष्ठ, अभिधात्मक, पारिभाषिक और अनलंकृत होनी चाहिए। भाषा का स्तर शोधक के प्रातिभ स्तर का सूचक होता है। शोध का मूल आधार तथ्याख्यान और तत्त्वान्वेषण है, जो सुनियोजित तथ्य-प्रस्तुति पर आश्रित है। तथ्य प्रस्तुति के लिए उद्धरण देने की विविध विधियाँ अपनायी जाती हैं।

12.5. उद्धरण : उपयोग और प्रस्तुति-पद्धति

किसी अन्य की उक्ति को उठाकर रखना उद्धरण का शाब्दिक अर्थ है। व्यावहारिक स्तर पर किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा उच्चरित या लिखित उक्ति को अपने अभिमत की पुष्टि या अन्य विचारक के मत के खण्डन के लिए मूल स्रोत से ग्रहण

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

करके व्यवहार में लाना ही उद्धरण है। इसे अंग्रेज़ी में कोटेशन (quotation) कहा जाता है। उद्धरणों का उपयोग उद्धरणों के स्रोतों और शोधक की लेखनगत आवश्यकता के स्वरूप पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए जब शोधक किसी वैचारिक घटक से सम्बद्ध तथ्य-शृंखला के तथ्याख्यान या मन्थन में प्रवृत्त होता है, तो निश्चय ही उसे शोध्य ग्रन्थ या ग्रन्थों से ग्रहण किये गये तथ्यात्मक उद्धरणों की ही आवश्यकता पड़ेगी। शोध्य और विवेच्य तथ्यों के निरूपक उद्धरण तो शोध के विषय-क्षेत्र अर्थात् शोध्य कृति या कृतियों से ही ग्रहण करने होंगे। अत: ये उद्धरण तो एक प्रकार से अपरिहार्य हैं। इनकी महत्ता सर्वोपरि है। कृतिगत उद्धरणों के विश्लेषण से ही तत्त्वानुसन्धान सम्भव है। किन्तु तथ्यों का आख्यान शोध-विषय में निर्धारित दृष्टि से ही करना होता है। 'कामायनी का सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन' विषय की स्वाभाविक अपेक्षा के अनुरूप शोधक को प्राकृतिक, मानवीय, दिव्य आदि सौन्दर्य-आयामों से सम्बद्ध तथ्यों का विश्लेषण सौन्दर्यशास्त्रीय मानदण्डों के आधार पर ही करना होगा। ऐसी स्थिति में शोध-प्रबन्ध के सैद्धान्तिक पक्ष के प्रतिपादक अध्याय के लिए अंग्रेज़ी, हिन्दी, संस्कृत आदि के सौन्दर्यशास्त्रीय ग्रन्थों से उद्धरण ग्रहण करना नितान्त आवश्यक है। स्वमतों के मण्डन तथा विरोधी मतों के खण्डन के साथ ही बीच-बीच में प्रसंगवश आने वली आनुषंगिक अवधारणाओं के स्पष्टीकरण के लिए अन्य विद्वानों के शोध-ग्रन्थों, समालोचनात्मक ग्रन्थों, शोध लेखों आदि से उद्धरण लिए जाते हैं। इनके चयन में विशेष सावधानी की आवश्यकता है। शोधात्मक और समालोचनात्मक ग्रन्थों के अतिरिक्त आवश्यकता के अनुसार कोशों, विश्वकोशों, साहित्य-कोशों, पौराणिक कथा-कोशों, शोध-पत्रिकाओं, सरकारी गज़टों, ताम्रपत्रों, शिलालेखों आदि से भी उपयोगी तथ्यों के निरूपक उद्धरण लिये जा सकते हैं। इनका उपयोग शोध की गुणवत्ता को ध्यान में रखकर ही किया जाना चाहिए, सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची के विस्तार या पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं। विवेचित तथा उद्धृत ग्रन्थों के नामों को लिखते समय उन्हें एकल कोमों (single comas) में रखना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में स्रोत और प्रयोजन की दृष्टि से उद्धरणों को तीन वर्गों में रखा जा सक्ता है -

(क) तथ्य-निरूपक उद्धरण

(ख) सिद्धान्त-निरूपक उद्धरण

(ग) आनुषंगिक उद्धरण

(क) तथ्य-निरूपक उद्धरण : वैचारिक घटकों से सम्बद्ध तथ्यों के निरूपक उद्धरण इस वर्ग में आते हैं, जो विवेच्य कृति या कृतियों से ही ग्रहण किये जाते हैं। ये तथ्य-निरूपक उद्धरण भी दो प्रकार के होते हैं - (१) तथ्य प्रस्तावक और (२)

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तथ्य-समर्थक। तथ्य-प्रस्तावक उद्धरण उल्लेखनीय तथा महत्त्वपूर्ण तथ्यों को प्रस्तुत करते हैं। ऐसे तत्त्वपूर्ण उद्धरणों को शोध-प्रबन्ध के मूल कलेवर में देना चाहिए तथा उनका तलस्पर्शी गहन विश्लेषण-विवेचन करना चाहिए। तथ्य-समर्थक उद्धरण प्रमुख तथ्यों की पुष्टि करने वाले सहयोगी, गौण उद्धरण होते हैं। कृति या कृतियों में इनकी संख्या अधिक भी हो सकती है। ऐसी स्थिति में उपयोगिता और विवेचन के अनुपात को ध्यान में रखकर उनमें से पाँच-छह को चुन लेना चाहिए तथा उनमें से कुछ को पादटिप्पणियों के रूप में उद्धृत करना चाहिए तथा शेष का केवल सन्दर्भोल्लेख करना चाहिए। अत्यधिक तथ्यों की भरमार से तथ्याख्यान की सूक्ष्मता समाप्त हो जाती है और तथ्याख्यान स्थूल सूचनात्मक स्तर पर आ जाता है। इससे पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति में वृद्धि होती है और विवेचन शिथिल, सतही और सारहीन हो जाता है। स्थूल तथ्यों की भरमार से शोध-प्रबन्ध के कलेवर में अनावश्यक वृद्धि होती है और तत्त्व-बोध को क्षति पहुँचती है।

(ख) सिद्धान्त-निरूपक उद्धरण : सिद्धान्त-निरूपक उद्धरण शोध-विषय की दृष्टि से सम्बन्धित होते हैं। ये शास्त्रीय ग्रन्थों से ग्रहण किये जाते हैं। शास्त्रीय ग्रन्थ अपने प्रतिपाद्य विषय का तात्त्विक, पारिभाषिक और सैद्धान्तिक रूप में प्रतिपादन करते हैं। सौन्दर्यशास्त्र, काव्यशास्त्र, कामशास्त्र, नाट्यशास्त्र, दर्शन आदि से सम्बन्धित अवधारणाओं की परिभाषा और स्वरूप के ज्ञान के लिए शास्त्रीय ग्रन्थों का सहारा लेना पड़ता है। शोध-दृष्टि से सम्बन्धित अवधारणा की परिभाषा प्रस्तुत करने वाले उद्धरणों को सिद्धान्त-पक्ष से सम्बन्धित अध्याय के कलेवर में ही प्रस्तुत करना चाहिए तथा विविध परिभाषाओं का विश्लेषण करते हुए किसी एक परिभाषा को स्वीकार करना चाहिए अथवा विभिन्न परिभाषाओं के विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर शोधक को अपनी ओर से कोई सर्वांगीण परिभाषा प्रस्तुत करनी चाहिए। सिद्धान्तपक्ष से सम्बन्धित विविध आयामों के स्वरूप पर प्रकाश डालने के लिए भी विभिन्न स्तरीय एवं प्रामाणिक शास्त्रीय ग्रन्थों से उद्धरण ग्रहण करने चाहिए। गौण उद्धरण पादटिप्पणी में दिये जाते हैं। कुछ गौण उद्धरणों के केवल सन्दर्भों का ही उल्लेख करना पर्याप्त होता है। संस्कृत, अंग्रेज़ी आदि से उद्धरण देते समय विशेष सावधानी की आवश्यकता है। उद्धरणों की भाषिक शुद्धता सदैव अत्यावश्यक है। उद्धरण के अनुवाद और विवेचन में भी सावधानी अपेक्षित है। उद्धरण सीधे मूल ग्रन्थों से ही ग्रहण करने चाहिए, विभिन्न शोधकों या समालोचकों के ग्रन्थों से नहीं, क्योंकि उनमें मूल पाठ सदोष हो सकता है तथा सन्दर्भोल्लेख में भी त्रुटि हो सकती है।

(ग) आनुषंगिक उद्धरण : तथ्याख्यान की प्रक्रिया से कुछ निर्णयों या

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

निष्कर्षों तक पहुँचने के क्रम में विवेच्य कृति या कृतियों से तो उद्धरण दिये ही जाते हैं, साथ ही अन्य विद्वानों के शोध-ग्रन्थों या विशिष्ट समालोचना-ग्रन्थों के मत भी देना आवश्यक प्रतीत होता है। इससे विषय-विवेचन को बल मिलता है। यह आवश्यक नहीं है कि ये मत अपने निष्कर्षों की पुष्टि के लिए ही दिये जायें। कभी-कभी प्रस्तुत तथ्याख्यान के आलोक में दूसरों के विरोधी एवं अमान्य, असंगत मतों का खण्डन भी आवश्यक होता है। सत्य-साधना का सकारात्मक पक्ष जितना मूल्यवान् है, उतना ही महत्त्वपूर्ण नकारात्मक पक्ष भी है। असत्य और अमान्य के खण्डन के बिना तो सत्य की प्रतिष्ठा सम्भव ही नहीं है। सत्य समझौतावादी नहीं है। वह सही को सही और ग़लत को ग़लत घोषित करने में आस्था रखता है। उद्धरण उन्हीं विद्वानों के ग्रन्थों से देने चाहिए, जिनका विवेच्य विषय के क्षेत्र में विशिष्ट योगदान हो।

आनुषंगिक उद्धरणों के बिना केवल विवेच्य कृति या कृतियों के उद्धरणों के सम्यक् विश्लेषण और मन्थन के आधार पर भी उत्तम शोध-प्रबन्ध लिखा जा सकता है, क्योंकि शोध-प्रबन्ध का मूल विवेच्य विषय तो विषय-क्षेत्र से सम्बद्ध कृति या कृतियाँ ही हैं, न कि अन्य विद्वानों के ग्रन्थ। किन्तु ज्ञान की गति स्व और पर, व्यष्टि और समष्टि, केंद्र और परिधि के मध्य विद्यमान रहती है। ज्ञान गत्वर है। उसकी गति परिधि से केन्द्र और केन्द्र से परिधि की ओर रहती है। शोधक के शोध-प्रबन्ध का मूल्यांकन भी विषय-क्षेत्र से सम्बद्ध विद्वानों द्वारा ही किया जाता है। अतः अपने शोध-विषय से सम्बद्ध मूल्यवान् और तत्त्वपूर्ण मतों को उद्धृत करके सहायता प्राप्त करने के साथ उन्हें उचित गौरव प्रदान करना तथा असत्प्रतिपादक मतों का खण्डन करके सत्य के मार्ग को निष्कण्टक बनाते चलना ज्ञान-साधना का सही स्वरूप है।

उद्धरणों के उपयोग का आदर्श रूप तो यही है कि वे अत्यन्त चुने हुए, सटीक, प्रासंगिक, प्रामाणिक, सारपूर्ण और संक्षिप्त हों। तत्त्वपूर्ण और प्रासंगिक होने पर ही वे विषय-विवेचन में विशेष सहायक सिद्ध हो सकते हैं। शोधक की प्रतिभा का प्रकर्ष इसी में निहित है कि वह विवेकपूर्वक चुने हुए उद्धरणों का प्रसंगानुसार सही स्थल पर उपयोग करे और उनमें निहित आशय को बौद्धिक विश्लेषण द्वारा सम्यक् रूप में उजागर कर सके।

यहाँ उद्धरणों की प्रस्तुति-पद्धति पर प्रकाश डालना भी प्रासंगिक होगा। प्रस्तुति-पद्धति से चुने हुए उद्धरणों के सही एवं सार्थक उपयोग में विशेष सहायता मिलती है। कई बार अनावश्यक विस्तार से बचने के लिए चुने हुए दीर्घाकारीय उद्धरणों को ऊपर-नीचे से तराश कर छोटा करना पड़ता है या बीच के अवांछित वाक्यों को निकालना पड़ता है। कुछ स्थितियों में चुने हुए उद्धरण में से एक ही

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

केन्द्रीय वाक्य चुनकर शेष को छोड़ दिया जाता है। उद्धरणों की सार्थक एवं सही प्रस्तुति के समय उद्धरणों का शिल्पन एक स्वाभाविक क्रिया है। प्रस्तुति-पद्धति इसी शिल्पन-व्यापार को नियोजित एवं निर्धारित करती है। शोध का शिल्प-पक्ष शोध-प्रबन्ध के प्रबन्धात्मक गठन का नियामक और नियन्त्रक है, जिसके अभाव में विवेचन की व्यवस्था भंग होती है और अनुपात बिगड़ता है। प्रस्तुति पद्धति के धातव्य बिन्दु इस प्रकार हैं :

(1) दूसरों के द्वारा कथित या लिखित होने के कारण उद्धरणों को दुहरे कोमों अर्थात् उद्धरण-चिह्नों (inverted comas) के अन्दर रखना चाहिए तथा उसके अन्त के विराम-चिह्न के ऊपर सन्दर्भ-संख्या अंकित करके नीचे पाद-टिप्पणी में वही संख्या लिखकर उसके सामने सन्दर्भोल्लेख करना चाहिए अर्थात् लेखक का नाम, पुस्तक का नाम तथा पृष्ठ संख्या, जहाँ से उद्धरण लिया गया है, का उल्लेख करना चाहिए।

(2) प्रयोग-स्थल की दृष्टि से उद्धरणों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है - (क) केद्रीय (ख) विवेच्य तथा (ग) अविवेच्य। जो उद्धरण किसी अध्याय या प्रकरण अर्थात् खण्ड या उपखण्ड की केन्द्रीय विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं, उन्हें सम्बद्ध अध्याय या प्रकरण के प्रारम्भ में दिया जा सकता है। ऐसे मुक्त रूप से दिये गये उद्धरणों पर इन्वर्टेड कोमा लगाने की आवश्यकता नहीं है। हाँ, उनके अन्तिम विराम-चिह्न के ऊपर सन्दर्भ संख्या देकर उसका सन्दर्भोल्लेख पाद-टिप्पणी में अवश्य करना चाहिए। जिन उद्धरणों का विवेचन-विश्लेषण अभीष्ट है, उन्हें मूल कलेवर में कोमों के अन्दर देना चाहिए। जो उद्धरण विवेच्य नहीं हैं, केवल पुष्टि के लिए वांछित हैं, ऐसे अविवेच्य उद्धरणों को कलवेर में न देकर पादटिप्पणी में देना चाहिए या उनका पादटिप्पणी में केवल सन्दर्भोल्लेख करना ही पर्याप्त है।

(3) कुछ स्थितियों में कलेवर में उद्धरण का केवल सार देना ही पर्याप्त होता है। ऐसी स्थिति में सार वाक्य के अन्त में सन्दर्भ-संख्या अंकित करके उस उद्धरण को अविकल रूप में पादटिप्पणी में प्रस्तुत करना चाहिए तथा उसका सन्दर्भोल्लेख करना चाहिए।

(4) यदि उद्धरण अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है, तो कलेवर में उसका आशय लिखकर पादटिप्पणी में उसका केवल सन्दर्भोल्लेख ही करना पर्याप्त होता है।

(5) उद्धरण यदि एक वाक्य या वाक्यांश तक ही सीमित हो तो शोधक को चाहिए कि वह उसे अपने वाक्य के अन्तर्गत ही उद्धरण-चिह्नों के मध्य प्रस्तुत करे तथा पादटिप्पणी में उसका सन्दर्भोल्लेख करे।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(6) जो उद्धरण शोधक के लेखन के मध्य प्रयुक्त होते हैं, वे उद्धरण चिह्नों के अन्तर्गत रखे जाते हैं, किन्तु जो शोधक के अनुच्छेद से बाहर प्रयुक्त होते हैं, उनको उद्धरण-चिह्नों के अन्तर्गत नहीं रखा जाता।

(7) पादटिप्पणियों में दिये गये उद्धरणों पर भी उद्धरण-चिह्न लगाने की आवश्यकता नहीं है।

(8) कुछ उद्धरणों के मध्य भाग के अनावश्यक अंश को निकाल कर उन्हें संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया जाता है। ऐसी स्थिति में रिक्त स्थान को दर्शाने के लिए वहाँ तीन बिन्दुओं (...) का प्रयोग करना चाहिए।

(9) संस्कृत, अंग्रेज़ी आदि अन्य भाषाओं के उद्धरणों को पादटिप्पणी में देना चाहिए तथा उनका अनुवाद मूल कलेवर में देना चाहिए। आदर्श स्थिति यही है, किन्तु कभी-कभी संस्कृत के उद्धरण को मूल कलेवर में भी दिया जा सकता है। ऐसी स्थिति में उसका अनुवाद पादटिप्पणी में देना होगा।

(10) कई बार कोई बहुत महत्त्वपूर्ण उद्धरण किसी शोध-प्रबन्ध या समालोचना-ग्रन्थ में देखने को मिलता है, किन्तु बहुत खोजने पर भी उसका मूल स्रोत-ग्रन्थ मिल नहीं पाता। ऐसी विवशता की स्थिति में उस उद्धरण का मूल सन्दर्भ देने के बाद उस ग्रन्थ का सन्दर्भ भी देना चाहिए, जिससे वह उद्धरण प्राप्त हुआ है। यथा विष्णु पुराण, 5, 1, 29 (डॉ. ज्ञानेन्द्र कृत 'कृष्ण भक्ति का विकास' पृ. 36 से उद्धृत)।

प्रस्तुति-पद्धति से सम्बन्धित उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं के साथ ही उद्धरणों के उपयोग के सम्बन्ध में अन्य व्यावहारिक सावधानियाँ भी अपेक्षित हैं। यहाँ उनमें से कुछ प्रस्तुत हैं :

(क) उद्धरण का मूल रूप अविकल और अक्षुण्ण रहना चाहिए। यदि उद्धरण में लेखन या मुद्रण के कारण वर्तनी की अशुद्धि है तो उसे शुद्ध करने में कोई दोष नहीं है, किन्तु तथ्यों या सिद्धान्त अथवा विचार से सम्बन्धित किसी त्रुटि को सुधारना ठीक नहीं है। पादटिप्पणी में ऐसी त्रुटि की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना पर्याप्त है।

(ख) उद्धरण देते समय शुद्धता का ध्यान रखना आवश्यक है। कई बार शोधक प्रमादवश वर्तनी, वाक्य-रचना, विराम-चिह्न आदि की गलतियाँ करके उद्धरण को भ्रष्ट रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह निश्चय ही चिन्त्य है।

(ग) उद्धरण यथासम्भव ग्रन्थ के एक ही संस्करण से देने चाहिए। यदि विवशतावश अन्य संस्करण का उपयोग करना पड़े तो सन्दर्भोल्लेख करते समय विभिन्न संस्करणों का उल्लेख कोष्ठक में करना आवश्यक है।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(घ) संस्कृत और अंग्रेज़ी के उद्धरणों में अशुद्धियों की भरमार देखी जाती है। अशुद्धियों से प्रबन्ध का स्तर गिरता है और शोध की शुद्धता संकट में पड़ती है।

(ङ) किसी विभागाध्यक्ष, शोध-निर्देशक, सम्भावित परीक्षक या नियुक्तियों में प्रभावी भूमिका निभाने वाले विद्वानों को प्रसन्न करने के लिए उनके ग्रन्थों से योजनाबद्ध रूप में अधिक से अधिक उद्धरण देने की प्रवृत्ति शोध-बोध के लिए घातक है।

विषय-क्षेत्र से सम्बन्धित तथ्य-निरूपक तथा शोध-दृष्टि से सम्बन्धित सिद्धान्त निरूपक उद्धरण तो शोध-बोध का मूल आधार ही हैं। इनका महत्त्व स्वीकारते हुए भी इनका संयत एवं विवेकसम्मत उपयोग ही श्रेयस्कर है। अन्य शोध-प्रबन्धों और समालोचना-ग्रन्थों से ग्राह्य उद्धरणों के चयन और संयोजन में शोधक को भारी सूझ-बूझ से काम लेना चाहिए। शोधक का लक्ष्य अपनी दृष्टि और निष्कर्षों की पुष्टि करते हुए निर्भ्रान्त ज्ञान की खोज में अग्रसर होना है। उद्धरण देने का उद्देश्य यह बिल्कुल नहीं है कि दूसरों के मतों की भीड़ में शोधक की स्वदृष्टि और स्वमत लुप्त-गुप्त हो जाए। अन्तर्दृष्टिविहीन शोधक तो प्रायः दूसरों के मन्तव्यों से अभिभूत होकर तथ्य और तर्क की दिशादर्शक पटरी से ही उतर जाते हैं और निश्चय या निर्णय से भटक कर अनेक भ्रान्तियों में अटक जाते हैं। वास्तव में निश्चित, निर्भ्रान्त प्रमाण-पुष्ट निर्णयों तक पहुँचना ही शोधक का सात्त्विक लक्ष्य होना चाहिए। आत्म-दृष्टि, आत्म-विवेक के सम्पोषण और समर्थन के लिए ही अधिकारी विद्वानों के दिग्दर्शक अभिमतों का आश्रय लिया जाता है, न कि आत्म-दृष्टि खोकर दूसरों के मन्तव्यों से विचलित होने या भटकने के लिए। दृष्टि-सम्पन्न शोधक ही दूसरों के विषयानुरूप मन्तव्यों की खोज कर सकता है और स्वमत के पोषण के लिए उनका विवेकपूर्ण उपयोग कर सकता है। तथ्यों के मन्थन से अधिगत अन्तर्दृष्टि को ही अधिकाधिक पुष्ट, प्रामाणिक और सर्वस्वीकार्य बनाने के लिए शोधक वरिष्ठ विद्वानों के अभिमतों का आश्रय लेता है। एक अन्तर्निहित ज्ञानधारा के रूप में पूरे शोध-प्रबन्ध में वही चिन्तन-दृष्टि विकासमान रहती है, जो शोधक को तथ्यान्वेषण से स्वयं अधिगत हुई है। शोध-बोध समष्टि के सहयोग से आत्म-दृष्टि के विकास की ही आलोकमयी यात्रा है।

12.6. सन्दर्भोल्लेख तथा पादटिप्पणी

शोधक के लिए केवल उद्धरण देना ही पर्याप्त नहीं है, वरन् उस उद्धरण के

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

स्रोत का परिचय देना भी आवश्यक होता है। उद्धरण ऊपर मूल कलेवर में रहता है और उसके स्रोत का परिचय पृष्ठ के निम्न भाग में दिया जाता है। अतः उद्धरण और उसके स्रोत-परिचय में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक वैज्ञानिक पद्धति अपनायी जाती है, जिसे सन्दर्भोल्लेख या सन्दर्भ-निर्देश कहते हैं। सन्दर्भोल्लेख की प्रचलित पद्धति में दो प्रक्रियाएँ निहित रहती हैं - मूल कलेवर में दिये गये उद्धरण के अन्तिम अक्षर अथवा पूर्ण विराम-चिह्न के ऊपर उद्धरण की क्रम-संख्या अंकित करना या ऊर्ध्वांक देना तथा पृष्ठ के अधोभाग में पुनः उद्धरण की (ऊर्ध्वांक के रूप में अंकित) क्रम-संख्या लिखकर उसके सामने स्रोत-ग्रन्थ से सम्बन्धित सूचनाएँ लिखना। पृष्ठ के अधोभाग में स्रोत-ग्रन्थ से सम्बन्धित सूचनाओं के उल्लेख के रूप में की गयी यह पूरक प्रक्रिया ही पादटिप्पणी कहलाती है। इससे स्पष्ट है कि सन्दर्भोल्लेख में पूर्वापर दो प्रक्रियाएँ निहित हैं - पूर्व प्रक्रिया है सन्दर्भ-संख्या-लेखन या ऊर्ध्वांक-लेखन तथा अपर प्रक्रिया है पादटिप्पणी। इस प्रकार पादटिप्पणी सन्दर्भोल्लेख की ही अपर या पश्चार्द्ध प्रक्रिया है। पादटिप्पणी में पृष्ठ के अधोभाग में एक छोटी विभाजक रेखा के नीचे के रिक्त स्थान में ऊपर मूल कलेवर में दिये गये उद्धरणों के ऊर्ध्वांक या सन्दर्भ-संख्याएँ क्रमबद्ध रूप में लिखी जाती हैं और उनके ठीक सामने सम्बन्धित स्रोत ग्रन्थों से जुड़ी सूचनाएँ दी जाती हैं। इस सूचना में तीन बातें समाहित रहती हैं - लेखक का नाम, ग्रन्थ का नाम और पृष्ठ संख्या। उद्धरण किसी पत्रिका से लिया गया है तो अंक-संख्या तथा प्रकाशन-काल का उल्लेख भी करणीय होता है। प्रकाशक, प्रकाशन-स्थान, प्रकाशन-काल, संस्करण आदि की सूचनाएँ शोध-प्रबन्ध के अन्त में 'परिशिष्ट' के अन्तर्गत 'सहायक-ग्रन्थ-सूची' में विधिवत् दी जाती हैं। अतः पादटिप्पणियों में सन्दर्भित ग्रन्थ के सम्बन्ध में सारी सूचनाएँ देने की न तो आवश्यकता है और न उसका कोई औचित्य।

शोध-प्रबन्ध के लेखन में विवेचन की प्रामाणिकता के लिए जितना उद्धरणों का महत्त्व है, उतना ही उद्धरणों की प्रामाणिकता के लिए उनके सन्दर्भोल्लेखों का महत्त्व है। सन्दर्भ के उल्लेख के बिना उद्धरण का कोई मूल्य या महत्त्व नहीं। सन्दर्भहीन उद्धरण अपनी पहचान और प्रामाणिकता खो देता है। सन्दर्भ का अर्थ सामान्यतः प्रसंग या सम्बन्ध है, किन्तु शोध के क्षेत्र में इसका अर्थ किंचित पारिभाषिक और विशिष्ट है। यहाँ सन्दर्भ का अर्थ है उद्धरण के मूल स्रोत और स्थान का सही-सही उल्लेख। कोई उद्धरण किस लेखक या कवि की किस पुस्तक के किस पृष्ठ से लिया गया है, इसकी सही जानकारी देना ही सन्दर्भोल्लेख है। अंग्रेजी में इसे 'रेफ़ेरेन्स' कहते हैं। सन्दर्भोल्लेख शोध-प्रबन्ध की प्रामाणिकता का मूलाधार है। सन्दर्भोल्लेख से शोधक अपने विषय-विवेचन को तो प्रामाणिकता प्रदान करता

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ही है, साथ ही वह दूसरे विज्ञासु पाठकों तथा शोधकों के लिए भी मूल्यवान् सामग्री के अज्ञात और अल्पज्ञात स्रोतों का द्वार मुक्त करता है।

सन्दर्भोल्लेख उद्धरण और उसके स्रोत के मध्य सम्बन्ध सेतु है। त्रुटिपूर्ण और अपूर्ण सन्दर्भोल्लेख से ज्ञान की हानि होती है। अज्ञान, अनिश्चय, भ्रम और सन्देह ज्ञान की निश्चयात्मक प्रकृति के प्रतिकूल हैं। अतः महाभारत से कोई उद्धरण देकर सन्दर्भोल्लेख के नाम पर पादटिप्पणी में केवल 'महाभारत, वन पर्व' लिखना पाठक को उद्धरण के सही स्रोत तक न पहुँचा कर समूचे 'वन पर्व' में भटकने को विवश करता है, जिससे उसके समय और शक्ति की हानि होती है। इसी प्रकार 'शृंगार तिलक' के किसी श्लोक को 'शृंगार शतक' के नाम से उद्‌धृत करना भी घोर भ्रान्तिजनक और पीड़क है। अतः उद्धरणों की शुद्धता के साथ ही सन्दर्भोल्लेख की शुद्धता और प्रामाणिकता की रक्षा करना भी शोधक का परम धर्म है।

पहले लिखा जा चुका है कि सन्दर्भोल्लेख का मुख्य उद्‌देश्य सन्दर्भित उद्धरण के स्रोत का सही बोध कराना है। इस प्रमुखतम उद्‌देश्य के अतिरिक्त सन्दर्भोल्लेख के अन्य कई उद्‌देश्य हैं। यहाँ उनका संक्षिप्त उल्लेख प्रस्तुत है :

(1) कई बार शोधक अपने विषय-विवेचन के समय किसी ऐसे अज्ञात या अल्पज्ञात व्यक्ति, स्थान, ग्रन्थ, पारिभाषिक शब्द आदि का प्रयोग करता है, जिसका पाठक को बोध कराना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में वह उस व्यक्ति, स्थान आदि पर ऊर्ध्वांक देकर नीचे पादटिप्पणी में उसकी संक्षिप्त व्याख्या कर सकता है। इससे विषय-विवेचन की बोधगम्यता में वृद्धि होती है।

(2) कुछ स्थितियों में शोधक विवेचन के अनुपात को ध्यान में रखकर विषयगत किसी अवधारणा की संक्षिप्त जानकारी देना आवश्यक समझता है। ऐसी स्थिति में वह उसके सम्बद्ध में अधिक विस्तार से जानने के इच्छुक पाठकों की सुविधा के लिए पादटिप्पणी में किसी उपयोगी ग्रन्थ का उल्लेख कर सकता है। यथा विस्तार के लिए दे. डॉ. नगेन्द्र, रस-सिद्धान्त।

(3) मतभेद या विवाद के विषय में किसी अन्य विद्वान् का वह मन्तव्य, जो कलेवर में न खपता हो, पादटिप्पणी में दिया जा सकता है।

(4) विद्वानों के अभिमतों के सूचक पत्रों, साक्षात्कारों आदि के अंश भी कलेवर या पादटिप्पणियों में प्रयुक्त किये जा सकते हैं।

स्पष्ट है कि सन्दर्भोल्लेख-पद्धति विषय-विवेचन से सम्बद्ध अनेक प्रयोजनों और उद्‌देश्यों की पूर्ति का बहुत ही उपयुक्त माध्यम है।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

12.6.1. सन्दर्भोल्लेख की पद्धतियाँ

सामान्यतः सन्दर्भोल्लेख की चार पद्धतियाँ प्रचलित हैं :

(क) **प्रतिपृष्ठ-पद्धति :** प्रतिपृष्ठ-पद्धति के अनुसार ऊर्ध्वांक-लेखन और पादटिप्पणी के रूप में सन्दर्भोल्लेख की दोनों प्रक्रियाएँ प्रतिपृष्ठ के क्रम से साथ-साथ चलती हैं। इस पद्धति के अनुसार प्रत्येक पृष्ठ में प्रयुक्त उद्धरणों पर दिये गये ऊर्ध्वांकों से सम्बद्ध पादटिप्पणियाँ उसी पृष्ठ के अधोभाग में अंकित कर दी जाती हैं तथा अगले पृष्ठ पर फिर नये सिरे से ऊर्ध्वांक दिये जाते हैं और उनकी पादटिप्पणियाँ दी जाती हैं। इस प्रकार सन्दर्भोल्लेख के मामले में प्रत्येक पृष्ठ स्वतन्त्र होता है। यदि पृष्ठ-संख्या 50 पर चार ऊर्ध्वांक हैं, तो उनके सन्दर्भोल्लेख चार पादटिप्पणियों में उसी पृष्ठ पर किये जाते हैं। पृष्ठ 51 पर दिये गये छह उद्धरणों के ऊर्ध्वांक फिर नये सिरे से संख्या 1 से 6 तक चलेंगे और उनसे सम्बद्ध 6 पादटिप्पणियाँ क्रमशः उसी पृष्ठ के अधोभाग में अंकित की जाएँगी। यह पद्धति सबसे पुरानी भी है तथा सर्वाधिक उपयोगी और वैज्ञानिक भी। पाठक को उद्धरणों के सन्दर्भोल्लेख से सम्बन्धित पादटिप्पणियाँ उसी पृष्ठ पर साथ-साथ पढ़ने को मिल जाती हैं। इसमें शोधक को भी सुविधा रही है। यदि शोधक को बीच में कोई अन्य उद्धरण जोड़ना होता है तो उसे उसी पृष्ठ के ऊर्ध्वांकों और पादटिप्पणियों में आवश्यक परिवर्तन-परिवर्द्धन करना पड़ता है, अगले पृष्ठों में नहीं। हाँ, इस पद्धति की वैज्ञानिकता का निर्वाह करने में टंकक और मुद्रक को अवश्य कठिनाई होती है। ऊर्ध्वांकों और पादटिप्पणियों में पूर्ण तालमेल बनाये रखना दुष्कर होता है। इस यान्त्रिक कठिनाई को ध्यान में रखकर ही सन्दर्भोल्लेख की अन्य पद्धतियों का विकास हुआ है।

(ख) **अध्यायान्त-पद्धति :** प्रतिपृष्ठ-पद्धति की कठिनाइयों को ध्यान में रखकर आगे चलकर अध्यायान्त-पद्धति का विकास हुआ। अब अधिकतर शोधक पूरे अध्याय में प्रयुक्त उद्धरणों के लिए आरम्भ से अन्त तक क्रमिक रूप में ऊर्ध्वांक देते चलते हैं तथा इसी प्रकार अलग शीटों पर उनसे सम्बद्ध टिप्पणियाँ क्रमबद्ध रूप में लिखते जाते हैं और उन्हें अध्याय के अन्त में लगा देते हैं। इस प्रकार मूल कलेवर में अध्याय के अन्त तक लगातार क्रम में ऊर्ध्वांक चलते रहते हैं और फिर अध्याय के अन्त से क्रमशः टिप्पणियाँ प्रारम्भ हो जाती हैं। मान लीजिए पूरे अध्याय में 251 ऊर्ध्वांक हैं तो उन्हीं के अनुसार अध्याय के अन्त में 1 से 251 तक पादटिप्पणियाँ दी जाती हैं। इस पद्धति की भी सुविधाएँ-दुविधाएँ हैं। सबसे अधिक सुविधा तो मुद्रक या टंकक को है। अब

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उसे प्रत्येक पृष्ठ पर ऊर्ध्वांक और पादटिप्पणियों में स्थानगत तालमेल नहीं बैठाना पड़ता। टंकक या मुद्रक की यह सुविधा शोधक और पाठक के लिए दुविधाएँ पैदा करती है। यदि शोधक बीच में कहीं दो-चार अन्य उद्धरण देना या एक-दो को निकालना चाहता है तो उसे पूरे अध्याय में परिवर्तन-संशोधन में भारी कष्ट उठाना पड़ेगा। पाठक के लिए इससे यह असुविधा होती है कि उसे अध्याय के अन्त में दी गयी पादटिप्पणियों को देखने के लिए बार-बार पन्ने पलटने पड़ते हैं। इससे प्रबन्ध की पठनीयता में बाधा होती है। दो अध्यायों के बीच में पादटिप्पणियाँ आ जाने से शोध-प्रबन्ध की प्रबन्धात्मकता भी खण्डित होती है। अध्यायों का अखण्ड सातत्य बाधित होता है।

(ग) **प्रबन्धान्त-पद्धति :** अध्यायान्त-पद्धति का ही और भी विकसित रूप है प्रबन्धान्त पद्धति। इसमें ऊर्ध्वांक प्रथम से अन्तिम अध्याय तक लगातार चलते हैं और शोध-प्रबन्ध के अन्त में पूरे शोध-प्रबन्ध से सम्बन्धित पादटिप्पणियाँ एक ही क्रम में आद्योपान्त प्रस्तुत की जाती हैं। इस पद्धति से टंकक और मुद्रक की सुविधा में जितनी वृद्धि होती है, शोधक और पाठक की असुविधा में उतनी ही अभिवृद्धि हो जाती है। मूल उद्धरणों से पादटिप्पणियाँ बहुत दूर जा पड़ती हैं। इस पार्थक्य से उद्धरणों की महत्ता भी घटती है और पादटिप्पणियाँ भी अपने प्रयोजन में पराजित प्रतीत होती हैं। टंकण और मुद्रण की यान्त्रिक विवशता के कारण शोध और शोध-पद्धति दोनों की ही हानि होती है।

(घ) **कोष्ठक-पद्धति :** कोष्ठक-पद्धति में न तो ऊर्ध्वांक देने की आवश्यकता है और न ही पृष्ठ के अधोभाग में पादटिप्पणी के रूप में सन्दर्भोल्लेख की। इस पद्धति में तो सन्दर्भोल्लेख उद्धरण के सन्निकट ही उपस्थित रहता है। कोष्ठक-पद्धति में उद्धरण के समाप्त होते ही कोष्ठक में सन्दर्भ के उल्लेख का प्रावधान है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित उद्धरण के सन्दर्भोल्लेख को देखा जा सकता है। समालोचना और शोध के पारस्परिक सम्बन्ध की घनिष्ठता को रेखांकित करते हुए डॉ. नगेन्द्र कहते हैं, 'उत्तम आलोचना अनिवार्यतः उत्तम अनुसन्धान भी है और उत्तम साहित्यिक अनुसन्धान अपनी चरम परिणति में आलोचना से अभिन्न हो जाता है। (शोध और सिद्धान्त, पृ. 19)। स्पष्ट है कि इस पद्धति में ऊर्ध्वांक और पादटिप्पणी के झंझट से मुक्ति मिल जाती है। पाठक को सन्दर्भ के उल्लेख के लिए ऊपर-नीचे नहीं देखना पड़ता। हाँ, यदि कई छोटे-छोटे उद्धरण एक साथ आ जायें तो कई कोष्ठकों का पास-पास एक साथ आना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में पाठक को सीधे पढ़ते चले जाने में कोष्ठकों के कारण कुछ बाधा तो अवश्य होगी ही। यहाँ

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यह भी उल्लेखनीय है कि कोष्ठक पद्धति अपनाने पर भी पादटिप्पणियों से पूर्ण मुक्ति सम्भव नहीं है। शोध-विषय से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सम्बद्ध कुछ बिन्दुओं की व्याख्या बीच-बीच में नितान्त वांछनीय होती है, जिसके लिए पादटिप्पणी के अतिरिक्त अन्य कोई वैकल्पिक व्यवस्था नहीं है। जहाँ-तहाँ समाविष्ट अत्यन्त आवश्यक पादटिप्पणियों से भी कोष्ठक-पद्धति की उपादेयता को कोई क्षति नहीं पहुँचती है। यदि सन्दर्भ-लाघव की दृष्टि से संकेत-सूची में सन्दर्भित ग्रन्थों के नामों के संकेताक्षर निश्चित कर लिए जाएँ तो कोष्ठकों का आकार पुस्तकों के सांकेतिक लघु नामों के कारण लघुतर हो जायेगा और कोष्ठक-पद्धति और भी अधिक उपयोगी हो सकेगी।

यदि उपर्युक्त चारों पद्धतियों के स्वरूप पर ध्यान से विचार किया जाये तो अध्यायान्त तथा प्रबन्धान्त पद्धतियाँ कहीं अधिक अवैज्ञानिक और अनुपयोगी हैं, क्योंकि उनमें उद्धरण और सन्दर्भोल्लेख के मध्य पार्थक्य की चौड़ी खाई विद्यमान रहती है, जो सन्दर्भोल्लेख की तात्कालिक महत्ता और उपादेयता के लिए क्षतिकारक है। आश्चर्य की बात तो यह है कि यह सब कुछ टंकण और मुद्रण की यान्त्रिक सुविधा के नाम पर हो रहा है। इसका आशय तो यह हुआ कि यान्त्रिक सुविधा शोध और शोधक से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार यान्त्रिक सुविधाओं के नाम पर हिन्दी की वैज्ञानिक वर्तनियों को भी अवैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। 'सन्मति' और 'सम्मति' दो अलग-अलग शब्द हैं, किन्तु नयी पद्धति के अनुसार दोनों को ही 'संमति' लिखा और छापा जाता है। हमारे विचार से सर्वाधिक वैज्ञानिक सन्दर्भोल्लेख-पद्धति तो प्रतिपृष्ठ-पद्धति ही है। भले ही इसमें कुछ यान्त्रिक कठिनाइयाँ हैं। इन कठिनाइयों को अधिक तूल देना युक्तिसंगत नहीं है। सुविधा के नाम पर वैज्ञानिकता की बलि देना उचित नहीं है। दूसरी ग्राह्य पद्धति कोष्ठक-पद्धति है, जिसमें सन्दर्भोल्लेख उद्धरण से ही सटा रहता है। कोष्ठकों से पठनीयता अवश्य ही कुछ सीमा तक बाधित होती है, किन्तु यह कोई दुर्लंघ्य बाधा नहीं है।

12.6.2. पादटिप्पणियाँ देने की विधि

पादटिप्पणी का अभिप्राय है शोध-प्रबन्ध के पृष्ठ के पाद-भाग या अधोभाग में दिया गया विवरण। स्पष्ट है कि 'पादटिप्पणी' शब्द का सीधा सम्बन्ध सन्दर्भोल्लेख की प्रतिपृष्ठ-पद्धति से है, जिसमें शोध-प्रबन्ध के प्रत्येक पृष्ठ पर प्रयुक्त उद्धरणों के स्रोतों का विवरण उसी पृष्ठ के अधोभाग में दिया जाता है। इस पद्धति की वैज्ञानिकता इसी तथ्य में निहित है कि प्रत्येक पृष्ठ पर प्रयुक्त उद्धरणों के स्रोतों के विवरण उसी

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पृष्ठ के नीचे के भाग में प्रस्तुत किये जाते हैं। शोधक को लिखते समय यह ध्यान रखना पड़ता है कि पृष्ठ के ऊपरी भाग में जितने उद्धरण प्रयुक्त हुए हैं, उनके सन्दर्भोल्लेखों के लिए उस पृष्ठ के अधोभाग में पर्याप्त स्थान होना चाहिए। अतः पृष्ठ के ऊर्ध्व और अधोभाग में विभाजक रेखा उक्त समस्या को ध्यान में रखकर ही खींचनी चाहिए।

पादटिप्पणियाँ देने की विधि के सम्बन्ध में प्रायः मॉडर्न लैंग्वेज एसोसिएशन ऑफ़ अमेरिका, न्यूयार्क द्वारा प्रकाशित एम.एल.ए. स्टाइल शीट का ही अनुसरण किया जाता है। किन्तु इसकी सभी बातों का अन्धानुसरण उचित नहीं है। यहाँ कुछ विशिष्ट बिन्दु विचारार्थ प्रस्तुत हैं :

(1) स्टाइल शीट के अनुसार लेखक का नाम उलटकर (अर्थात् जाति नाम, उपनाम आदि पहले और मूल नाम बाद में) देने की व्यवस्था है। वे Aldous Huxley को Huxley, Aldous लिखने के पक्ष में है। यह क्यों आवश्यक है, इसके क्या लाभ हैं? इस पर कहीं विचार नहीं किया गया है। यहाँ उल्लेख्य है कि पाश्चात्त्यों के नाम तो प्रायः निरर्थक होते हैं; उनके उलटने-पलटने से कोई अन्तर नहीं आता, किन्तु भारतीय नाम तो भारतीय संस्कृति के रंग में रँगे हुए होने के कारण उदात्त आशयों की अभिव्यक्ति करते हैं, उनके साथ छेड़छाड़ ठीक नहीं है। हमारे यहाँ विश्वनाथ प्रसाद एक सांस्कृतिक आशय का द्योतक है, इसे 'प्रसाद, विश्वनाथ' करते ही वह अर्थ विखण्डित हो जाता है। फिर कुछ नाम तो पलटने पर बड़े हास्यास्पद हो जाते हैं। सुन्दर लाल को 'लाल, सुन्दर' लिखना हास्यास्पद है। फिर डॉ. सारस्वत मोहन मनीषी को क्या (डॉ.) मनीषी सारस्वत मोहन लिखना ठीक होगा। शर्मा, वर्मा, शास्त्री, 'इन्दु' आदि जाति, उपाधि, उपनाम के सूचक शब्दों को मूल नामों से अधिक प्रमुखता देना शोध-सरीखे शुद्ध सारस्वत कार्य में क्या औचित्य रखता है, जबकि भारतीय नाम अपने सहज रूप में कितने सार्थक और मनोरम हैं।

(2) प्रकाशन का उल्लेख करते समय पहले प्रकाशन के स्थान का तथा बाद में प्रकाशन का उल्लेख करना भी किसी प्रकार युक्तिसंगत नहीं है। यह भी पूर्ववत् विपरीत है।

(3) स्टाइल-शीट के सभी सन्दर्भोल्लेखों में प्रकाशन, प्रकाशन वर्ष आदि का भी उल्लेख किया गया है। यह पद्धति केवल शोध-पत्र-लेखन के लिए उपयोगी है, जिसमें 'परिशिष्ट' का प्रावधान नहीं होता। अतः शोध-पत्र-लेखक को प्रकाशन से सम्बन्धित सारी जानकारी शोध-पत्र की पादटिप्पणियों में ही देनी

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पड़ती है। विदेशों में वैज्ञानिक विषयों में शोध-प्रबन्ध बहुत कम और शोध-पत्र कहीं अधिक लिखे जाते हैं। अतः स्टाइल-शीट में शोध-पत्रों की पादटिप्पणियों को ही विशेष ध्यान में रखा गया है। प्रस्तुत पुस्तक में भी शोधपत्रीय पद्धति का ही अनुसरण करते हुए प्रकाशन-सम्बन्धी विवरण भी दिये गये हैं, जो शोध-प्रबन्ध के लिए आवश्यक नहीं हैं। शोध-प्रबन्ध की पादटिप्पणियों को केवल लेखक का नाम, पुस्तक का नाम और पृष्ठ संख्या तक ही सीमित समझा जाए।

यहाँ स्टाइल-शीट के आधार पर पादटिप्पणियाँ देने की विधि के विविध नमूने प्रस्तुत हैं :

1. एक लेखक द्वारा लिखित ग्रन्थ से :

(डॉ.) सुरेशचन्द्र गुप्त, **शोध और समीक्षा** (रवीन्द्र प्रकाशन, आगरा, 1967), पृ. 13

2. दो लेखकों द्वारा लिखित ग्रन्थ से :

(डॉ.) महेशचन्द्र भारतीय तथा डॉ. नरेश गर्ग, **भारतीय काव्यशास्त्र** (प्रतिभा प्रकाशन, मेरठ, 1970), पृ. 76

3. तीन लेखकों द्वारा लिखित ग्रन्थ से :

Cleanth Brooks, John T. Purser and Robert Penn Warren, **An Approach to Literature**, 4th ed. (New York, Applenton, 1944) P. 106

हिन्दी में इसका रूप इस प्रकार होगा :

शिवकुमार शर्मा, केदारनाथ तथा सुरेश गुप्ता, **कृष्ण भक्ति साहित्य का गवेषणात्मक अनुशीलन** (नवोदय प्रकाशन, बुलन्दशहर, 1983) पृ. 337

4. तीन से अधिक लेखकों द्वारा लिखित ग्रन्थ से :

(डॉ.) देवेश तथा अन्य, **पाश्चात्त्य काव्यशास्त्र** (आशा प्रकाशन, ग्वालियर, 1985), पृ. 105

5. सन्दर्भ-ग्रन्थ से :

श्री राधाकृष्ण सहाय, 'छायावाद युग', प्र. सम्पा. (डॉ.) धीरेन्द्र वर्मा, **हिन्दी साहित्य कोश (भाग-1)** (ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी-1, सं. 2015) पृ. 296-298

6. सम्पादित ग्रन्थ से :

(डॉ.) विजयेन्द्र स्नातक, 'नीरजा', सम्पा. इन्द्रनाथ मदान, **महादेवी** (राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1913) पृ. 45-53

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

7. अनूदित ग्रन्थ से :

(डॉ.) सुरेन्द्र नाथ दासगुप्ता, सौन्दर्य-तत्त्व (अनु.) आनन्द प्रकाश दीक्षित (लीडर प्रेस, इलाहाबाद, सं. 2017), पृ. 57

8. शोध-पत्रिका से :

(डॉ.) हरिश्चन्द्र वर्मा, 'शोध-प्रबन्ध की रूपरेखा के निर्माण की वैज्ञानिक पद्धति' सम्भावना अंक, 5-6 (हिन्दी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, अप्रैल, 1977) पृ. 56-60.

9. समाचारपत्र से :

शम्भु चतुर्वेदी, 'गांधीवादी साहित्यकार', नव भारत टाइम्स (दिल्ली, 11 जुलाई, 1976) पृ. 5.

10. अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध से :

बैजनाथ सिंहल, मानवीय मूल्यों की दृष्टि से नयी कविता का अध्ययन, अप्र. शो. प्र. (कुरुक्षेत्र वि.वि. पुस्तकालय, 1973) पृ. 105

पादटिप्पणियों के सम्बन्ध में कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण ध्यातव्य बातें निम्नलिखित हैं :

1. यदि एक ही पृष्ठ पर एक ही क्रम में लगातार एक से अधिक बार एक ही ग्रन्थ से गृहीत उद्धरणों की पादटिप्पणियाँ देनी हों, तो बार-बार स्रोत का पूरा विवरण देने की आवश्यकता नहीं है। ऐसी स्थिति में दूसरी, तीसरी तथा उसके बाद की पादटिप्पणियाँ केवल 'वही' (अर्थात् उपर्युक्त) लिखकर दी जानी चाहिए। अंग्रेज़ी में 'वही' के स्थान पर ईबिड (Ibid) लिखा जाता है। 'वही' के सामने उद्धृत ग्रन्थ की पृष्ठ संख्या लिखी जाती है। यथा, वही, पृ. 73.
2. किसी पारिभाषिक शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ बतलाने के लिए 'शब्दकोश' को उद्धृत करने की स्थिति में शब्दकोश और उसके सम्पादक का नाम देना ही पर्याप्त है। पहले सम्पादक का नाम लिखें, फिर शब्दकोश का। पृष्ठ-संख्या लिखने की इसलिए आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अकारादि वर्णानुक्रम की निर्धारित व्यवस्था के कारण उद्धृत शब्द यथास्थान सुलभ होता है।
3. संक्षिप्तता बुद्धिमत्ता की कसौटी है और प्रविधि की प्राण-शक्ति। यदि शोध-प्रबन्ध के कलेवर में लेखक का नाम आ चुका है, तो पादटिप्पणी में ग्रन्थ का नाम और पृष्ठ-संख्या लिखना पर्याप्त है। यदि लेखक और ग्रन्थ दोनों के नामों का उल्लेख मूल कलेवर में हो चुका है, तो पादटिप्पणी में केवल पृष्ठ संख्या का उल्लेख करना ही पर्याप्त होगा।
4. एकरूपता शोध-प्रविधि की मूल जीवनी शक्ति है। शोधक ऊर्ध्वांकों और

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पादटिप्पणियों में 1, 2, 3 आदि संख्या-रूपों का भी उपयोग कर सकता है और १, २, ३ आदि का भी। आवश्यकता इस बात की है कि जो भी पद्धति अपनायी जाए, उसका आद्योपान्त निर्वाह किया जाए।

5. मूल कलेवर और पादटिप्पणियों के लिए निर्धारित स्थान के मध्य कुछ सैण्टीमीटर का निश्चित फ़ासला रखना आवश्यक है। इसी प्रकार दोनों के मध्य लगभग दो इंच लम्बी बारीक विभाजक रेखा की उपस्थिति भी अपेक्षित है। इस नितान्त स्थूल प्रावधान में भी सर्वत्र एकरूपता का निर्वाह आवश्यक है।

12.7. निष्कर्ष या उपसंहार

शोध-प्रबन्ध के मध्य या मुख्य भाग का अन्तिम आयाम है 'उपसंहार' या 'निष्कर्ष'। निष्कर्षण शब्द का अर्थ है खींच कर निकालना अर्थात् अनेक तथ्य-मालाओं में निहित सामान्य सत्य या तत्त्व को सामान्यीकरण (generalization) की प्रक्रिया द्वारा खींच कर बाहर प्रकट करना। मन्थन, चिन्तन के पश्चात् अन्तिम निर्णय या नतीजे पर पहुँचना ही निष्कर्षण है। ये निर्णय ही निष्कर्ष कहलाते हैं। शोध-प्रबन्ध के प्रत्येक अध्याय की विभिन्न वैचारिक इकाइयों के मन्थन के उपरान्त कुछ निष्कर्ष दिये जाते हैं। फिर अध्याय के अन्त में सारी वैचारिक इकाइयों के विश्लेषण की परिणति के रूप में पूरे अध्याय के निष्कर्ष दिये जाते हैं। विश्लेषण के आधार पर निष्कर्षण की यह प्रक्रिया शोध-प्रबन्ध के अन्त में प्रस्तुत 'उपसंहार' या 'निष्कर्ष' में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाती है। 'उपसंहार' में सारे अध्यायों के निष्कर्षों को संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत किया जाता है। विषय के विविध आयामों के अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों की समष्टि ही 'उपसंहार' है। शोध-प्रबन्ध के विविध अध्याय शोध-विषय के विविध पक्षों के मन्थन से प्राप्त सार प्रस्तुत करते हैं। 'उपसंहार' उन सब सारों का सार है। यह सब निष्कर्षों का समन्वित निष्कर्ष है। यह शोध-विषय के बौद्धिक मन्थन से प्राप्त नवनीत है। इसमें विषयगत आयामों से सम्बद्ध तथ्यावलियों में निहित सारी तात्त्विक सम्भावनाएँ बौद्धिक चिन्तन के संस्पर्श से विहित या उजागर हो जाती है। इस तत्त्व-बोध से शोधक को पूर्ण बौद्धिक या प्रातिभ परितृप्ति का अनुभव होता है। तथ्यों के बौद्धिक मन्थन से प्राप्त तत्त्व-बोध के माध्यम से शोधक को अपनी प्रातिभ क्षमताओं का साक्षात्कार होता है। शोध-विषय के माध्यम से अपनी प्रतिभा के प्रकर्ष के साक्षात्कार की बौद्धिक प्रक्रिया है। तथ्य अपनी स्थूल विशिष्टता त्याग कर सूक्ष्म एवं सामान्य तत्त्वों या विचारों में परिणत हो जाते हैं। शोधक की बौद्धिक चेतना विषय के कलेवर में निहित वैचारिक चेतना का

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

दर्शन करती है। संक्षेप में, उपसंहार में विषय की निहित सम्भावनाओं के साथ शोधक की निहित प्रातिभ क्षमताओं के उत्कर्ष का समन्वित स्वरूप उजागर होता है।

'उपसंहार' की प्रमुख विशेषता है संक्षिप्तता और चिन्तनगत समग्रता। विषय का कोई पक्ष 'उपसंहार' में समाविष्ट होने से छूटना नहीं चाहिए। इसका तरीका यही है कि पहले क्रमशः सभी अध्यायों का सार नये ढंग से संशिष्ट शैली में प्रस्तुत किया जाए तथा अन्त में संश्लेषण के आधार पर सब अध्यायों में निहित केंद्रीय तत्त्व प्रस्तुत किया जाये। सब आयामों के सारग्राही संश्लेषण में शोधक की तत्त्वबोधी प्रतिभा का परिचय मिलता है। इस अवसर पर शोधक की प्रतिभा पारदर्शी रूप में प्रकट होती है और बहुत्व में एकत्व के दर्शन करती है।

उपसंहार में विषय के सब आयामों के निष्कर्षों के समन्वित एवं समग्र स्वरूप के साथ ही विषय के सकारात्मक विन्दुओं के साथ नकारात्मक बिन्दुओं का भी समाहार होता है। उदाहरण के रूप में 'कामायनी का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन' विषय के निष्कर्ष देते समय कामायनी में निरूपित मानवीय, प्राकृतिक, दिव्य, कलात्मक सौन्दर्य के सम्बन्ध में सकारात्मक निष्कर्ष तो प्रस्तुत करने ही चाहिए, साथ ही इन सब आयामों से सम्बद्ध कुरूपता या विद्रूपता के सम्बन्ध में भी प्रसाद जी के मतों का सार प्रस्तुत करना सर्वथा उपयुक्त होगा। सौन्दर्य के मंगलकारी, सकारात्मक पक्ष के निरूपण में शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन, नीतिशास्त्र आदि सांस्कृतिक प्रतिमानों के परिप्रेक्ष्य में भी विचार करना अनिवार्य है, क्योंकि सभी प्रकार के शास्त्रीय अध्ययन सांस्कृतिक चेतना से अवश्य ही अनुप्राणित रहते हैं। सभी शास्त्रीय दृष्टियाँ व्यापक सांस्कृतिक चेतना से अवश्य ही सम्पृक्त रहती हैं।

'उपसंहार' का सम्बन्ध तत्त्वानुसन्धान से है, तथ्याख्यान से नहीं। तथ्याख्यान तो विविध अध्यायों का विषय है। अतः 'उपसंहार' में नये सिरे से तथ्याख्यान का खाता खोलना उचित नहीं है। ऐसा करने से 'उपसंहार' में सूक्ष्म वैचारिक सामग्री के स्थान पर स्थूलता छा जायेगी। किन्तु सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्व-बोध भी स्थूल तथ्यों से अछूता नहीं रह सकता, क्योंकि वह सूक्ष्म तत्त्व उत्पन्न ही स्थूल तथ्यों के मध्य से हुआ है। सगुण और मूर्त के बिना कोई निर्गुण और अमूर्त तत्त्व ग्राह्य नहीं है। अतः 'उपसंहार' में भी विषय के प्रमुखतम, प्रतिनिधि, विचार-प्रस्तावक पात्रों, प्रसंगों को तो लेना ही होगा। हाँ, यहाँ विचारों के पोषक तथ्यों के लिए कोई अवकाश नहीं है। इसलिए 'उपसंहार' में उद्धरण देने, सन्दर्भ-संख्या अंकित करने तथा पादटिप्पणी देने की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ती। अध्यायों में किये गये विश्लेषण-विवेचन में शोधक की वैज्ञानिक दृष्टि प्रमुख रहती है, जो वर्गीकरण और तथ्याख्यान में अधिक विश्वास रखती है, किन्तु 'उपसंहार' तक पहुँचते-पहुँचते तो शोधक वैज्ञानिक की

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मनोभूमि से ऊपर उठकर दार्शनिक तत्त्व-चिन्तक की क्रान्तदर्शी, संश्लेषक मनोदशा को अधिगत कर लेता है। इस प्रकार शोध-प्रबन्ध का 'उपसंहार' पूरे शोध-प्रबन्ध का सार भी होता है और एक चिन्तनपूर्ण प्रस्तुति के रूप में अपनी स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता भी रखता है। अनेक विश्वविद्यालयों से प्रकाशित शोध-पत्रिकाओं में स्वीकृत शोध-प्रबन्धों के उपसंहारों को स्वतन्त्र शोध-लेख के रूप में प्रकाशित किया जाता रहा है।

अब प्रश्न उठता है कि ढाई सौ-तीन सौ पृष्ठों के शोध-प्रबन्ध में 'उपसंहार' का आकार कितना होना चाहिए। हमारा विचार है कि 'उपसंहार' ही शोध की सच्ची उपलब्धि है। उपलब्धि आकार और प्रकार दोनों ही दृष्टियों से तुच्छ और नगण्य हो तो ऐसे शोध का क्या लाभ? यदि दस किलो दूध के मन्थन से पाव भर नवनीत ही निकलता, तो दूभ भी सन्दिग्ध और मन्थन भी निष्फल ही प्रतीत होता है। अतः 'उपसंहार' तत्त्वपूर्ण और उच्चस्तरीय तो हो ही, साथ ही आकार की दृष्टि से 20-30 पृष्ठों का अवश्य होना चाहिए। केवल दस-बारह पृष्ठों में सर्वसमावेशी, सारगर्भित, स्तरीय 'उपसंहार' नहीं लिखा जा सकता।

12.8. परिशिष्ट

'उपसंहार' के पश्चात् शोध-प्रबन्ध का पश्च भाग प्रारम्भ हो जाता है, जिसे 'परिशिष्ट' कहा जाता है। 'परिशिष्ट' का अर्थ है 'बचा हुआ' या छूटा हुआ। शोध-प्रबन्ध के पूर्व और मुख्य भाग में जिस सामग्री को उसके विकीर्ण स्वरूप के कारण स्थान नहीं दिया जा सकता था, उस फुटकर सामग्री को 'परिशिष्ट' में स्थान देने का प्रावधान है। शोध-प्रबन्ध की प्रबन्धात्मकता एवं समग्रता की यह नैसर्गिक माँग है कि शोध-प्रबन्ध से सक्रिय एवं सजीव सम्बन्ध रखने वाली फुटकर सामग्री को भी शोध-प्रबन्ध के पश्च भाग में निर्धारित स्थान पर समाविष्ट किया जाए। यों तो 'परिशिष्ट' में शोध-विषय से सम्बन्धित साहित्यकारों के साथ हुए पत्राचार, साक्षात्कार, अन्य सम्बद्ध दस्तावेजों, प्रमाणपत्रों आदि को भी स्थान दिया जाता है, किन्तु 'परिशिष्ट' के दो प्रमुखतम घटक हैं सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची तथा नामों और विषयों की अनुक्रमणिका।

12.8.1. सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

'परिशिष्ट' का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग है सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची। शोध-प्रबन्ध-लेखन के समय प्रयुक्त विविध प्रकार के ग्रन्थों की लेखकों के नामों के प्रथम वर्णों के आधार पर वर्णानुक्रम में व्यवस्थित सूची को सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची कहा जाता है। इस

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सूची में शोध-क्षेत्र से सम्बन्धित मूल ग्रन्थ, शोध-दृष्टि से सम्बन्धित सैद्धान्तिक ग्रन्थ तथा शोध-प्रबन्धों, समालोचना-ग्रन्थों के साथ ही शब्दकोश, पत्र-पत्रिका आदि सम्मिलित रहते हैं।

हिन्दी के वर्तमान शोध-प्रबन्धों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि शोध-प्रबन्ध का यह भाग प्राय: शोधकों की असावधानी और उपेक्षा के कारण बहुत कुछ अधूरा और अव्यवस्थित ही पाया जाता है। कुछ शोधक तो लेखकों और पुस्तकों की अव्यवस्थित नामावली देना ही पर्याप्त समझ लेते हैं। कुछ अन्य शोधक कहीं-कहीं पुस्तकों के प्रकाशनों का भी उल्लेख कर देते हैं। इस घोर अव्यवस्था और अधूरेपन का मूल कारण यह है कि शोधक सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची की आवश्यकता और महत्ता के प्रति प्रारम्भ से ही सजग और सचेष्ट नहीं रहते तथा जब सबसे बाद में उनके सामने सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची के निर्माण की समस्या उपस्थित होती है, तो वे घबराहट के साथ प्रयुक्त ग्रन्थों के अते-पते जुटाने में लगने को विवश होते हैं, किन्तु उस समय बहुत-सी पुस्तकें पुस्तकालय में भी उपलब्ध नहीं हो पातीं। ऐसी स्थिति में वे आधी-अधूरी कामचलाऊ-सी सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची जोड़कर मुक्ति का अनुभव करते हैं। यह असावधानी निश्चय ही अत्यन्त चिन्ताजनक है। सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची के शोधगत महत्त्व से अवगत न होना ही इसका मुख्य कारण है।

शोध-प्रबन्ध का स्तर बहुत बड़ी सीमा तक सन्दर्भ-ग्रन्थों के स्तर पर ही आश्रित होता है। शोध-प्रबन्ध की सारी प्रामाणिकता सन्दर्भ-ग्रन्थों पर ही निर्भर होती है। यदि शोध-प्रबन्ध के किसी परीक्षक या पाठक को शोध-प्रबन्ध के किसी अध्याय में किसी विद्वान् के अभिमत के दुरुपयोग का सन्देह होता है, तो वह तत्काल सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची देखकर उस ग्रन्थ की पूरी जानकारी प्राप्त कर सकता है और उसके आधार पर ग्रन्थ को हस्तगत करके अपने सन्देह का निवारण कर सकता है। इसी प्रकार यदि कुछ पाठकों या शोधकों को किसी शोध-प्रबन्ध में दिये गये कुछ विद्वानों के मन्तव्य बहुत ही तत्त्वपूर्ण और दिग्दर्शक प्रतीत होते हैं, तो वे भी सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची के सहारे अभीष्ट ग्रन्थों को प्राप्त करके उनसे लाभान्वित हो सकते हैं। इस प्रकार सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची ज्ञान की प्रामाणिकता का विश्वसनीय आधार भी है और ज्ञान के प्रसार का द्वार भी। सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची से ग्रन्थकारों को उचित सम्मान और गौरव प्राप्त होता है और उनके ग्रन्थ का विद्वानों में प्रचार होता है। इस प्रकार सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची से शोध-प्रबन्ध की प्रामाणिकता एवं गुणवत्ता का तो बोध होता ही है, साथ ही इससे भावी शोधकों को भी अपने उपयोग के ग्रन्थ खोजने में भारी सहायता मिलती है।

वास्तव में, सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची की निर्मिति का काम सामग्री-संकलन के कार्य के साथ ही प्रारम्भ हो जाना चाहिए। किसी ग्रन्थ से टीप ग्रहण करने से पूर्व ही

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सर्वप्रथम उसका विवरण बराबर आकार वाली चिटों (कार्डों) पर अंकित करते जाना चाहिए। विवरण में क्रमानुसार चार सूचनाएँ अंकित की जानी चाहिए - (1) लेखक का नाम (2) पुस्तक का नाम (3) प्रकाशन और प्रकाशन-स्थान (4) प्रकाशन-वर्ष। नामों को उलटने-पलटने की आवश्यकता नहीं है। जाति, गोत्र, उपाधि, उपनाम से मूल नाम ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। डॉक्टर को (डॉ.) के रूप में कोष्ठगत रखना चाहिए। इससे मूल नाम का प्रथम वर्ण ही प्रविष्टि के स्थान का निर्धारक बना रहता है। दो या तीन या अधिक लेखक होने की स्थिति में उसी पद्धति का अनुसरण किया जायेगा, जिसका उल्लेख पहले 'पादटिप्पणियाँ देने की विधि' के अन्तर्गत किया जा चुका है। अन्तर केवल इतना है कि सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची में पृष्ठ-संख्या का उल्लेख नहीं किया जाता।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची को अधिकाधिक वर्गीकृत एवं वैज्ञानिक रूप देने के लिए ग्रन्थों के विषय, स्वरूप, भाषा को ध्यान में रखकर अनेक तर्कसंगत वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। इससे पाठक को अपने उपयोग के ग्रन्थ तक पहुँचने में और भी अधिक सुविधा हो जायेगी। सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची को उपर्युक्त आधारों पर निम्नलिखित वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है :

(1) शोध-क्षेत्र से सम्बन्धित ग्रन्थ
(2) शोध-दृष्टि से सम्बन्धित शास्त्रीय ग्रन्थ
(3) शोध-ग्रन्थ और समालोचनाएँ
(4) संस्कृत-ग्रन्थ
(5) अंग्रेज़ी-ग्रन्थ
(6) शब्दकोश तथा विश्वकोश आदि
(7) पत्र-पत्रिकाएँ
(8) विविध ग्रन्थ।

ग्रन्थ-सूची में ग्रन्थ के नाम को रेखांकित करना चाहिए। लेखकों के मूल नामों के प्रथम वर्ण को आधार मानकर अकारादि क्रम से ग्रन्थ-सूची को वैज्ञानिक रूप में व्यवस्थित करना आवश्यक है। यहाँ 'तुलसी-साहित्य के सांस्कृतिक आयाम' शोध-प्रबन्ध की सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची का वर्गीकृत संक्षिप्त रूप प्रस्तुत है :

(क) शोध-क्षेत्र से सम्बन्धित ग्रन्थ

कवितावली, गीता प्रेस गोरखपुर सं. 2031
गीतावली, वही सं. 2028
रामचरित मानस, वही सं. 2028

(ख) शोध-दृष्टि से सम्बन्धित ग्रन्थ

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(डॉ.) गुलाबराय, **भारतीय संस्कृति**, रवीन्द्र प्रकाशन, आगरा, 1969

(डॉ.) देवराज, **भारतीय संस्कृति**, सूचना विभाग, उ.प्र., लखनऊ, 1966

(डॉ.) राजबाली पाण्डेय, **हिन्दू संस्कार**, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1966

(ग) शोध-ग्रन्थ और समालोचनाएँ

(डॉ.) उदयभानु सिंह, **तुलसी-दर्शन-मीमांसा**, लखनऊ विश्वविद्यालय, सं. 2018

(डॉ.) कामिल बुल्के, **रामकथा**, हिन्दी परिषद् प्रकाशन, प्रयाग विश्वविद्यालय, 1970

(आ.) चन्द्रबली पाण्डेय, **तुलसीदास**, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं. 2014

(डॉ.) बलदेव प्रसाद मिश्र, **तुलसी-दर्शन**, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1967

(डॉ.) मुंशीराम शर्मा, **तुलसी का मानस**, ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर-12, 1972

(घ) संस्कृत-ग्रन्थ

अध्यात्म रामायण, गीता प्रेस, गोरखपुर सं. 2020

रघुवंशम्, पण्डित पुस्तकालय, काशी 1961

(ङ) अंग्रेजी ग्रन्थ

(Ed.) Dagobert D. Runes, **Dectionary of Philosophy**, Jaico Publishing House, Bombay-1, 1957

(Ed.) M. Rosenthal and P. Udin, **A Dictionary of Philosophy**, progressive publishers, Moscow, 1967

(च) शब्दकोश तथा विश्वकोश आदि

(सम्पा.) भोलानाथ तिवारी, **तुलसी-शब्द-सागर**, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उ.प्र., इलाहाबाद, 1954

(डॉ.) वागीशदत्त पाण्डेय, **मानस-सन्दर्भ-कोश**, ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर, सं. 1973

(छ) शोध-पत्रिकाएँ

(प्र. सम्पा.) रामेश्वर लाल खण्डेलवाल, **सम्भावना** (तुलसी-विशेषांक), हिन्दी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, 1975

(सम्पा.) पुष्पपाल सिंह, **तुलसी-स्मारिका**, एम.एम. कॉलिज, पटियाला,

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

1974

(ज) विविध ग्रन्थ

(डॉ.) गणपतिचन्द्र गुप्त, हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, भारतेन्दु भवन, चण्डीगढ़, 1965

(डॉ.) विनयमोहन शर्मा, साहित्यान्वेषण, साहित्य सदन, देहरादून, 1969

12.8.2. नामों और विषयों की अनुक्रमणिका

हिन्दी के कुछ ही शोधक और पाठक नामों और विषयों की अनुक्रमणिका से परिचित होंगे। विज्ञान और सामाजिक विज्ञानों के शोधक और पाठक अनुक्रमणिका के स्वरूप और उपयोग से भली प्रकार अवगत हैं। वस्तुतः नामों और विषयों की अनुक्रमणिका भी विषय-सूची, सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची की भाँति ही शोध-प्रबन्ध का महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी अंग है, जिसका हिन्दी-शोध के क्षेत्र में प्रचलन विरल रूप में ही देखने में आया है।

यों तो शोध-प्रबन्ध में विवेचित विषय-वस्तु का सम्यक् बोध प्रारम्भ में दी गयी विषय-सूची से हो जाता है, किन्तु उससे पूरे शोध-प्रबन्ध के समग्र ताने-बाने में प्रतिपृष्ठ पर विकीर्ण बहुत-सी प्रासंगिक एवं बुहमुखी ज्ञान-राशि का सूक्ष्म एवं समग्र ज्ञान नहीं हो पाता। नामों और विषयों की अनुक्रमणिका शोध-प्रबन्ध के पृष्ठ-पृष्ठ में नगीने की भाँति जड़ी हुई सूक्ष्म ज्ञान-राशि की वर्णानुक्रम से संयोजित विवरणिका है, जिसमें अभीष्ट नामों और विषयों तक पहुँचने के लिए शोध-प्रबन्ध की वे सारी पृष्ठ संख्याएँ अंकित रहती हैं, जिन-जिन पर वे नाम और विषय उल्लिखित और विवेचित हुए हैं।

ज्ञान अपने स्वरूप में गुम्फित और संश्लिष्ट है। सारा वैश्विक बोध ज्ञान में समाहित रहता है। अब कोई शोधक अवतारवाद पर शोध करता है, तो उसके अवतार-विषयक विवेचन में धर्म, दर्शन, नीति-शास्त्र, मनोविज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र, मानव-मूल्य, पौराणिकता, इतिहास, समाजशास्त्र, भक्ति, सगुणोपासना, निर्गुणोपासना, मानव-मंगल आदि विविध ज्ञान-क्षेत्रों की सामग्री नैसर्गिक रूप में समाहित होती चलती है। एक उत्तम शोध-प्रबन्ध अपने मूल विषय पर केन्द्रित होते हुए भी अन्य सब आनुषंगिक अवधारणाओं को अपने अंक में समेटते चलने के कारण एक आकर-ग्रन्थ या विश्वकोश का रूप ले लेता है। डॉ. कपिलदेव पाण्डेय का 'मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद' शीर्षक शोध-प्रबन्ध अवतारवाद के माध्यम से धर्म, दर्शन, मनोविज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र, समाजशास्त्र आदि का संश्लिष्ट स्वरूप प्रस्तुत करने के कारण विविध विषयों के शोधकों के लिए मूल्यवान् सामग्री समेटे हुए है। यही बात

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

डॉ. कामिल बुल्के के 'रामकथा' शीर्षक शोध-प्रबन्ध पर भी लागू होती है। अन्य अनेक श्रेष्ठ शोध-प्रबन्ध भी इसी श्रेणी में आते हैं तथा शोधकों के लिए बहुमुखी मूल्यवान् सामग्री संजोये हुए हैं। इनके भीतर निहित विविधविषयक, मूल्यवान् सामग्री का वास्तविक प्रतिबिम्ब है इन ग्रन्थों के अन्त में दी गयी नामों और विषयों की अनुक्रमणिका।

नामों और विषयों की अनुक्रमणिका शोध-प्रबन्ध में समाहित बहुविध ज्ञानकोश का प्रतिबिम्ब होने के कारण शोध-प्रबन्ध की गरिमा और गुणवत्ता की विज्ञापक तो है ही, साथ ही भावी शोधकों के लिए ग्राह्य सामग्री तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त करने के कारण विशेष उपयोगी भी है। इससे शोधकों को प्रेरणा के साथ नयी जानकारी भी मिलती है तथा चिन्तन की दिशा और दृष्टि भी। अनक्रमणिका के कारण शोधकों या पाठकों को पूरे शोध-प्रबन्ध को नहीं पढ़ना पड़ता। वेदान्त दर्शन को जानने के लिए उसे शोध-प्रबन्ध के केवल उन्हीं पृष्ठों को पढ़ना पड़ता है, जो अनुक्रमणिका में 'वेदान्त दर्शन' के सामने अंकित हैं। इसी प्रकार वह अन्य विषयों की जानकारी सीमित अध्ययन से सीमित समय में प्राप्त कर लेता है। अकेले शोधप्रबन्धकार द्वारा अनुक्रमणिका तैयार करने पर लगाया गया सीमित समय सैकड़ों पाठकों और शोधकों को अपना समय और श्रम बचाने में सहायक सिद्ध होता है।

अब प्रश्न उठता है अनुक्रमणिका के निर्माण का। यह निश्चय ही एक श्रमसाध्य क्रिया है। शोध-प्रबन्ध के हस्तलिखित रूप की अनुक्रमणिका बनाने में कोई लाभ नहीं है, क्योंकि टंकण या मुद्रण के समय नामों और विषयों की वे सारी पृष्ठ-संख्याएँ परिवर्तित हो जायेंगी, जो मूल पाण्डुलिपि के आधार पर अनुक्रमणिका में अंकित की गयी थीं। अतः शोध-प्रबन्ध को टंकित रूप में परीक्षार्थ प्रस्तुत करने की स्थिति में अनुक्रमणिका तब बनानी प्रारम्भ करनी चाहिए जब टंकण का कार्य 'उपसंहार' तक पूरा हो चुका हो और 'परिशिष्ट' भाग ही टंकित होने को शेष रह गया हो।

अनुक्रमणिका बनाने की प्रक्रिया प्रारम्भ करते हुए शोधक को सर्वप्रथम अपने शोध-प्रबन्ध की टंकित प्रति को प्रारम्भ से उपसंहार तक ध्यानपूर्वक पढ़ते हुए कलेवर में यत्र-तत्र समाहित नामों और विषयों के बोधक शब्दों को पैन से रेखांकित करना चाहिए। नामों और विषयों के सूचक ऐसे शब्दों को रेखांकित नहीं करना चाहिए, जिनके बारे में कोई पठनीय सामग्री नहीं दी गयी है; केवल चलताऊ रूप में शब्द का ही प्रयोग हुआ है। यदि ऐसे सामग्री-शून्य शब्दों की पृष्ठ संख्याएँ भी अनुक्रमणिका में सम्मिलित करेंगे, तो पाठक को व्यर्थ ही वे पृष्ठ देखने पड़ेंगे और जानकारी के नाम पर निराशा ही हाथ लगेगी। अतः नामों और विषयों के चयन और रेखांकन में विशेष सूझ-बूझ और विवेक से काम लेना चाहिए।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भिन्न-भिन्न वर्णों से प्रारम्भ होने वाले नामों और विषयों के सूचक शब्दों को पृथक्-पृथक् क्रमिक रूप में अंकित करने के लिए कागज़ की साढ़े तीन दर्जन शीटों की आवश्यकता है। अः, ङ, ञ, ण आदि कुछ वर्ण ऐसे भी हैं, जिनसे कोई शब्द प्रारम्भ नहीं होता। ट, ठ, ड, ढ, ऋ, त्र, ज्ञ आदि कुछ वर्ण ऐसे हैं, जिनसे बहु ही कम शब्द प्रारम्भ होते हैं। ऐसी विषम स्थिति में भी बराबर आकार वाली चालीस शीटें पर्याप्त होंगी। अः, ङ, ञ, ण को छोड़कर शेष वर्णों को शीर्षक के रूप में पृथक्-पृथक् शीट पर लिख लेना चाहिए। तदुपरान्त शोध-प्रबन्ध के पन्नों को प्रारम्भ से पलटते हुए रेखांकित शब्दों को उनके प्रारम्भिक वर्ण वाली शीटों पर उनकी पृष्ठ-संख्या सहित लिखते जाना चाहिए। जिन शब्दों का अनेक पन्नों पर बार-बार उल्लेख हुआ है और हर बार कुछ नयी जानकारी भी उनके साथ जुड़ी है, उनकी पृष्ठ-संख्याओं को भी प्रथम प्रविष्टि के सामने क्रमानुसार लिखते चलना चाहिए। इस प्रकार पूरी रेखांकित शब्दावली पृष्ठसंख्याओं के साथ शीटों पर उतर आयेगी। अब प्रत्येक शीट को अकारादि क्रम से लेते जाइये और उस पर अंकित शब्दों को शब्द-कोशीय क्रम के अनुसार व्यवस्थित करते चलिए। जिन वर्गों के अन्तर्गत शब्दों की संख्या सीमित है, उन वर्णों से प्रारम्भ होने वाले शब्दों को शब्दकोशीय क्रम में सुविधापूर्वक व्यवस्थित किया जा सकता है। किन्तु कुछ वर्ण ऐसे हैं, जिनसे प्रारम्भ होने वाली शब्दावली की संख्या कई दर्जन तक पहुँच जाती है। उन शब्दों को क्रमबद्ध करने के लिए अतिरिक्त श्रम करना पड़ता है। पहले शब्दों के ऊपर पेन्सिल से क्रमलक्षक संख्याएँ लगायी जाती हैं, फिर उनकी जाँच करके संशोधन द्वारा अन्तिम रूप दिया जाता है। अन्त में सारी शब्दावली को नयी शीटों पर लगातार क्रमबद्ध रूप में उतार कर टंकण के लिए तैयार किया जाता है। शोध-प्रबन्ध के अन्त में 'परिशिष्ट' में यह अनुक्रमणिका सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची के बाद रखी जायेगी।

12.9. संशोधन : दोष-निवारण तथा परिष्कार

'शोध' में खोज का भाव तो है ही, साथ ही शुद्धता का भाव भी निहित है। इसमें अनुसन्धान पर आधारित ज्ञान की नवीनता और मौलिकता के साथ ही भाषिक प्रस्तुति की शुद्धता का लक्ष्य भी सन्निहित है।

मौलिक रूप से तो शोधन और संशोधन का पूरा दायित्व शोधक पर ही है। शोध-प्रबन्ध के उत्कृष्ट-निकृष्ट होने का सारा उत्तरदायित्व शोधक का ही है। यदि शोधक पूरी दायित्व-भावना से शोध-कार्य में प्रवृत्त होगा तो त्रुटियाँ होने की आशंकाएँ कम ही रहती हैं तथा स्वस्थ एवं स्थिर मनोदशा से युक्तिसंगत, प्रामाणिक

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तत्त्व-चिन्तन शुद्ध, प्रांजल और परिष्कृत भाषा में व्यक्त होता चलता है और उच्चस्तरीय निष्कर्षों तक पहुँचा देता है। सौभाग्यवश प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में शोध-निर्देशक के रूप में दिशादर्शक और संशोधक की भूमिका निभाने का दायित्व विषय के अधिकारी विद्वान् को सौंपा जाता है। अतः शोधक को स्वभावतः स्वावलम्बन और दायित्व-बोध के मार्ग का अनुसरण करते हुए भी अपने शोध-निर्देशक के गहन ज्ञान से अवश्य ही लाभान्वित होना चाहिए। यदि शोधक नियमित रूप से प्रयासरत रहकर अपने प्रत्येक अध्याय को शोध-निर्देशक से साथ-साथ संशोधित कराता चले तो उसे दोहरा लाभ होता है। उसे पहला लाभ तो यह होता है कि पूर्व-लिखित अध्यायों की अशुद्धियों का निवारण या निराकरण होता चलता है तथा दूसरा लाभ यह होता है कि उसे आगामी अध्यायों के शुद्ध लेखन की दिशा और दृष्टि मिलती चलती है। इसी का परिणाम यह होता है कि बाद के दो-तीन अध्यायों में तो निर्देशक का कार्य बहुत सरल हो जाता है। उसे खोजने पर भी कठिनाई से ही दो-चार त्रुटियाँ दिखलायी पड़ती हैं। निर्देशक के सुयोग्य मार्ग-दर्शन में शोधरत शोधक अपने स्तर में उत्तरोत्तर उन्नति करता हुआ शोधक से स्वयं ही संशोधक बन जाता है और शोध-निर्देशक के लिए कुछ करने को शेष बचता ही नहीं। आत्मोत्थान की ओर सतत अग्रसर होते चलने की यह प्रक्रिया ही शोध का चरम और परम लक्ष्य है। निर्देशक भाषागत अशुद्धियों का निराकरण तो करता ही है, साथ ही विषय-प्रतिपादन से सम्बन्धित भ्रान्तियों का भी निवारण करता है। विकारों का यह परिहार ही शोध-प्रबन्ध के पूर्ण परिष्कार का द्वार है। विकृति पर विजय से ही परिष्कृति का पथ प्रशस्त होता है। दोष-निवारण की पगडण्डी पर ही गुणों का संचरण सम्भव होता है।

(क) दोष-निवारण : शोध-प्रबन्ध में मुख्यतः तीन प्रकार के दोष सम्भव हैं :

(1) भाषागत-दोष

(2) विषय-प्रतिपादन से सम्बन्धित दोष

(3) शोध-प्रविधि से सम्बन्धित दोष।

यहाँ संक्षेप में इन दोषों पर विचार करना प्रासंगिक होगा।

(1) भाषागत दोष

दोषों का सर्वाधिक पीड़क और अनायास दिखलायी पड़ने वाला रूप है वर्तनियों की अशुद्धियाँ। ये वर्तनी-सम्बन्धी अशुद्धियाँ सबसे पहले दिखलायी पड़ती हैं और परीक्षक को सर्वाधिक क्षुब्ध करती हैं। 'प्रस्तावना' से ही वर्तनीगत अशुद्धियों

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

का क्रम प्रारम्भ हो जाता है और अनुगृहीत के स्थान पर अनुग्रहीत, लब्ध-प्रतिष्ठ के स्थान पर लब्धप्रतिष्ठित, आशीर्वाद के स्थान पर आर्शीवाद, शुभाशिष् के स्थान पर शुभाशीष लिखा दिखलायी पड़ने लगता है। विषय-सूची में पंचम, सप्तम, अष्टम, नवम में म को हलन्त रूप (म्) में प्रयुक्त किया जाता है तथा षष्ठ अध्याय को भी 'षष्टठम् अध्याय' लिखा जाता है। पादटिप्पणियों में द्रष्टव्य के स्थान पर बहुधा 'दृष्टव्य' ही लिख दिया जाता है। इसी प्रकार 'दृष्टान्त' के स्थान पर द्रष्टान्त लिखना अशुद्ध है। कुछ नामों की वर्तनियाँ प्रायः अशुद्ध पायी जाती हैं। पतंजलि, पाणिनि, वाल्मीकि, कालिदास, भारवि, द्रौपदी, अनसूया, कैकेयी, अहल्या आदि नाम प्रायः अशुद्ध ही लिखे पाये जाते हैं। पश्चात्+त्यक् से निर्मित 'पाश्चात्त्य' शब्द प्रायः सर्वत्र 'पाश्चात्य' ही लिखा जाता है, जो निश्चय ही अशुद्ध है। इसी प्रकार तत्त्व, महत्त्व आदि शब्द भी अशुद्ध ही लिख दिये जाते हैं। शोध के स्तर पर इस प्रकार की वर्तनीगत अशुद्धियाँ निश्चय ही बड़ी खेदजनक हैं। अशुद्धियों के इस प्रवाह में लापरवाह टंकक भी अपना योग देने में नहीं चूकता। किसी भी प्रकार की अशुद्धियों को टंकक की अशुद्धियाँ कहकर टाला नहीं जा सकता। वास्तवकिता तो यह है कि इन सारी अशुद्धियों के लिए शोधक ही उत्तरदायी है। अतः शोध-प्रबन्ध परीक्षार्थ प्रस्तुत करने से पूर्व इन सारी वर्तनीय अशुद्धियों का निराकरण नितान्त आवश्यक है।

यों तो हिन्दी के उद्धरणों में भी अशुद्धियाँ मिल जाती हैं, किन्तु संस्कृत और अंग्रेजी के उद्धरणों में तो अशुद्धियों की भरमार रहती है। अशुद्धियों की इस भरमार के लिए शोधकों का अज्ञान तो उत्तरदायी है ही, किन्तु इससे भी अधिक उत्तरदायी है प्रमाद।

उलझे हुए वाक्य शोधक की मानसिक उलझन के प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब होते हैं। शुद्ध, सार्थक, सुगठित वाक्य-रचना शोधक के प्रौढ़ चिन्तन की परिचायक होती है। विराम-चिह्नों के प्रयोग में प्रमाद से भी लेखन की शुद्धता और प्रामाणिकता को भारी क्षति होती है। शोधक को प्रस्तुति से पूर्व इन सब भाषिक दोषों को दूर करके अपने शोध-प्रबन्ध को निर्दोष और परिष्कृत रूप प्रदान करना चाहिए।

(2) विषय-प्रतिपादन से सम्बन्धित दोष

यदि शोधक अपने मूल विषय पर स्थिरचित्त से ध्यानावस्थित न रहे और विवेचन में सतर्कतापूर्वक तथ्यात्मकता और प्रामाणिकता का प्रश्रय न ले, तो विषय प्रतिपादन से सम्बन्धित अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इन दोषों में प्रमुख हैं अव्याप्ति दोष, अतिव्याप्ति दोष, असंयत और अतिरंजित कथन, व्यक्तिगत दुराग्रह,

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पुनरावृत्ति, अन्तर्विरोध, अस्पष्टता, अप्रामाणिकता आदि।

किसी विचार-बिन्दु या विषय के किसी पक्ष का विवेचन करते समय उसके सभी आयामों पर प्रकाश न डालकर केवल एक-दो आयामों की ही संक्षिप्त-सी विवेचना करके आगे बढ़ जाना अव्याप्ति या अल्पव्याप्ति दोष है। ऐसे चलताऊ और आधे-अधूरे विवेचन पाठक के लिए पूर्ण तृप्तिदायक नहीं होते। अव्याप्ति दोष से विवेचन एकाङ्गी, अपूर्ण रहने के साथ ही सतही, दुर्बल और प्रभावहीन प्रतीत होता है। विवेचन को सर्वांगीण, गहन और तृप्तिपरक स्वरूप प्रदान करना शोधक का कर्त्तव्य है। अतः शोध-प्रबन्ध को बार-बार पढ़कर ऐसे अव्याप्ति-दोषों को दूर कर लेना चाहिए। ध्यान से पढ़ने पर ऐसे दोष स्वयं दिखलायी पड़ने लगते हैं। आवश्यकता सच्ची लगन और निष्ठा की है।

अव्याप्ति के सर्वथा विपरीत अतिव्याप्ति दोष है। कई शोधक मूल विषय पर केन्द्रित न रहकर इधर-उधर के अनावश्यक प्रसंगों को बीच में घसीट लाते हैं और मूल विषय को अवांछित विस्तारों में उलझा देते हैं। यह विषय से भटकाव ही विषयान्तर दोष है, जो अतिव्याप्ति दोष से ही सम्बद्ध है। शोधक को विवेक एवं सजगता के साथ मूल विषय पर ही केन्द्रित रहना चाहिए और अनपेक्षित विस्तारों से बचना चाहिए। ऐसे अनावश्यक विस्तारों से शोध-प्रबन्ध का कलेवर तो अवश्य बढ़ जाता है, किन्तु उसकी आन्तरिक गुणवत्ता को भारी क्षति पहुँचती है। यदि शोधक पूरी ईमानदारी से प्रयत्न करे तो अतिव्याप्ति और विषयान्तर जैसे दोषों को दूर करके अपने प्रबन्ध को पहले से कहीं अधिक सारवान् और तत्त्वपूर्ण बना सकता है।

असंयम और अतिरंजना से भी विवेचन सन्तुलित, सारपूर्ण तथा विश्वसनीय नहीं रहता। अपने प्रिय कवि की प्रशंसा में 'सर्वोत्कृष्ट', 'सर्वश्रेष्ठ', 'सर्वातिशायी' आदि विशेषणों की झड़ी लगा देने से विवेचन तथ्यात्मक और तर्कसंगत नहीं रहता, वरन् असंयत और अमर्यादित होकर अपनी प्रामाणिकता और विश्वसनीयता खो देता है। कोई कवि अपनी विशेषताओं से महान् होता है, दूसरों के विशेषणों से नहीं। शोधक यदि चाहे तो अपने मिथ्या मोह पर नियन्त्रण करके अपने विवेचन में आयी हुई ऐसी असंयत और अतिरंजित उक्तियों को निकाल सकता है और अपने विवेचन को तथ्याश्रित और तर्कसम्मत रूप दे सकता है।

व्यक्तिगत दृष्टि-दोष से उत्पन्न दुराग्रह तथ्यों और तर्कों को किनारे छोड़कर पक्षपातपूर्ण निर्णयों की विवेकशून्य दिशा में उन्मुख करता है। शोध में किसी भी प्रकार की वैचारकि संकीर्णता, साम्प्रदायिकता, पक्षपात आदि के लिए कोई अवकाश नहीं है। शोधक को यथासम्भव व्यक्तिगत दुराग्रहों से मुक्त रहना चाहिए। यदि भूल से कहीं व्यक्तिगत दुराग्रहों के कारण पक्षपातपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किये गये हैं, तो

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उनको तत्काल सही एवं संशोधित रूप में प्रस्तुत करना चाहिए। मुक्त, निस्संग और निर्लिप्त दृष्टि में ही शोधक की सच्ची मुक्ति निहित है।

पुनरावृत्ति दोष से विवेचन आगे नहीं बढ़ता, वरन् एक ही सीमित घेरे में घूमता हुआ प्रतीत होता है। व्यवस्थित और सुचिन्तित योजना-सूत्र या रूपरेखा के अभाव में पुनरावृत्ति दोष का प्रभावी होना स्वाभाविक है। कथा-साहित्य से सम्बद्ध शोध-प्रबन्धों में शोधक कथानक के विवेचन में तो विस्तार से कथागत विशेषताओं का विवेचन करते ही हैं, चरित्र-चित्रण और उद्देश्य के विवेचन में भी कथानक ही उनका संरक्षक बनकर उपस्थित होता है। वे सभी तत्त्वों के विवेचन में कथानक की शरण लेने में ही स्वयं को सुरक्षित समझते हैं। तत्त्वों के अनुसार तथ्यों के सही वर्गीकरण के अभाव में ही बुद्धि कुण्ठित होकर बार-बार कथानक का सहारा लेने को विवश होती है। तथ्यों और तर्कों को आधार बनाकर अग्रसर होने वाली अन्तर्दृष्टि की कमी के कारण ही शोधक अपने चिन्तन को निश्चित दिशा में आगे नहीं बढ़ा पाता। यदि पुनरावृत्ति के दोष से मुक्ति के लिए कुछ अध्यायों के कुछ अंशों को दोबारा भी लिखना पड़े तो शोधक को ऐसा करने के लिए सहर्ष तैयार रहना चाहिए।

अन्तर्विरोध भी निर्भ्रान्त ज्ञान के मार्ग का दोष है। वस्तुतः शोध में तथ्य, तर्क, निष्कर्ष आदि किसी भी स्तर पर अन्तर्विरोध के लिए कोई अवकाश नहीं है। शोध में शोधक की दिशा और दृष्टि एक ही होनी चाहिए। विरोधी कथनों से भ्रान्ति फैलती है और निश्चित निर्णयों तक पहुँचने में बाधा उपस्थित होती है। कहीं तुलसीदास को ब्राह्मणवादी और शूद्रविरोधी कहना तथा अन्यत्र उन्हें अछूतोद्धारक और समन्वयवादी घोषित करना न्यायसंगत नहीं है। इससे ज्ञान की हानि होती है। तथ्यों के आधार पर तुलसी न ब्राह्मणवादी हैं, न शूद्रविरोधी, वरन् वे अछूतोद्धारक, समतावादी और समन्वयवादी हैं। जहाँ इस स्थापना का विरोध भासित होता है, वह वास्तविक नहीं है, पात्र और प्रसंग के कारण है। अतः अन्तर्विरोधी तथा विरोधाभासी कथनों से सतर्कतापूर्वक बचना चाहिए और तथ्यों तथा तर्कों के आधार पर अपने निष्कर्षों को निरापद् स्थिति में रखना चाहिए। संशोधन के समय अन्तर्विरोधी कथनों को निकालना आवश्यक है।

अस्पष्टता या उलझन का दोष शोध की स्वच्छ, निर्विकार, शुद्ध, स्पष्ट प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल है। अभिव्यक्ति की अस्पष्टता का सीधा सम्बन्ध शोधक की मानसिक उलझन से है। जब शोधक स्वच्छ और स्थिर मानसिकता से तथ्यान्वेषण में प्रवृत्त नहीं हो पाता है, तो तथ्यों को सही परिप्रेक्ष्य में नहीं समझ पाता और भ्रान्त तथ्याख्यान के सहारे असंगत निर्णयों पर पहुँच जाता है। भाषिक स्तर की उलझन का स्रोत भी शोधक की मानसिकता ही है। अपनी चिन्तनशून्यता को आच्छादित करने के

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

लिए कई बार शोधक भारी-भरकम शब्दावली के प्रयोग से पाण्डित्य-प्रदर्शन में प्रवृत्त होता है और अपने पाण्डित्य की धाक जमाना चाहता है। किन्तु इससे शोध-बोध को क्षति पहुँचती है। शोधक को पुनरीक्षण के समय पाण्डित्य-प्रदर्शन और उलझन के स्थलों को निकाल देना चाहिए।

तथ्यों के रूप में प्रमाणों को तोड़-मरोड़कर रखना या फिर तथ्यों की परवाह न करते हुए मनमाने ढंग से अपने मन्तव्य प्रस्तुत करना अप्रामाणिकता-दोष है। प्रमाण के बिना ज्ञान की गति नहीं है। सच्चा शोधक तथ्यों की उपेक्षा नहीं कर सकता। अप्रामाणिक कथन मान्य नहीं हो सकते। शोधक को तथ्यों के सहारे तर्कों को आगे बढ़ाते हुए चिन्तन का पथ प्रशस्त करना चाहिए। पुनरीक्षण के समय सारे अप्रामाणिक कथनों को हटाना शोध-बोध के लिए हितकर है। पुनरीक्षण के समय आवश्यकतानुसार शोध-निर्देशक तथा अन्य किसी विशेषज्ञ की सहायता ली जा सकती है।

(3) शोध-प्रविधि से सम्बन्धित दोष

शोध-प्रविधि शोध और शोध-प्रबन्ध-लेखन का सैद्धान्तिक साँचा प्रस्तुत करती है। यह शोध का शास्त्रीय पक्ष उद्घाटित करती है। जो शोधक इस शास्त्रीय या सैद्धान्तिक साँचे को अपने चिन्तन में और अपने चिन्तन को सैद्धान्तिक साँचे में ढालने में समर्थ होते हैं, उनके लिए शोध-प्रविधि कोई बाहर से आरोपित व्यवस्था नहीं रहती, वरन् वह उनकी चेतना और चिन्तन का अविच्छिन्न अंग और अनुशासन बन जाती है। शोध-प्रविधि चिन्तनशील शोधक की प्रतिभा और चिन्तन से जुड़कर शोध-प्रबन्ध-रूपी अवयवी का अविभाज्य अवयव बन जाती है। शोध-प्रबन्ध शोध-प्रविधि के भीतर से अंकुरित और विकसित होता प्रतीत होता है और शोध-प्रविधि शोध-प्रबन्ध के विकसित होते हुए आकार के साथ एकाकार होती हुई प्रतीत होती है। यह आदर्श प्रतिभाशाली और सजग शोधकों के शोध-प्रबन्धों में ही सही रूप में चरितार्थ हो पाता है। शोध-प्रविधि एक अनुशासन है। जो शोधक इसे सक्रिय रूप में अपनाकर आत्मानुशासन बना लेते हैं, उनका शोध-पथ सहज रूप में प्रशस्त होता चलता है और शोध-प्रविधि उनके शोध-प्रबन्ध की आन्तरिक अन्विति और स्वरूपगत गठन के रूप में फलित होती है, किन्तु शीघ्र फल पाने की लालसा में लिप्त व्यावसायिक बुद्धि वाले अनेक तथाकथित शोधक शोध-प्रविधि को आत्मसात् करके आत्मानुशासन का रूप नहीं दे पाते। उनके लिए शोध-प्रविधि एक बाहर से आरोपित बन्धन ही बनी रहती है। वे एक औपचारिकता के रूप में इसके निर्वाह की सतही चेष्टा करते हैं। ऐसे शोधकों के शोध-प्रबन्धों में शोध-प्रविधि से सम्बन्धित अनेक

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विसंगतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। इन विसंगतियों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है - (अ) विषय-विवेचन से सम्बन्धित शोध-प्रविधि-सम्बन्धी विसंगतियाँ तथा (आ) सूचना-संयोजन-सम्बन्धी यान्त्रिक विसंगतियाँ। यहाँ इनका संक्षिप्त विवेचन प्रासंगिक है।

(अ) विषय-विवेचन से सम्बन्धित प्रविधिगत विसंगतियाँ : विषय के प्रतिपादन से सम्बद्ध होने के कारण ये विसंगतियाँ शोध-प्रबन्ध के पूर्णतः या आंशिक पुनर्लेखन से ही दूर की जा सकती हैं। ऐसी गम्भीर विसंगतियों में प्रमुख हैं - उलझी हुई, अव्यवस्थित रूपरेखा, असंगत उद्धरण, अवैज्ञानिक पादटिप्पणियाँ, चलताऊ उपसंहार।

रूपरेखा शोध-प्रबन्ध का आधारभूत योजना-सूत्र है। यदि रूपरेखा ही अव्यवस्थित है, तो विवेचन का अव्यवस्थित होना अवश्यम्भावी है। इस प्रकार की गम्भीर विसंगति का परिहार तो संशोधित रूपरेखा के आधार पर पूरे शोध-प्रबन्ध को नये सिरे से लिखकर ही किया जा सकता है। यदि एक या दो अध्याय में ही अव्यवस्था है, तो उसे आंशिक, पुनर्लेखन से दूर किया जा सकता है।

कई बार उद्धरण देने में अनेक विसंगतियाँ आ जाती हैं। कुछ शोधक लम्बे-लम्बे उद्धरणों से ही शोध-प्रबन्ध का कलेवर भर देते हैं और विवेचन से बचने का प्रयास करते हैं, क्योंकि तथ्याश्रित, तर्कसम्मत, लक्ष्यनिष्ठ विवेचन की उनमें क्षमता ही नहीं होती या अपेक्षित से कम होती है। उद्धरणों को प्रस्तुत करने में भी कई त्रुटियाँ रह जाती हैं, जिनका परिहार आवश्यक है। कई उद्धरणों पर सही ऊर्ध्वांक नहीं दिये जाते। अनेक उद्धरणों पर प्रारम्भ और अन्त में यथास्थान उद्धरण-चिह्न नहीं लगाये जाते। इन सब त्रुटियों का परिहार अपेक्षित है।

पादटिप्पणियों में एकरूपता का निर्वाह सर्वत्र आवश्यक है। कई शोधक तो लेखक के स्थान पर पहले पुस्तक का नाम लिखते हैं और फिर लेखक का नाम देकर पृष्ठ-संख्या लिखते हैं। इससे ऐसा लगता है कि पृष्ठ-संख्या पुस्तक की न होकर लेखक की है।

उपसंहार तो सारे शोध-प्रबन्ध की आत्मा या सार-तत्त्व है। इसे लिखते समय सर्वाधिक सजगता और सावधानी अपेक्षित है। कई शोधक चार-पाँच पृष्ठों में चलताऊ ढंग से उपसंहार लिख देते हैं। वे नहीं जानते कि सारे शोध-प्रबन्ध की मूल उपलब्धि तो उपसंहार ही है, जिसमें सारे अध्यायों का सार संचित होकर समग्र रूप में प्रस्तुत होता है। अतः कामचलाऊ उपसंहार के स्थान पर 20-30 पृष्ठों में पुनः तत्त्वपूर्ण उपसंहार लिखना चाहिए।

(आ) सूचना-संयोजन-सम्बन्धी विसंगतियाँ : सूचना-संयोजन-सम्बन्धी

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विसंगतियों में तीन प्रकार की त्रुटियाँ मुख्यतः परिगणित हैं – सदोष विषय-सूची, अव्यवस्थित-अधूरी सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची, क्रमहीन अनुक्रमणिका।

यों तो विषय-सूची रूपरेखा का ही अन्तिम संस्करण है, तथापि अनेक शोधक पूरी रूपरेखा के स्थान पर केवल अध्यायों का ही उल्लेख करते हैं। कुछ शोधक अध्यायों के अन्तर्गत समाहित खण्डों के शीर्षकों का तो उल्लेख कर देते हैं, किन्तु उपखण्डों के उपशीर्षकों का उल्लेख नहीं करते। वस्तुतः विषय-सूची खण्डों-उपखण्डों के शीर्षकों-उपशीर्षकों से युक्त होनी चाहिए और उसमें इन सबके आगे पृष्ठ-संख्याओं का भी विधिवत् उल्लेख होना चाहिए। यही आदर्श स्थिति है, जिसके आलोक में शोधक को अपनी विषय-सूची में वांछित संशोधन कर लेना चाहिए।

अधिकतर शोध-प्रबन्धों में दी गयी सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची अधूरी और अव्यवस्थित ही रहती है। अधिकतर शोधक पुस्तक और लेखक का नाम देकर ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। लेखक, पुस्तक, प्रकाशन और प्रकाशन के स्थान के नाम के साथ ही सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची में पुस्तक-प्रकाशन के सन् या संवत् का भी उल्लेख अपेक्षित है। पुस्तक-सूची का वर्गीकृत होना तथा लेखकों के नामों के अनुसार वर्णानुक्रम में व्यवस्थित होना भी आवश्यक है। इसी आदर्श के अनुसार शोधक को अपनी सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची की कमियाँ दूर कर लेनी चाहिए।

नामों और विषयों की अनुक्रमणिका का समावेश तो हिन्दी के शोध-प्रबन्धों में प्रायः होता ही नहीं है। इस दिशा में शोधकों को सजग और सचेष्ट होना चाहिए तथा अनुक्रमणिका को शब्दकोशीय क्रम के अनुसार वर्णानुक्रम में व्यवस्थित करना चाहिए।

(ख) परिष्कार

परिष्कार या संस्कार संशोधन का सकारात्मक पक्ष है, जो 'दोष-निवारण' नामक नकारात्मक पक्ष से ही उदित होता है। दोष-निवारण गुणोत्कर्षण की प्राथमिक आवश्यकता है। यदि शोधक की दृष्टि प्रारम्भ से ही सकारात्मकता के प्रति सजग और सक्रिय रहे तो नकारात्मक पक्षों से सहज ही बचा जा सकता है और शोध का शुद्ध स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। पहले प्रमादवश दोषों को आने देना, फिर उनको दूर करके गुणोत्कर्ष के स्वप्न को साकार करना दुष्कर है। सच तो यह है कि लेशमात्र भी प्रमाद न करने वाले सतत सजग शोधकों के शोध-प्रबन्धों में भी कहीं न कहीं त्रुटियाँ रह ही जाती हैं। अतः अपनी लिखित सामग्री को बार-बार पढ़ना और बार-बार सुधारना परिष्कार-प्रक्रिया का नैसर्गिक रूप है। दोषों को आने न देना, प्रयत्न

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

करने पर भी आ गये कतिपय दोषों को दूर करने तथा विवेचनगत और अभिव्यक्तिगत गुणों के उत्कर्ष की दिशा में सतत सजग एवं प्रयासरत रहने वाले मनस्वी शोधक निश्चय ही उच्च कोटि का शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करने में सफल होते हैं। इतना करने पर भी यदि कहीं टंकण अथवा लेखन की दो-चार छोटी-मोटी भूलें रह जाती हैं, तो परीक्षक उन्हें क्षम्य मान लेता है और प्रतिपादनगत गुणवत्ता की प्रशंसा में कोई कृपणता नहीं करता।

तथ्याश्रय, विषय-केन्द्रीयता, स्पष्टता, तर्कसंगति, अन्विति, भाषिक शुद्धता और आडम्बरहीनता, प्रामाणिकता, सुग्राह्यता आदि शोधगत परिष्कार के प्राप्य प्रतिमान हैं। तथ्यहीनता, विषयान्तर, विवेचनगत शिथिलता, असम्बद्धता, अप्रासंगिकता, दुर्बोधता, भ्रान्ति, तर्कहीनता, दुराग्रह, भाषिक प्रदूषण आदि दोषों से मुक्त रहना अथवा मुक्ति पाना सच्चे शोधक के लिए आवश्यक है। दोषों पर विजय पाना और गुणों का विकास करना ही सच्ची शोध-साधना है। यही संस्कार और परिष्कार की नकारात्मक-सकारात्मक प्रक्रिया है।



CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अध्याय – 13

मौखिकी

व्यक्त होने वाले को ही व्यक्ति कहा जाता है। व्यक्ति अपनी अभिव्यक्ति से ही पहचाना जाता है। तन, मन और आचरण – इन तीन शब्दों में पूरा व्यक्ति समाहित रहता है। मन ही तन को आचरण में संलग्न करता है। अतः मन ही अभिव्यक्ति का केन्द्रीय तत्त्व है। अभिव्यक्ति के मूल में व्यक्ति के भाव या विचार निहित रहते हैं। ये विचार ही आचार या व्यवहार का रूप लेते हैं। अतः अभिव्यक्ति के दो स्तर हैं – सूक्ष्म और वैचारिक तथा स्थूल और व्यावहारिक या आचारिक। शोध का सम्बन्ध चिन्तनगत या वैचारिक अभिव्यक्ति से है। यह चिन्तनगत अभिव्यक्ति भी दो प्रकार की है – लिखित तथा मौखिक। लिखित अभिव्यक्ति मुद्रित होकर सार्वकालिक और सार्वभौम रूप ग्रहण करती है। मौखिक अभिव्यक्ति तात्कालिक अथवा क्षणिक होती है, किन्तु अब वैज्ञानिक साधनों से टेप रिकार्डर आदि के द्वारा मौखिक अभिव्यक्ति को भी चिरकाल तक सुरक्षित रखा जा सकता है और दूरदर्शन, आकाशवाणी द्वारा इसे विश्वव्यापी रूप भी प्रदान किया जा सकता है। मौखिक और लिखित अभिव्यक्तियों में से कौन-सी अधिक मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण है – यह निर्णय करना दुष्कर है। वस्तुतः दोनों का अपना-अपना वैशिष्ट्य है। किन्तु यह निश्चित है कि मौखिक अभिव्यक्ति व्यक्ति के जीवनपर्यन्त सर्वत्र साथ रहती है और अपनी तात्कालिक छाप छोड़ती है। तनिक देर के वार्तालाप से ही दूसरों को वक्ता के स्वभाव और चिन्तनधारा का बोध हो जाता है और बोलने की शैली की प्रभाववत्ता का पता चल जाता है। लिखित सामग्री से लेखक के चिन्तन की गहराई का बोध तो हो जाता है, किन्तु

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उसकी मुख-मुद्रा, सुर-लहरी, उतार-चढ़ाव आदि का पता नहीं चलता। अतः मौखिक अभिव्यक्ति में वक्ता का व्यक्तित्व अधिक जीवन्त, स्वाभाविक और प्रत्यक्ष रूप में उभरकर प्रकट हो पाता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रत्यक्ष रूप में उजागर करने में मौखिक अभिव्यक्ति का विशेष योगदान है। प्राथमिक एवं प्रत्यक्ष प्रभाव तो मौखिक अभिव्यक्ति का ही पड़ता है। हाँ, प्रभाव का स्थायित्व लिखित सामग्री में सुरक्षित रहने की अधिक सम्भावना रहती है।

शोध-प्रबन्ध शोधक की वैचारिक अभिव्यक्ति का लिखित रूप है। शोध-प्रबन्ध-परीक्षक प्रबन्ध के गुण-दोषों के पर्यालोचन और आकलन के आधार पर उसे स्वीकृत भी कर सकते हैं, उसे पुनरीक्षण या पुनर्शोधन के लिए भी लौटा सकते हैं तथा गम्भीर दोष पाये जाने पर अस्वीकृत भी कर सकते हैं। परीक्षकों की अनुकूल टिप्पणियाँ प्राप्त होने पर विश्वविद्यालय की परीक्षा-शाखा द्वारा शोधक को निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार मौखिक परीक्षा या मौखिकी के लिए आमन्त्रित किया जाता है। जब तक मौखिकी सम्पन्न न हो, शोधक को शोध-उपाधि प्रदान नहीं की जा सकती। स्पष्ट है कि यह मौखिक परीक्षा शोध-प्रबन्ध-लेखन के सामन ही महत्त्वपूर्ण है। यह लिखित परीक्षण की पूरक है। मौखिक परीक्षा से यह पता चलता है कि शोध-प्रबन्ध लेखक अपने शोध-विषय में व्यक्तिगत स्तर पर कितनी रुचि और पैठ रखता है। शोध-प्रबन्ध-लेखन से शोधक का व्यक्तित्व सम्पन्नतर, प्रखरतर और प्रौढ़तर हुआ है या नहीं? शोध-कार्य की सफलता शोधक के व्यक्तित्व में उद्भासित और चरितार्थ होनी चाहिए। शोध-कार्य का लक्ष्य ही है शोधक के व्यक्तित्व को ज्ञान-गरिमा से मण्डित करके उसमें अधिक से अधिक आत्मविश्वास जगाना। ज्ञान की दीप्ति से भाषा में भी भास्वरता आती है और अभिव्यक्ति के माध्यम से व्यक्ति का स्तर समुन्नत होता है। शोधक के व्यक्तित्व का विकास उसके मौखिक वक्तव्यों में अधिक सजीव एवं विश्वसनीय रूप में व्यक्त होता है। शोध-बोध शोधक के व्यक्तित्व के समुत्थान में सहायक हुआ है या नहीं - यह जानना ही मौखिकी का प्रमुख लक्ष्य है।

मौखिकी का एक आनुषंगिक लक्ष्ग भी है। मौखिकी से परीक्षक या परीक्षकों को यह पता चल जाता हैं कि शोध-प्रबन्ध सचमुच शोधक के द्वारा ही लिखा गया है। शोध-प्रबन्ध शोधक के स्थान पर किसी अन्य के द्वारा भी लिखा जा सकता है - इस आशंका को निर्मूल करने के लिए आवश्यक है कि परीक्षकों की नियुक्ति में शोध-निर्देशक की कोई भूमिका नहीं होनी चाहिए। जब तक परीक्षकों की नियुक्ति के स्वरूप में अपेक्षित सुधार न किया जायेगा, विसंगतियों की आशंकाएँ बनी रहेंगी।

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

13.1. मौखिकी की तैयारी

यों तो मौखिकी की तैयारी भी उसी दिन से प्रारम्भ हो जाती है, जिस दिन से शोध-प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। किसी भी प्रकार की परीक्षा की तात्कालिक तैयारी की पृष्ठभूमि में पूरे जीवन की संचित साधना का फल निहित रहता है। जो शोधक शोध-कार्य के प्रति पूरी निष्ठा और सच्ची साधना के साथ समर्पित रहते हैं और प्रारम्भ से ही सारे शोध-बोध को आत्मसात् करते हुए अपने व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बनाते चलते हैं, उनके लिए यह मौखिकी कोई आतंक या 'हौवा' बन कर नहीं उपस्थित होती। जिन्होंने विषय को प्रारम्भ से ही आत्मसात् नहीं किया है और शोध-प्रबन्ध-लेखन को एक उपाधि-प्राप्ति का साधनमात्र मानकर जैसे-तैसे शोध-प्रबन्ध पूरा करने की औपचारिकता निभा दी है, वे हड़बड़ी में चाहे जितनी तात्कालिक तैयारी कर लें, आश्वस्त और निश्चिन्त नहीं हो सकते और परीक्षा के समय उनके सतही ज्ञान की पोल खुले बिना नहीं रह सकती। तात्कालिक तैयारी भी उन्हीं शोधकों की फलवती होती है, जो निरन्तर अपने विषय के साथ तदाकार होकर समर्पित भाव से साधनारत रहते हैं।

मौखिक परीक्षा की तैयारी का अर्थ है शोध-प्रबन्ध और मस्तिष्क का एकीकरण। शोध-प्रबन्ध सार-रूप में मस्तिष्क में समा जाये तो समझिए कि तैयारी ठीक हो गयी है। किन्तु यह कार्य इतना सरल नहीं है। शोध-प्रबन्ध के आत्मसातीकरण की पद्धति वही है जो शोध-प्रबन्ध के लेखन की है। जिस प्रकार एक-एक अध्याय करके पूरा शोध-प्रबन्ध लिखा जाता है, उसी प्रकार एक-एक अध्याय के क्रम से पूरे शोध-प्रबन्ध को आत्मसात् किया जा सकता है। इसके लिए एक छोटी डायरी की आवश्यकता है। डायरी में क्रमशः प्रत्येक अध्याय के प्रमुख खण्डों के प्रमुखतम तथ्यों और उनके मन्थन से प्राप्त निष्कर्षों को अंकित कर लेना चाहिए। प्रत्येक अध्याय की सारभूत सामग्री चार-पाँच पृष्ठों में अंकित कर लेनी चाहिए। इस प्रकार पूरा शोध-प्रबन्ध डायरी के चालीस-पचास पृष्ठों में सिमट जाएगा। कुछ दिन तक इन पृष्ठों का चिन्तन और मनन करने के उपरान्त फिर इनका भी अध्याय-क्रम से दस-बारह पृष्ठों में सार अंकित कर लेना चाहिए। यह ज्ञान की परिधि को सूक्ष्मीकरण की प्रक्रिया द्वारा केन्द्र में समेटने की चेष्टा है। ज्ञान में विस्तार भी होता है और गहराई भी, स्थूल तथ्यात्मकता भी होती है और सूक्ष्म वैचारिकता भी। चुने हुए केन्द्रीय तथ्यों और उनसे सम्बद्ध विचारों या निष्कर्षों को चेतना में गहराई से उतार लेना ही मौखिकी की वास्तविक तैयारी है। शोधक को केवल विचार-बिन्दु या निष्कर्ष ही मस्तिष्क में नहीं बैठाने हैं, वरन् उनके प्रेरक और पोषक तथ्यों को भी चेतना में उतारना अनिवार्य है। बिना तथ्यों के विचारों की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती। सार-संचय की

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उपर्युक्त प्रक्रिया 'उपसंहार' के बहुत निकट होते हुए भी उद्देश्य की दृष्टि से उससे किंचित् भिन्न है। हाँ, 'उपसंहार' से 'सार-संचय' में भारी सहायता मिल जाती है। किन्तु फिर भी अध्यायों का अवलोकन अनिवार्य है।

वास्तविक तैयारी तो तब होती है जब सभी अध्यायों का अलग-अलग सार चेतना में उतर जाये तथा साथ ही सारे शोध-प्रबन्ध का समन्वित सार या 'उपसंहार' भी मस्तिष्क में समा जाए। शोधक को एकान्त में बैठकर या घूम-घूम कर प्रत्येक अध्याय के सार का भी चिन्तन करना चाहिए तथा समग्र सार का भी चिन्तन-अनुचिन्तन करना चाहिए। आत्मसातीकरण की यह प्रक्रिया जितनी सघन होती चलती है, शोधक का आत्मविश्वास उतना बढ़ता चला जाता है। बोध और वाणी एकाकार होने लगते हैं और अभिव्यक्ति सारवान् और प्रभावशाली रूप लेती चलती है। शोधक स्वयं से संवाद स्थापित करते हुए यदि स्वयं ही परीक्षक की भूमिका में उतर कर विभिन्न प्रश्न करता चले और स्वयं ही परीक्षार्थी के रूप में उत्तर देता चले तो तैयारी अपने चरम स्तर पर पहुँच जाती है। इससे अपनी सीमाओं का भी बोध हो जाता है और अपनी शक्ति का भी। सीमा-बोध से सीमाओं पर विजय पाने की प्रेरणा मिलती है। इस प्रकार पूरा चिन्तन-मनन एक सर्वांगीण प्रश्नावली और एक सर्वसमावेशी उत्तरमाला में परिणत होकर चेतना में समा जाता है। प्रश्नोत्तरी पर विचार करते-करते बीच-बीच में डायरी या मूल शोध-प्रबन्ध का सहारा लेने की भी आवश्यकता पड़ सकती है।

प्रत्येक विचार या निष्कर्ष से जुड़े दो-तीन तथ्यनिरूपक उद्धरणों को स्मरण रखना आवश्यक है। कविता से सम्बद्ध विषयों के सन्दर्भ में उद्धरण अपनी छन्दोबद्धता और गेयता के कारण सरलता से याद हो जाते हैं, किन्तु गद्य सम्बन्धी विषयों के उद्धरण याद करना कठिन होता है। शोधक को चाहिए कि वह अति महत्त्वपूर्ण तत्त्वों के बोधक तथ्यों से सम्बन्धित उद्धरणों को तो मूल रूप में स्मरण कर ले तथा शेष का अर्थ, आशय या सार स्मृति में सुरक्षित रखे। पात्रों, प्रसंगों के उल्लेख द्वारा भी अपने मन्तव्यों की पुष्टि की जा सकती है। अतः कथा-साहित्य से सम्बद्ध विषयों के शोध-प्रबन्धों के सम्बन्ध में मौखिकी की तैयारी करते समय कथानक के सूक्ष्म और महत्त्वपूर्ण प्रसंगों तथा सम्बन्धित पात्रों, उन पात्रों की वाचिक और व्यावहारिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं को ध्यान में रखना आवश्यक है।

तैयारी का व्यावहारिक प्रशिक्षण प्राप्त करने के उद्देश्य से शोधक अपने शोध-निर्देशक से परीक्षक की भूमिका निभाने का अनुरोध कर सकता है और स्वयं परीक्षार्थी के रूप में प्रस्तुत हो सकता है। इस प्रकार आयोजित मौखिकी से कई लाभ हो सकते हैं। शोधक को अपनी कमियों को दूर करने का अवसर मिलेगा तथा अपनी क्षमताओं

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

का बोध होने से अपेक्षित आत्मविश्वास का उदय होगा। शोध-निर्देशक को भी विषय प्रस्तुति और भाषा के सम्बन्ध में कई मूल्यवान् सुझाव देने का अवसर मिलेगा।

कुछ विश्वविद्यालयों में तो वास्तविक मौखिकी से पूर्व विभागीय स्तर पर प्रकारान्तर से मौखिकी की तैयारी की व्यवस्था रहती है। प्रत्येक शोधक, जिसने शोध-प्रबन्ध परीक्षार्थ प्रस्तुत कर दिया है, निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार विभागीय अध्यापकों और छात्रों के समक्ष अपने शोध-प्रबन्ध के सम्बन्ध में एक शोध-पत्र का वाचन करता है तथा बाद में उठाये गये विभिन्न प्रश्नों के उत्तर देता है। अध्यक्षीय सुझावों के अतिरिक्त कुछ अध्यापकों की प्रेरक और उद्बोधक टिप्पणियों से शोधक को लाभान्वित होने का इस आयोजन से उत्तम अवसर मिलता है। चर्चा-परिचर्चा से निश्चय ही अनेक भ्रान्तियों का निराकरण होता है और चिन्तन में उत्तरोत्तर स्पष्टता आती है।

विषय की तैयारी के साथ ही शोधक को स्वयं को मानसिक दृष्टि से भी तैयार करना होता है। परीक्षक द्वारा अप्रत्याशित प्रश्न पूछे जाने पर विचलित होना या प्रतिकूल टिप्पणी किये जाने पर भीतर-ही-भीतर विक्षुब्ध होना ऐसी मनोदशाएँ हैं, जो मौखिकी के स्वरूप को प्रभावित कर सकती हैं। शोधक को गीता के स्थितप्रज्ञ की भाँति सहज और संयत रह कर विषमताओं को सहर्ष झेलने की क्षमता विकसित करनी चाहिए। वास्तव में, शोध-दृष्टि एक वस्तुनिष्ठ, वैज्ञानिक दृष्टि है, जो शोधक को सन्तुलन, संयम, अनुशासन के साथ ही चित्तवृतियों के नियन्त्रण की प्रेरणा और प्रशिक्षण प्रदान करती है। यह निस्संग दृष्टि केवल 'मौखिकी' के अवसर पर ही वांछित नहीं है, वरन् जीवन की परीक्षाशाला में भी सदैव उपादेय और अपेक्षित है।

13.2. मौखिकी : व्यावहारिक पक्ष

मौखिकी शोधक के शोध-बोध की मौखिक परीक्षा है, जिसमें उसके शोध-विषयक ज्ञान का मूल्यांकन किया जाता है। इसे अंग्रेज़ी में वायवा-वोसि (viva-voce) कहा जाता है। यदि शोध-प्रबन्ध-प्रस्तुति लिखित परीक्षा है तो मौखिकी उसी शोध-विषय के सम्बन्ध में मौखिक परीक्षा है। 'लिखित' के विपरीत अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए इसे 'मौखिक' कहा गया है, अन्यथा यह एक प्रकार का साक्षात्कार ही है।

अन्य साक्षात्कारों की भाँति मौखिकी में भी आद्योपान्त परीक्षार्थी का आत्मविश्वास व्यक्त होना चाहिए। अच्छी तैयारी के माध्यम से किया गया विषय का सम्यक् आत्मसातीकरण शोधक में आत्मविश्वास भर देता है। शोधक की चाल-ढाल, मुख-

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मुद्रा, कक्ष में प्रवेश करने, अभिवादन करने, कुर्सी पर बैठने आदि सभी गतिविधियों से सहज रूप में आत्मविश्वास की व्यंजना होनी चाहिए।

शालीनता, शिष्टाचार, विनम्रता, सौम्यता आदि गुण शोधक के व्यक्तित्व को सुशोभित करते हैं और ज्ञान को गरिमा प्रदान करते हैं। वस्तुतः ये गुण ज्ञान या विद्या से प्रसूत और पोषित भी होते हैं। कहा भी गया है – 'विद्या ददाति विनयम्'। अतः शोधक को समग्र संवाद में शालीनता और मर्यादा का अवश्य निर्वाह करना चाहिए। अपनी स्थापनाओं और उपलब्धियों के विषय में प्रश्न पूछे जाने पर अपनी मूल मान्यताओं को संयत रूप में अवश्य रेखांकित करना चाहिए, किन्तु आत्मश्लाघा के स्तर तक नहीं।

प्रश्नों के उत्तर देते समय वाणी से धैर्य, संयम, आत्मविश्वास प्रकट होना चाहिए। वाणी के विन्यास में किसी प्रकार के तनाव, भावावेश या आक्रोश को लक्षित करने वाले नाटकीय आरोह-अवरोह या चढ़ाव-उतार की आवश्यकता नहीं है। शुद्ध तथ्यात्मक ज्ञान की भाषा अभिधात्मक, पारिभाषिक या तकनीकी होती है। अतः विवेचन के शास्त्रीय स्तर को शुद्ध गद्य के स्तरीय स्वरूप द्वारा सुरक्षित रखना चाहिए।

प्रश्नों के उत्तर तथ्यपूर्ण और तत्त्वपूर्ण होने चाहिए। केवल विचार या निष्कर्ष देने से काम नहीं चलेगा। विचारों की पुष्टि के लिए तथ्यात्मक उद्धरण भी देने की आवश्यकता है। इससे ज्ञान प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत होकर अधिक विश्वसनीय और तृप्तिदायक हो जाता है। उद्धरणों से अभिव्यक्ति भी अधिक सप्राण और प्रभावी रूप ग्रहण कर लेती है। यदि किसी विचार-बिन्दु की पुष्टि के लिए अनेक उद्धरण याद हैं, तो सारे उद्धरणों को लगातार प्रस्तुत करते चलने की आवश्यकता नहीं है। कई बार पाण्डित्य-प्रदर्शन के आवेश में ऐसा हो जाता है। वास्तव में, दो-तीन प्रमुख उद्धरण ही पर्याप्त होते हैं।

यदि कोई प्रश्न स्पष्ट नहीं है, तो परीक्षक से उसके स्पष्टीकरण के लिए सविनय अनुरोध करना सर्वथा उचित है। अस्पष्ट प्रश्न का अस्पष्ट उत्तर देना उचित नहीं है। इससे समूचे विवेचन का स्तर गिरता है।

शोधक के द्वारा शोध-विषय की परिधि के भीतर पड़ने वाले प्रश्न ही पूछे जाने चाहिए। कई बार परीक्षक अपनी विद्वत्ता की छाप छोड़ने के व्यामोह में पड़कर विषय-सीमा से बाहर के प्रश्न पूछने लगता है। ऐसे प्रश्नों के उलटे-सीधे उत्तर देने का प्रयास ठीक नहीं है। इससे ज्ञान की हानि होती है। अच्छा यही है कि विनम्रतापूर्वक परीक्षक से निवेदन कर दिया जाए कि ये प्रश्न शोध-विषय से सम्बद्ध नहीं हैं। यह कार्य वहाँ उपस्थित शोध-निर्देशक द्वारा किया जाए तो और भी उचित हो।

यदि किसी प्रश्न का उत्तर न सूझ रहा हो, तो निराधार और अस्पष्ट उत्तर देने

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

की अपेक्षा शोधक को मुक्त हृदय से यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि इस प्रश्न का उत्तर उसे नहीं आता। भ्रम और सन्देह की अपेक्षा अज्ञान की स्थिति अधिक निरापद् है। भ्रान्त और सन्देहग्रस्त व्यक्ति अपने अज्ञान को स्वीकारने वाले व्यक्ति की अपेक्षा ज्ञान से अधिक दूर है।

यदि शोधक से अपने अध्ययन का सार संक्षिप्त भाषण के रूप में प्रस्तुत करने के लिए कहा जाए, तो इसे अपने शोध-प्रबन्ध के 'उपसंहार' में समाहित विचार बिन्दुओं को सुसम्बद्ध रूप में प्रस्तुत कर देना चाहिए। विचार जितने सुगुम्फित और व्यवस्थित होंगे भाषण उतना ही प्रभावशाली होगा। भाषण को संक्षिप्त ही रखें। लम्बा खींचने से शिथिलता भी आयेगी और नीरसता भी।

मौखिकी के समय शोधक को मानसिक सन्तुलन सदैव बनाये रखना चाहिए। परीक्षक द्वारा बीच-बीच में रोक-टोक किये जाने की स्थिति को सहज सौमनस्य के साथ झेल जाना चाहिए तथा इस पर कोई प्रतिक्रिया नहीं करनी चाहिए।

जहाँ तक सम्भव हो, मतभेद की स्थिति न आने दें, किन्तु यदि ऐसी स्थिति आ ही जाए तो अपना मन्तव्य तथ्यों और तर्कों के साथ प्रामाणिक रूप में विनम्रतापूर्वक रखने में कोई संकोच नहीं करना चाहिए तथा उसे मानने या न मानने की बात परीक्षक पर ही छोड़ देनी चाहिए। अपनी बात मनवाने के लिए अड़ना या लड़ना नहीं चाहिए। प्रामाणिकता के साथ स्वमन्तव्य रखने तक ही शोधक का कर्त्तव्य सीमित है। उसे मानना या न मानना परीक्षक का कार्य है। वैसे विवेकी परीक्षक सही तर्क-पद्धति के सामने झुक कर और शोधक को साधुवाद देकर अपनी गरिमा का परिचय देने में देरी नहीं करते।

यदि प्रश्न किसी तथ्य पर केन्द्रित है तो शोधक को तथ्य की तर्कसंगत वैचारिक विवेचना प्रस्तुत करनी चाहिए और यदि प्रश्न विचार-केन्द्रित है, तो उसकी विवेचना तथ्य या तथ्यों के प्रमाण-पुष्ट आधार पर युक्ति-संगत रूप में करनी चाहिए। उत्तर प्रश्न की अपेक्षा के अनुरूप सुग्राह्य और संतुष्टिकारक होने चाहिए। उत्तर न आवश्कयता से अधिक संक्षिप्त होने चाहिए और न ही अपेक्षा से अधिक लम्बे।

शोध-केन्द्रित संवाद में शोधक के उत्तरों की भाषा वस्तुनिष्ठ, अभिधात्मक और पारिभाषिक होनी चाहिए। शास्त्रीय विवेचन में ललित, आलंकारिक, बिम्बधर्मी, प्रतीकात्मक, लाक्षणिक भाषा सर्वथा अनुपयुक्त है। अतः ललित भाषा से विमुख रहकर सतर्कतापूर्वक तथ्यनिरूपक और तत्त्वबोधक गद्य का प्रयोग करना ही उपयुक्त है।

यदि मौखिकी के बीच-बीच में या अन्त में परीक्षक कुछ सुझाव दे तो उनका स्वागत करना चाहिए। उन्हें अपने शोधकार्य पर कोई प्रतिकूल टिप्पणी नहीं मानना

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

चाहिए। प्रत्येक प्रयत्न की कुछ सीमाएँ तो रहती ही हैं। ये सुझाव उन सीमाओं के परिहार की दिशा में संकेत करते हैं। सुधार की दृष्टि देने के कारण ये सुझाव शिरोधार्य हैं। इनके लिए शोधक को कृतज्ञता ज्ञापित करनी चाहिए।



CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha



डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा

जन्म : 5 जनवरी, 1934 ई॰

शिक्षा: एम.ए., पी-एच॰ डी॰ (संस्कृत),
एम.ए., पी-एच॰ डी॰, डी॰लिट्॰ (हिन्दी)

पद : पूर्व प्रोफेसर तथा अध्यक्ष हिन्दी-विभाग,
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

सम्मान: हरियाणा साहित्य अकादमी के शिखर-सम्मान
'सूर-पुरस्कार' से सम्मानित।

शोध-समालोचना :

1. [illegible] में रोमाण्टिक प्रवृत्ति (शो॰प्र॰)
2. अन्धायुग: एक विवेचन (पुरस्कृत)
3. नयी [illegible] के [illegible]-काव्य (शो॰प्र॰)
4. [illegible] विज्ञान और मनोविज्ञान [illegible]
5. [illegible] में [illegible], भक्ति और दर्शन
6. [illegible] चिन्तन के नये आयाम
7. [illegible]
8. [illegible] साहित्य का आदिकाल
9. [illegible] और [illegible]
10. [illegible] दिशाएँ
11. [illegible]-साहित्य के सांस्कृतिक आयाम (शो॰प्र॰)
12. [illegible]
13. भारतीय काव्यशास्त्र
14. शोध-प्रविधि

सृजनात्मक कृतियाँ :

1. नयी पीढ़ी नये स्वर (अ[illegible])
2. चमचा-पुराण (हास्य-व्यंग्य)
3. सूरज नहीं बुझेगा (कविता)
4. चिट्ठी मिस स्वीटी की (हास्य-व्यंग्य)
5. डॉक्टर डमरूगोपाल (पुरस्कृत उपन्यास)
6. संकल्पों के स्वर (कविता)
7. पवनपुत्र की पूँछ (पुरस्कृत उपन्यास)
8. छक्के पर छक्के (व्यंग्य-कविता)
9. सुगन्धि के स्वर (कविता)
10. संस्कृति के आलोक-शिखर (कविता)
11. ये आजादी के दीवाने (रेडियो-संगीत-रूपक)

सम्पादित पुस्तकें :

विविध विधाओं की सात पुस्तकें सम्पादित।

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अकादमी के विश्वविद्यालय स्तरीय लोकप्रिय प्रकाशन

क्रम	पुस्तक	लेखक	मूल्य
1.	निर्देशन ओर परामर्श (प्रथम संस्करण)	डॉ. सत्य [illegible]	100.00
2.	गृह-विज्ञान शिक्षण (पंचम संस्करण)	एस.पी. सु[illegible] पी.पी. मल्हौत्रा	110.00
3.	विज्ञान शिक्षण (छठा संस्करण)	डी.एस. निगम	140.00
4.	लोक सम्पर्क (छठा संस्करण)	राजेन्द्र	150.00
5.	उच्च शैक्षिक प्रशासन (द्वितीय संस्करण)	एल.डी. गुप्ता	100.00
6.	शिक्षा का अर्थशास्त्र (द्वितीय संस्करण)	डॉ. सुशील जिन्दल	80.00
7.	शिक्षा की सांख्यिकी	डॉ. यशपाल अग्रवाल	80.00
8.	संस्कृत शिक्षण (तृतीय संस्करण)	डॉ. रघुनाथ सफाया	200.00
9.	संवाद और संवाददाता (पंचम संस्करण)	राजेन्द्र	100.00
10.	जनसंचार (चतुर्थ संस्करण)	सं. राधेश्याम शर्मा	110.00
11.	विकास पत्रकारिता (द्वितीय संस्करण)	राधेश्याम शर्मा	50.00
12.	विज्ञापन (चतुर्थ संस्करण)	अशोक महाजन	75.00
13.	खेल पत्रकारिता (द्वितीय संस्करण)	हरबंस सिंह	105.00
14.	ग्रामीण क्षेत्र की पत्रकारिता	डॉ. रेणुका नैयर	100.00
15.	सूचना प्रौद्योगिकी एवं पत्रकारिता	अशोक मलिक	100.00
16.	टेलीविजन पत्रकारिता	श्री ओमकार चौधरी	100.00
17.	हिन्दी पत्रकारिता: स्वरूप और आयाम	राधेश्याम शर्मा	130.00
18.	पत्रकारिता का बदलता स्वरूप	डॉ. महासिंह पूनिया	160.00
19.	फोटो पत्रकारिता	सुभाष सप्रू	100.00
20.	हिन्दी पत्रकारिता के विकास में	डॉ. केशवानन्द ममगाई	160.00
21.	हरियाणा की देन (द्वितीय संस्करण)		
22.	खोजी पत्रकारिता	ओमकार चौधरी	120.00
23.	सांस्कृतिक पत्रकारिता	डॉ. टी.डी.एस.आलोक	100.00
24.	मीडिया शोध (द्वितीय संस्करण)	डॉ. मनोज दयाल	140.00
25.	चौथे स्तम्भ की चुनौतियाँ	डॉ. चन्द्र शिक्षा डॉ. लालचन्द गुप्त	140.00



हरियाणा साहित्य अकादमी
अकादमी भवन, पी-16, सेक्टर 14, पंचकूला-134113
ई-मेल : director_hsa@yahoo.com
दूरभाष: 0172-2565521, 2581807

CC0. Vasishtha Tripathi Collection. By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha